卐 अर्हं 卐

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।

हिन्दी विवेचन विभूषित स्याद्वादकल्पलताव्याख्यालंकृत

१४४४ ग्रन्थप्रणेतृ–बहुमुखप्रतिभासम्पन्न–तर्कसम्राट्

जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी विरचित

卐 शास्त्रवार्त्तासमुच्चय 卐

स्तबक–५-६

[बौद्धमत समीक्षा]

व्याख्याग्रन्थ रचयिता :—

न्यायविशारद-न्यायाचार्य–महामहोपाध्याय श्री यशोविजय गणिवर्य

卐

अभिवीक्षणकार :—

उग्र तपस्वी, न्यायदर्शनतत्त्वज्ञ धर्मसंरक्षक जैनाचार्य श्रीमद् विजय

भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

卐

हिन्दी विवेचनकार :—

षड्दर्शनविशारद पंडितराज न्याय-वेदान्ताचार्य

श्री बदरीनाथ शुक्ल

भूतपूर्व कुलपति

संपूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय, बनारस (यू. पी.)

卐

प्रकाशक :—

दिव्य दर्शन ट्रस्ट

६८, गुलालवाडी, बम्बई–४००००४

प्रस्तावना

जगत् में अनेक धर्म हैं और सभी धर्म के प्रस्थापक अपने धार्मिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये तर्क और प्रमाण की बातें करते हैं। सभी के सिद्धान्त भिन्न भिन्न होते हैं तथा उनके समर्थक, तर्क-दृष्टान्त आदि भी अलग अलग होते हैं। सब अपने अपने दृष्टिकोण से बात करते हैं। वाद और प्रतिवाद एवं चर्चा का कभी अन्त नहीं आता। सत्य के जो जिज्ञासु एवं उपासक होते हैं वे भी मतिमंदता के कारण उन वाद-विवादों के बाद भी सम्यक् निर्णय कभी कभी नहीं कर पाते। आचार्यवर्य श्री हरिभद्रसूरि महाराज तत्त्व का यथार्थ निर्णय करने में करुणा बुद्धि से सहाय करने के लिये शास्त्रवार्त्ता समुच्चय ग्रन्थ रचना में प्रवृत्त हुए।

इस ग्रन्थराज में उन्होंने अपने काल तक विद्यमान प्रायः सभी दर्शनशास्त्रों के सिद्धान्तों, उनके पक्ष और प्रतिपक्ष को मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया है। न इसमें उन्होंने कोई कदाग्रह रखा है, न किसी के प्रति दुर्भाव व्यक्त किया है, केवल शुद्ध बुद्धि से-सत्य और तथ्य क्या है इस दिशा में अंगुलिनिर्देश कर रखा है। चौथे स्तबक में बौद्धमत के पक्ष और प्रतिपक्ष का निरूपण किया है। स्तबक ५ और छः में भी बौद्धमतवार्त्ता ही प्रवाहित है। महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजय महाराज ने अपनी व्याख्या स्याद्वादकल्पलता में मूल के अंतर्निहित आशय को अच्छे ढंग से उद्भासित किया है।

मंगलाचरण के बाद पांचवे स्तबक में विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्धमत का प्रतिक्षेप करते हुए यह कहा गया है कि बाह्यार्थ के अभाव का साधक कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि बौद्धमत में प्रत्यक्ष तो अभाव का स्पर्श ही नहीं करता और अनुमान के लिये कोई सम्यक् लिंग नहीं है। अनुपलब्धि से अभाव की उपलब्धि शक्य तभी होती है जब प्रतियोगि से भिन्न उसके उपलम्भक हेतुओं का सद्भाव रहे, उनके रहते हुए बाह्यार्थ का सर्वथा त्रैकालिक अभाव सिद्ध होना दुष्कर ही है, क्योंकि जो अर्थ उपलब्धिलक्षण प्राप्त होता है उसकी उनके उपलम्भक हेतुओं से उपलब्धि होती ही है।

इस प्रसंग में व्याख्याकार ने उपलब्धियोग्यता का भिन्न भिन्न निर्वचन विस्तृत चर्चा के साथ प्रस्तुत किया है। [दे० पृष्ठ ८ से २७] इसमें उदयनाचार्य और चिन्तामणिकार के निर्वचनों का प्रतिवाद किया गया है। अंत में, बौद्ध की ओर से प्रस्थापित अभावाकार ज्ञान में तत्तत्कुर्वद्रूपसमन्तर-प्रत्यय की हेतुता का व्याख्याकार ने निराकरण कर दिया है।

तदनन्तर, प्रत्यक्षत्व को हेतु बना कर 'घटादि ज्ञानभिन्न नहीं है' ऐसा जो अनुमान बौद्ध ने प्रस्तुत किया है [दे० पृष्ठ २८ से ४२], उसकी विस्तृत समीक्षा में उत्तर पक्ष में यह कहा गया है कि विज्ञान की स्वसंवेद्यता अर्थग्रहण के साथ संलग्न ही है, अतः बाह्यार्थ सिद्ध हो जाता है। [दे० पृष्ठ ४३ से ५७]। इसमें बौद्ध की सहोपलम्भ नियम की युक्ति का निराकरण, कर्म-कर्तृ-

भाव प्रतीति का समर्थन, प्रत्यभिज्ञा से पूर्वोत्तर दृष्ट वस्तु के एकत्व की उत्पत्ति, सुखादि और ज्ञान के अभेदवाद का खण्डन इत्यादि द्रष्टव्य है ।

पुनः बाह्यार्थसिद्धि में, 'मैं घट को जानता हूं' यह प्रतीति, घटादि में प्रवृत्ति, उसकी प्राप्ति, उससे साध्य अर्थक्रिया का योग, स्मृति और कौतुकभाव ये छः हेतु [का० १३ में] का उपन्यास किया है । विपक्ष में यह दोष दिखाया है कि [का० १४] जगत् को ज्ञानमात्ररूप मानने पर लौकिक और शास्त्रीय सभी प्रकार की प्रवृत्ति का उच्छेद हो जाएगा । का० १५ में यह प्रश्न किया है कि सन्तानान्तर वृत्ति ज्ञान और अर्थ दोनों में विज्ञानान्तर से असंवेदनादि तुल्य होने से केवल बाह्यार्थ का प्रद्वेष क्यों ?

अर्थ के ऊपर जैसे विविध विकल्प लगा कर उसकी असत्ता दिखायी जाती है, ज्ञान के लिये भी वैसे विकल्प सावकाश हैं–का० १७ और १८ से ज्ञान के ऊपर ग्राह्यस्वभावता, ग्राहकस्वभावता, उभयस्वभावता और अनुभयस्वभावता ये चार विकल्प ऊठाकर व्याख्याकार ने कुशलता से उनका निराकरण किया है । इसमें बौद्धवादी देवेन्द्र के चित्रज्ञानवाद की समालोचना की गयी है, [दे० पृष्ठ ६७ से ७४] तदनन्तर पुनः बौद्ध ने विज्ञानमात्र की सिद्धि के लिये यह युक्ति लडाई है कि विज्ञान एकमात्र प्रकाशस्वभाव और अकर्मक है, अतः स्व प्रकाश होने से वह अद्वय है । शयनादि क्रिया जैसे अकर्मक होती है वैसे ज्ञानक्रिया भी अकर्मक ही है फिर भी उसका सकर्मक प्रयोग होता है वह वासना मूलक है । इस युक्ति के विरुद्ध ग्रन्थकार का यह सुझाव है कि उक्त मत में कोई प्रमाण है या नहीं यह स्वयं ही सोचिये । यदि ज्ञान अकर्मक ही होगा तो जैसे शयनादि क्रिया स्वप्रकाशक नहीं होती उसी प्रकार ज्ञान भी अपना प्रकाश नहीं कर पायेगा । यदि उसे स्वप्रकाश ही मानना है तो अकर्मकता कैसे होगी ? अन्य ज्ञान से भी उसकी स्वप्रकाशता तभी सिद्ध हो सकती है यदि उस दूसरे ज्ञान को सकर्मक माना जाय, अन्यथा नहीं । २८ वीं कारिका तक अकर्मकत्व का निराकरण करके २९ वीं कारिका से ३८ कारिका तक विज्ञानवाद में संसार-मोक्ष के अविशेष हो जाने की आपत्ति का प्रस्थापन करके उपसंहार में यह कहा गया है कि विज्ञानवाद युक्तियुक्त न होने से उसमें प्राज्ञ पुरुषों का अभिनिवेश नहीं होना चाहिए ।

[स्तवक ६ का अभिधेय]

मंगलाचरण के बाद व्याख्याकार ने बौद्ध प्रयुक्त नाशहेतुअयोग आदि चार हेतु (दे० स्तबक ४-२] की समीक्षा का मूल कारिका के आधार पर प्रारम्भ किया है । यहां १ से २३ कारिका में नाशहेतु अयोग का, कारिका २४ से ३० तक अर्थक्रियासमर्थत्व द्वितीय हेतु का, ३१ से ३७ तक परिणाम हेतु का और ३८ से ४४ तक 'अन्ते क्षयेक्षण' चतुर्थ हेतु का प्रतिक्षेप किया गया है ।

नाशहेतुअयोग के प्रतिक्षेप में यह कहा है कि भाव स्वतः नश्वर या अनश्वरस्वभाव नहीं किन्तु नाशकसापेक्षनश्वरस्वभाव मानने पर नाशहेतुयोग घट जाता है जैसे कारण सापेक्ष उत्पत्ति मानी जाती है । १२ वीं कारिका में यह भी एक प्रधान दोष दिखाया है कि यदि नाश निर्हेतुक मानेंगे तो कोई किसी का कहीं भी घातक-हिंसक नहीं रहेगा । १९ वीं कारिका से एक प्रतिबन्दी उत्तर भी अन्य मत से प्रस्तुत किया है कि वस्तु की उत्पत्ति को हेतुसापेक्ष मानने पर चार विकल्प शक्य हैं हेतुतया अभिप्रेत भाव क्या सत्स्वभाव वाले जन्य का जनक होता है ? या असत्स्वभावजन्य का ? या उभयस्वभावजन्य का ? अथवा अनुभयस्वभावजन्य का जनक होता है ? पश्चाद्

इन चारों विकल्प का खण्डन किया गया है । दूसरे हेतु अर्थक्रियासमर्थत्व के लिये कहा है कि क्षणिक भाव क्षणमात्रस्थायी होने से उससे अर्थक्रिया की शक्यता हो नहीं है, क्योंकि अर्थक्रिया न तो स्वजनक स्वरूप हो सकती है, न तो स्वजनकान्यरूप हो सकती है । ३० वीं कारिका की व्याख्या में स्थिर पदार्थ से क्रम से और युगपद् अर्थक्रिया का सम्भव न होने से क्षणिक में उनकी विश्रान्ति होती है इस बौद्ध अभिप्राय का विस्तार से निराकरण किया गया है, तथा सामग्री पदार्थ की समीक्षा भी मननीय है ।

परिणाम हेतु के निराकरण में कहा गया है कि-बाल-कुमारादि अवस्थाओं के विभिन्न होने पर भी शरीरादि भाव सर्वथा परिवर्तित नहीं होता किन्तु विद्यमान रहता है । क्योंकि परिणाम की यह व्याख्या शिष्टमान्य है कि 'सर्वथा अर्थान्तर भाव को प्राप्त न हो जाना और कुछ अंश में अर्थान्तर भाव को प्राप्त होना' यही परिणाम है । अतादवस्थ्य यह अनित्यता का लक्षण नहीं है । क्षीर और दधि में गोरस के अन्वय से परिणाम का समर्थन किया है । का० ३७ की व्याख्या में वस्तु की स्थिरता सिद्ध करने पर भी वह नित्याऽनित्य क्यों मानी जाय ? इस वैशेषिकों के प्रश्न का सपूर्वोत्तर-पक्ष निस्तुष समाधान दिया गया है । तदुपरांत पृ० ११२ से, नित्याऽनित्य उभयस्वरूप वस्तु न मानने वाले वैशेषिकों के प्रति चित्ररूप की एकाऽनेकरूपता प्रस्तुत की गयी है । यहाँ प्रसंगतः दार्शनिकों में अति विवादास्पद चित्ररूप की विस्तृत मीमांसा व्याख्याकार के अप्रतिम बुद्धि कौशल का साक्षी है ।

'अन्ते क्षयेक्षण' इस चतुर्थ हेतु के प्रतिक्षेप में [का० ३८] कहा गया है कि भावमात्र तथा-स्वभाव यानी 'अन्त में नष्ट हो जाना' इस प्रकार के हो स्वभाववाला होता है अतः क्षणिकत्वसिद्धि अयुक्तिक है । यदि प्रारम्भ में हो उसका नाश मानें तो अन्तकाल में नाशदर्शन की उपपत्ति नहीं होगी । यह जो बौद्ध कहता है कि समानवस्तुग्रह से अवरोध के कारण अचरमक्षणों में नाशदर्शन नहीं होता-इसके प्रतिक्षेप में कहा है कि सादृश्य भेदानुविद्ध होता है अतः प्रतिक्षण वस्तुभेद का ग्रह न होने पर समानवस्तु ग्रह भी शक्य नहीं है ।

४५ वीं कारिका से क्षणिकवाद में, क्षणिक ज्ञान से अर्थग्रह और क्षणिकत्वग्रह की अनुपपत्ति अनुमान से क्षणिकत्वग्रह की अनुपपत्ति, नित्य वस्तु में अर्थक्रियाऽयोग की अनुपपत्ति इत्यादि दूषण दिखाये गये हैं ।

इस प्रकार स्तबक ४-५ और ६ में बौद्धमत की समालोचना पूर्ण करके उपसंहार में, बौद्ध का क्षणिकत्व-उपदेश और विज्ञानवाद का समीचीन तात्पर्य क्या हो सकता है इस पर मीमांसा करते हुये ग्रन्थकार ने यह दिखाया है कि विषयों पर होने वाली आसक्ति को तोड़ने के लिये क्षणिकत्व का उपदेश उचित है । एवं बाह्य धन-धान्यादि में सतत रत रहने वाले लोगों को ज्ञान समान महत्त्वपूर्ण गुण की ओर ध्यान खींचने के लिये ज्ञाननय का आश्रय लेकर विज्ञानवाद का निरूपण भी उचित है ।

५४ वीं कारिका से ग्रन्थकार ने शून्यवादी माध्यमिक के मत की आलोचना का प्रारम्भ किया है । शून्यवादी कहता है-भाव न तो नित्य हो सकता है, न अनित्य । उत्पाद-नाशादि की बुद्धि कुमारी स्त्री के पुत्र जन्मादि के स्वप्नवत् मिथ्या है । ५६ वीं कारिका की व्याख्या में व्याख्याकार ने माध्य-मिक मत का पूर्वपक्ष विस्तार से स्थापित किया है । उसका निष्कर्ष यह दिखाया है कि सर्वधर्मशून्य मध्यमक्षणात्मक संवित् ही परमार्थ सत् वस्तु है और कुछ नहीं । ५७ वीं कारिका से इस माध्यमिक मत का खण्डन प्रारम्भ होता है-जिसमें माध्यमिक को यह पूछा गया है कि आपके मत में कोई प्रमाण है क्या ? यदि प्रमाण है तो वही सत् सिद्ध हो जाने से शून्यवाद का भंग होगा, यदि प्रमाण नहीं

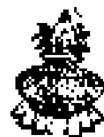
है तो आपका मत स्वयं अप्रमाण घोषित हो जाता है। शून्यता साधक प्रमाण को ही केवल माना जाय तो भी इष्ट सिद्धि नहीं होगी क्योंकि प्रमाण प्रतिपादन के लिये प्रतिपाद्य, जिसके प्रति शून्यता का प्रतिपादन किया जाता है वह भी मानने के लिये बाध्य होना पड़ेगा अन्यथा प्रतिपादन का परिश्रम ही व्यर्थ हो जायगा। प्रतिपाद्य को मानेंगे तो प्रश्नकर्त्ता इत्यादि अनेकों को भी मानना ही होगा। इस प्रकार शून्यता ही शून्य हो जायगी। का० ६२ की व्याख्या में पुनः व्याख्याकार ने विस्तार से शून्यवाद का पूर्वपक्ष स्थापित करके अन्त में उसका सयुक्तिक निराकरण कर दिया है। ग्रन्थकार ने अन्त में का० ६३ में शून्यवाद का तात्पर्य यह दिखाया है कि तथा प्रकार के विनेय शिष्य का इसी में आनुगुण्य=हित देख कर शून्यवाद का उपदेश दिया गया है।

इस प्रकार स्तबक ४-५-६ में बौद्धमत का विस्तृत पूर्वपक्ष और ग्रन्थकार का उत्तर पक्ष प्रतिपादित है। विस्तृत विषयसूचि देखने से सदर्थों की विशेष जिज्ञासा पूर्त्ति हो सकेगी।

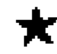
प्रस्तुत विभाग के अभ्रान्त सम्पादन में प० पू० सिद्धान्त महोदधि स्व. आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज, एवं उनके पट्टालंकार न्यायविशारद प. पू. आचार्यदेव श्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज, तथा उनके प्रशीष्य गीतार्थरत्न आचार्यकल्प पू० पंन्यास श्री जयघोषविजयजी गणिवर्य की महती कृपा साद्यन्त अनुवर्त्तमान रही है-जिसके प्रभाव से यह विभाग स्तबक ५-६ सम्पादित-प्रकाशित हो कर अधिकृत मुमुक्षुवर्ग के करकमल में सुशोभित हो रहा है। आशा है, इस विभाग के अध्ययन से हम सब एकान्तवाद का परित्याग कर अनेकान्तवाद की उपासना कर के मुक्तिपथ पर शीघ्र प्रयाण करें।

वि० सं० २०३९
अहमदाबाद (गुजरात)

—जयसुन्दर विजय



* विषयवृन्ददर्शिका *



❀ समाप्त ❀

स्तबक ५–६ मूलश्लोक–अकारादिक्रमः

(स्तबक ४–५–६) मूल–टीकयोरुद्धृतवाक्यार्थांशाकारादिक्रमः

卐

स्तबक/पृष्ठ	वाक्यांशः
६/१८६	अत एवैकानेकरूप. [सम्मति टीका]
४/४७	अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे [खण्डन. १-१]
५/२	अयमेवेति यो ह्येष० [श्लो. वा. अभाव. १५]
६/२०९	अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा [प्र वा. २-३५४]
६/३१	अवेद्यवेदकाकारा० [प्र. वा. २-३३०-३३१]
६/१७६	अर्पितानर्पित सिद्धेः [तत्त्वार्थ. ५-३१]
६/१४३	असओ नत्थि निसेहो० [वि. आ. भाष्य १५७४]
४.१०६	असदुत्पत्तिरप्यस्य [शान्तरक्षित]
६/१७९	आश्रयव्यापित्वे०....[सम्मति टीका]
४/२१७	इत एकनवते कल्पे० [ ]
४/४९	एतेनाऽहेतुकत्वेऽपि० [प्र. वा. २८१-२८२]
६/२०७	कतमत् संवृतिसत्त्वं [ ]
४/२२१	कप्पट्ठाइ पुहइ भिक्खवो ! [ ]
६/२१२	किंतु ज्ञानस्याऽसद्विषयत्वम् [सूरि]
६/२०६	किं स्यात् सा चित्र तै० [प्र. वा. २-२१०]
६/१५१	किमेयं भन्ते ! कालो त्ति [ ]
५.८१	चित्तमेव हि संसारो० [ ]
६ १५३	चित्रमेकमनेकं च० [वी. स्तोत्र ८/९]
६/१५१	जं वत्तणादिरूवो० [धर्मसंग्रहणी]
५/३२	तथा कृतव्यवस्थेयं [प्र. वा. २-३३१-३३२]
६/१३८	तद्भावः परिणामो यद् [ ]
६/१४३-१४७	तद्भावाव्ययं नित्यम् [तत्त्वार्थ० ५-३०]
५/८५	तस्मादविद्याशक्ति०.... [धर्मोत्तर]
४/४६	दुष्टोपलम्भसामग्री० [न्याय कु. ३-३ [
४/७९	दृष्टस्तावदयं घटोऽत्र० [ ]
४/४३	न तत्र किंचिद् भवति [प्र. वा. ३-२७९]
६/२०२	न स्वतो नापि परतः [माध्य० कारिका १]
४/१८६	न विकल्पानुबद्धस्य [प्र. वा. २-२८३]
५-६/३०-२०९	नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति [प्र. वा. २ ३२७]
४/१०५	नाऽसतो भावकर्तृत्वं [शान्तरक्षित]

स्तवक/पृष्ठ	वाक्यांशः
५/६७	नीलादिश्चित्रविज्ञाने [प्र. वा. ३-२२०]
४/२२२	पञ्च बाह्या द्विविज्ञेया [अभिधर्मकोश]
५/७४	परस्परापेक्षया तयोर्व्यवस्थानात् [ ]
४/१६०	पश्यन्नपि न पश्यती० [धर्मकीर्त्ति]
४/१८६	प्रत्यक्षं कल्पनापोढं [प्र. वा. २-१२३]
५/५१	बहिरर्थग्रहणापेक्षया० [स्या. र. पृष्ठ ३१८]
६/२०७	भावा येन निरू० [प्र. वा. २-३६०]
४/३३	भावे ह्येष विकल्पः स्याद् [प्र. वा. ३-२७६-२८०]
६/२०६	मध्यमा प्रतिपत् सैव [ ]
६/१६६	यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने [योगशास्त्र ४-५७]
४/१५८	यत्रैव जनयेदेनां [ ]
५/५६	यदि च सुखादयो [स्या. र०]
४/१८	यस्मिन्नेव हि संताने [ ]
५/४५	यो हि ज्ञानोपलम्भः [धर्मोत्तर]
५/५३	लिङ्गस्याऽव्यभिचारस्तु [दिङ्नाग]
६/१५७	लोहितो यस्तु वर्णेन [ ]
४/१०६	वस्तुनोऽनन्तरं सत्ता [शान्तरक्षित]
४/१७६	वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेत् [वाक्यपदीय]
५/५६	व्यक्ताऽव्यक्तात्मरूपं यद् [ ]
६/२१२	सर्व एवायमनुमानानुमेय. [आचार्य]
६/२११	सर्वदा सदुपायानां [श्लो. वा. निरा. १२८]
५/२६	सहोपलम्भनियमाद् [प्रमा. वि. परि. १]
४/१८६	संहृत्य सर्वतश्चिन्तां [प्र. वा. २-१२४]
५/५६	सुखमाह्लादनाकारं [ ]
५/५१	स्पष्टं प्रत्यक्षम् [प्र. न. तत्त्वा. २-२]
५/४	स्वभावविशेषश्च.... [न्यायवादी]
६/९३	स्वभावोऽपि स तस्येत्थं [ ]
४/२२४	स्वविषयानन्तर.... .... [ ]
६/६६	हेतवश्चानुपकार्य .... [शुभगुप्त]

नोंध:—चौथे स्तबक में उद्धरणों की सूचि नहीं दी गई है, उसका समावेश इस सूचि में कर लिया है।

शोधनीयम् (स्तबक ५–६)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	३२	तज्ञनन	तज्जनन
५	२	तज्ञनन	तज्जनन
	२७	स्वभावसिद्ध	स्वभाव सिद्ध
	३०	सहितत्य	सहितत्व
७	१२	निश्चतम्	=निश्चितम्
	१६	प्रप्तो	प्राप्तो
१०	६	व्याप्यत्वकालिक	व्याप्यत्व कालिक
१२	६	द्वयुणुक	द्वयणुक
१६	११	द्रव्याविषयक	द्रव्यविषयक
२१	१३	चिन्तमणि	चिन्तामणि
२४	४	ऊपलम्भ	उपलम्भ
२५	२१	ऽव्याप्यत्वात्	ऽव्याप्यत्वात्
२७	१४	तत्कुर्व०	तत्तत्कुर्व०
२८	१६	उपादन	उपपादन
२८	२८	विषयतया	विषयताया
३१	१२	ज्ञिससे	जिससे
३२	२०	'शुक्ति	'शुक्ति में
३५	२९	°नुपद्यमानात्	°नुपपद्यमानत्वात्
३६	७	इष्टटयो:	इष्टयो:
४६	३४	ज्ञान	अज्ञान
४७	१५	शब्दार्थ	शब्द
	१७	जिनमें	जिन लोगों के मत में
	२१	आविधक	आविद्यक
५०	२४	अशिक्त	अशक्ति
५१	१२	त्वागते	त्वावगते
५६	१६	त्वामित्य'	त्वमि'त्य–
५७	३	यह	यह इसलिये
	४	क्योंकि	कि
	२०	कारण	वारण
५८	५	ठीक है	ठीक नहीं है
६३	१५	भेदेन	भेदेन
६६	१	भव विरु	भवविरु
६८	१	सद्भाव	स्वभाव
७१	१२	उभपक्ष	उभयपक्ष
८४	२५	पातात:	पातत:
८५	२४	निर्वतते	निवर्तते
१०४	१५	निवृत्त	निवृत्ति
१०५	१२	घटनिवृत्ति	घट निवृत्ति
११३	२४	मानना	न मानना
१४३	१	वधियो	बधियो
	८	युक्तिमिति	युक्तमिति
१४४	१९	अनुगमन	अनुगम न
१४५	२८	से कहा	से यदि कहा
१४६	२०	न्याय	जैन न्याय
१५१	१८	अमान्य	मान्य
१५४	१	प्रीतीति	प्रतीति
१५४	२४	निराकांश	निराकाक्ष
१६०	६	वैयग्रघयात्	वैयग्रघात्
१७०	२८	योगि ताक	योगिताक
१७६	१८	होने से कि	होने से
	१९	जिससे	जिससे कि
१८२	९	पहिार	परिहार
१८३	२५	पीतवाल	पीतकपाल
१८४	२४	नीलातकवत्वादि	नीलत्वपीतत्वादि
१९०	९	तभिन्न	तदभिन्न
	१०	तन्निष्ट	तन्निष्ठ
१९३	३०	का उत्पत्ति	की उत्पत्ति
१९६	१	अणिवत्व	क्षणिकत्व
१९८	१७	सत्तवम्	सत्त्वम्
२०२	२५	यह	ये
२०२	२५	(१)	(A)
२०२	३०	(२)	(B)
२०३	१	(३)	(C)
२०३	२१	कुमारी	--कुमारी
२०७	१९	यदि यही	यही
२०८	१४	नागार्जुन	धर्मकीर्त्ति
२१२	५	[१ तवैव]	[? तवैव]
२१४	२३	तामानाप्य	तामनाप्य

॥ अर्हम् ॥

卐 शास्त्रवार्त्तासमुच्चय 卐

॥ पञ्चमः स्तबकः ॥

[व्याख्याकार का मंगलाचरण]

स्वामी सतामीहितसिद्धयेऽन्तर्यामी स चामीकरकान्तिरास्ताम् ।
वामीभवन्तोऽपि परे बतामी क्षमा न यद्दर्शनलङ्घनाय ॥ १ ॥

अनाकलितमन्यथाकलितमन्यतीर्थेश्वरैः
स्वरूपनियतं जगद् बहिरिवान्तरालोकते ।
य एष परमेश्वरश्चरणनम्रशक्रस्फुरत्किरीट-
मणिदीधितिस्नपितपादपद्मः श्रिये ॥ २ ॥

समीहितं कल्पतरूपमश्चेत् शङ्खेश्वरः पार्श्वजिनः पिपर्ति ।
तदाऽसदालापसमुद्भवेभ्यो भयं न किञ्चिद् मम दुर्नयेभ्यः ॥ ३ ॥

व्याख्याकार ने पञ्चम स्तबक की व्याख्या का उपक्रम करते हुये जिनेश्वर भगवान को वन्दना की है और अपनी निर्भयता बताकर अन्य दुर्नयप्रायः मतों की दुर्बलता का संकेत किया है, जो इस प्रकार है—

अत्यन्त प्रतिकूल चेष्टा करने पर भी बौद्धादि प्रतिवादी जिन के दर्शन का उल्लङ्घन (खण्डन) करने में समर्थ नहीं हो पाते, वे सुवर्ण के समान कान्ति वाले, एवं वस्तु के यथार्थ द्रष्टा और वक्ता, एवं अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शन-अनन्तसुख-अनन्तवीर्य इस अनन्त-चतुष्टय के स्वामी, तथा सत्पुरुषों के अन्तःकरण को धर्म और अध्यात्ममार्ग में प्रवृत्त कराने वाले भगवान हमारे मनोरथ को सिद्धि के लिए हो अर्थात् हमारा वांछित सिद्ध करो ॥ १ ॥

अन्य-अन्य शास्त्रों के प्रवर्त्तक ईश्वर गिने जाने वाले पुरुषवर्ग भी अपने नियत=प्रमाण-सिद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित जिस जगत् को अनेक अंशों में समझने में निष्फल रहे अथवा अन्यथा=विपरीत रूप में समझ बैठे, उस जगत् का, जो परमेश्वर उसके बाह्य स्थूल स्वरूप के समान आन्तर-दुर्ज्ञेय सूक्ष्म स्वरूप में भी स्पष्ट अवलोकन करते हैं और जिनके चरण कमल, चरण पर झुके हुये देवराज इन्द्र के चमकते हुये मुकुट के मणि की किरणें प्रक्षालन करती हैं, वे परमेश्वर हमारी श्री यानी अभिमतसिद्धि के अनुकूल हो ॥ २ ॥

शङ्खेश्वर तीर्थ के अधिपति, कल्पवृक्ष के समान मनुष्य के सम्पूर्ण-मनोरथों को पूर्ण करने वाले, कामक्रोधादि समस्त शत्रुओं के विजेता, भगवान पार्श्वनाथ यदि मेरे रक्षक हैं तो मुझे प्रतिवादियों के मिथ्या वचनों से उत्पन्न होने वाले दुर्नयों-कुमतों से मुझे कोई भय नहीं है ।। ३ ।।

'विज्ञानमात्रमेव जगत्' इति योगाचारमतं निराकुरुते–

प्रस्तुत ग्रन्थ के पञ्चम स्तबक की प्रथम कारिका में, 'जगत् केवल विज्ञानात्मक है, विज्ञान से उसकी कोई अतिरिक्त सत्ता नहीं है'–इस योगाचार मत के निराकरण का उपन्यास किया गया है ।

मूलम्—विज्ञानमात्रवादोऽपि न सम्यगुपपद्यते ।
मानं यत्तत्त्वतः किञ्चिदर्थाभावे न विद्यते ॥१॥

विज्ञानमात्रवादोऽपि परपरिकल्पितः, सम्यग्–विचार्यमाणः नोपपद्यते, यद् = यस्मात् तत्त्वतः स्वतन्त्रनीत्यैव अर्थाभावे किञ्चिद् मानं = प्रमाणं न विद्यते । न चार्थाभावनिश्चयमन्तरेण ज्ञानमात्रमेवेत्यवधारणं युज्यते, तदुक्तम्–

"अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णयः । नैष वस्त्वन्तराभावसंवित्त्यनुगमादृते ॥१॥" इति ।१॥

[जगत् विज्ञानमात्ररूप है–योगाचार मत का प्रतिक्षेप]

बौद्धों द्वारा कल्पित विज्ञानवाद भी अच्छे प्रकार विचार करने पर उपपन्न नहीं होता क्योंकि बाह्यार्थ के अभाव में कोई प्रमाण नहीं है, अतः अर्थाभाव का निश्चय किये बिना स्वतन्त्र नीति से प्रमाण निरपेक्ष होकर अर्थात् बिना किसी प्रमाण 'सम्पूर्ण विश्व केवल ज्ञानात्मक है' यह अवधारण युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता । जैसा कि कहा गया है-'भाव के सम्बन्ध में जो यह निर्णय लिया जाता है कि 'यह वस्तु एकमात्र अमुक ही है' वह अन्य वस्तु के अभाव की सिद्धि के बिना उचित नहीं है ।' ।। १ ।।

न चाध्यक्षमर्थाभावे मानमित्याह–

दूसरी कारिका में अर्थाभाव में प्रत्यक्ष प्रमाण होने का निषेध बताया गया है–

मूलम्—न प्रत्यक्षं यतोऽभावालम्बनं न तदिष्यते ।
नानुमानं तथाभूतसल्लिङ्गानुपलब्धितः ॥ २ ॥

न प्रत्यक्षमर्थाभावे मानम्, यतस्तदभावालम्बनं नेष्यते तस्य तुच्छत्वात्, अध्यक्षस्य च स्वलक्षणालम्बनत्वात् । अत एव नानुमानं तत्र मानम्, तस्य तन्मूलत्वेन तदभावे तथाभूतसल्लिङ्गानुपलब्धितः = अर्थाभावप्रतिबद्धसाधुलिङ्गानुपलम्भात् ॥ २ ॥

अर्थाभाव में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिल सकता क्योंकि अभाव को प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना जाता, यतः अभाव तुच्छ होता है, और अध्यक्ष-स्वलक्षण यानी सत्यवस्तुग्राही होता है । अध्यक्ष का सम्भव न होने के कारण ही अनुमान प्रमाण से भी अर्थाभाव की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि अनुमान

अध्यक्षमूलक होता है । अतः अध्यक्ष के अभाव में अर्थाभाव से व्याप्य निर्दोष लिङ्ग की उपलब्धि नहीं हो सकती ।। २ ।।

तीसरी कारिका में अनुपलब्धि प्रमाण से अर्थाभाव की सिद्धि की सम्भावना को व्यक्त किया गया है—

स्वभावकार्यलिङ्गकयोरनुमानयोरत्राभावेऽप्यनुपलब्धिरेव तत्र मानम्, इत्याशङ्कते—

मूलम्—उपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थो येनोपलभ्यते ।
ततश्चानुपलब्ध्यैव तदभावोऽवसीयते ॥३॥

येन कारणेन उपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थः-बाह्यो घटादिः, परनीत्योपलभ्यते, ततश्चानुपलब्ध्यैव = अदर्शनरूपया, तदभावः = बाह्यार्थाभावः अवसीयते ॥ ३ ॥

यद्यपि स्वभावलिङ्गक और कार्यलिङ्गक अनुमान से अर्थाभाव की सिद्धि सम्भव नहीं प्रतीत होती किन्तु अनुपलब्धि प्रमाण से बाह्य अर्थ के अभाव का निश्चय हो सकता है क्योंकि योग्यानुपलब्धि अभाव की बोधक होती है और घटादि बाह्यार्थ अन्य मत से प्रत्यक्षयोग्य के लक्षण से सम्पन्न है । अतः उसकी अनुपलब्धि= अदर्शन योग्यानुपलब्धिरूप है । इसलिये उससे बाह्यार्थ के अभाव की सिद्धि अनिवार्य है ।। ३ ।।

चतुर्थी कारिका में बाह्यार्थ के अभाव की अनुपलब्धिमूलक सिद्धि का निराकरण किया गया है—

अत्रोत्तरमधिकृत्याह—

मूलम्—उपलब्धिलक्षणप्राप्तिस्तद्धेत्वन्तरसंहतिः ।
तेषां च तत्स्वभावत्वे तदयाऽसिद्धिः कथं भवेत् ? ॥४॥

उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरिह परेषां तद्धेत्वन्तरसंहतिः=प्रतियोगि-प्रतियोगिव्याप्येतरयावत्प्रतियोग्युपलम्भकसमवधानम् । तेषां च = तदपराभिमतघटाद्युपलम्भकानां तत्स्थानाभिषिक्तप्रत्ययान्तराणां वा, तत्स्वभावत्वे = बाह्यार्थोपलम्भजननस्वभावत्वे त्वयाभ्युपगम्यमाने, तदसिद्धि = बाह्याऽसिद्धिः, कथं भवेद् ? तदुपलम्भजननस्वभावहेतुसाकल्यविरोधात्, बाह्यार्थस्य ज्ञानजनकत्वापत्त्या त्वया प्रतियोगि-प्रतियोगिव्याप्येतरत्वस्य निवेशयितुमशक्यत्वात्, तत्स्थाने तदुपलम्भजनकसमनन्तरान्यत्वनिवेशेऽपि सामग्र्यननुप्रविष्टानां हेतुत्वोपगमेऽपसिद्धान्तात् ॥४॥

[विज्ञानवाद में प्रतियोगि अनुपलब्धि की दुर्घटता]

पर मत में उपलब्धिलक्षण की प्राप्ति यह प्रतियोगी की प्रत्यक्षयोग्यता रूप है जो अन्य समस्त हेतुओं का सन्निधान रूप है । अर्थात् बाह्यार्थवादी के अनुसार प्रतियोगी एवं प्रतियोगिव्याप्य से इतर प्रतियोगी के प्रत्यक्ष में जरूरी सम्पूर्ण कारणों का सन्निधान ही योग्यता है । इस योग्यता के रहने पर यदि प्रतियोगी की उपलब्धि नहीं होती है तो निश्चय ही यह अनुपलब्धि प्रतियोगी के अभाव होने से ही होती है, अन्यथा प्रतियोगी के उपलम्भक अन्य सभी कारणों के साथ यदि प्रति-

योगी का भी सद्भाव होता तो उसकी उपलब्धि अवश्य होती । अतः प्रतीयोगी की इस प्रकार की अनुपलब्धि से उसके अभाव की सिद्धि होती है । किन्तु, विज्ञानवादी के मत में उक्त योग्यता के रहने पर प्रतियोगी की अनुपलब्धि नहीं उपपन्न हो सकती, क्योंकि विज्ञानवादी के मत में वे ही कारण अथवा उनके स्थान में स्वीकृत अन्य प्रत्यय ही अगर बाह्यार्थस्वरूप प्रतियोगी के उपलब्ध कराने के स्वभाव वाले स्वीकार्य हैं तब बाह्यार्थ असिद्ध है ऐसा वे कैसे कह सकते हैं ? अन्यथा प्रतियोगी-उपलम्भ के समग्र कारण वहां विद्यमान है तब उनके रहने पर प्रतियोगी की अनुपलब्धि का होना सङ्गत नहीं है । क्योंकि तत् की अनुपलब्धि है और तदुपलम्भ के जनक समग्र हेतुओं का सन्निधान है—इन दोनों में विरोध है ।

यदि विज्ञानवादी की ओर से यह कहा जाय कि-'उक्त स्थल में प्रतियोगी और प्रतियोगीव्याप्य से भिन्न ही प्रतियोगी प्रत्यक्ष के कारणों का सन्निधान है-प्रतियोगी प्रत्यक्ष के समग्र कारणों का सन्निधान नहीं है, अतः उस काल में प्रतियोगी की अनुपलब्धि सम्भव है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रतियोगी उपलम्भक हेतुओं में प्रतियोगी और प्रतियोगीव्याप्य से इतरत्व का निवेश विज्ञानवादी के लिए शक्य नहीं है, क्योंकि उस निवेश से प्रतियोगीरूप बाह्यार्थ की सिद्धि एवं उसमें प्रत्यक्षजनकता की आपत्ति होती है । यदि प्रतियोगी-प्रतियोगीव्याप्येतरत्व स्थान में प्रतियोगी उपलम्भक समनन्तरप्रत्ययेतरत्व का निवेश किया जाय तो वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि बौद्धमत में स्वरूपयोग्य में कारणता नहीं मानी जाती किन्तु फलोपधायक में ही कारणता होती है । अतः प्रतियोगी उपलम्भक सामग्री में जो प्रविष्ट है वही कारण होगा और वही समनन्तर प्रत्यय रूप होगा अथवा उस काल में समनन्तर प्रत्यय का सन्निधान भी अपरिहार्य है । अतः प्रतियोग्युपलम्भक समनन्तर प्रत्ययेतरत्व कर के समनन्तर प्रत्यय के असमानकालिक प्रत्ययों का निवेश किया जायगा तो वे प्रत्यय प्रतियोगी उपलम्भक सामग्री के घटक न होने से उन में प्रतियोग्युपलम्भकारणता नहीं रहेगी अन्यथा प्रतियोग्युपलम्भक समनन्तर प्रत्ययेतरत्व (प्रत्यय-भिन्नत्व) का निवेश निरर्थक होगा और उन्हें यदि कारण माना जायगा तो सामग्री में अननुप्रविष्ट पदार्थ में कारणता की प्रसक्ति होने से अपसिद्धान्त होगा ॥४॥

पांचवी कारिका में प्रतियोगी उपलम्भ की सामग्री में अप्रविष्ट प्रत्ययों में प्रतियोगी-उपलम्भ-जनन का स्वभाव कल्पित है, वास्तव नहीं, इसलिए अपसिद्धान्त नहीं होगा'-इस मान्यता को प्रस्तुत कर उसका निराकरण किया गया है—

'कल्पितं तत्र तज्जननस्वभावत्वं न तु वास्तवमिति नापसिद्धान्तः' इत्यभिप्रेत्य शङ्का-परिहारावाह—

मूलम्—सहार्थेन तज्जननस्वभावानीति चेन्नतु ।
जनयन्त्येव सत्येवमन्यथाऽतत्स्वभावता ॥५॥

सहार्थेन परपरिकल्पितेन, **तज्जननस्वभावानि** = अर्थोपलम्भजननस्वभावानि प्रत्ययान्तराणि, यदाह न्यायवादी-"स्वभावविशेषश्च यः स्वभावः सत्स्वन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु सन् प्रत्यक्ष एव भवति" इति । तथाचार्थस्य क्लृप्तत्वात् तत्साहित्येनार्थोपलम्भजननस्वभावत्वं

विशिष्टं कल्पमित्याशय' इति चेत् ? नन्वेवं सत्येव कलृप्तेऽप्यर्थे–जनयन्ति = जनयेयुस्तान्यर्थोपलम्भम्, तत्साहित्यघटितस्वभावत्वात्, अन्यथाऽसत्स्वभावता–सहार्थेन तज्जननस्वभावताविलयः स्यादित्यर्थः ॥ ५ ॥

[अनुपलब्धि की उपपत्ति का निष्फल आयास]

विज्ञानवादी बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-"जो प्रत्यय प्रतियोगी उपलम्भ की सामग्री में प्रविष्ट नहीं है उनमें प्रतियोगीरूप अर्थ के साथ प्रतियोगी उपलम्भ के जनन का स्वभाव है और यह स्वभाव वास्तव नहीं किन्तु कल्पित है। आशय यह है कि जो जिस कार्य की सामग्री में प्रविष्ट होता है उसमें उस कार्य के जनन का वास्तवस्वभाव होता है और जो जिस कार्य की सामग्री में प्रविष्ट नहीं होता किन्तु सामग्री प्रविष्ट के सदृश होता है उसमें उस कार्य के जनन का कल्पित स्वभाव होता है। यह स्वभाव लोकव्यवहार के अनुरोध से माना जाता है। जैसे, कुशूलस्थ बीज अङ्कूर की सामग्री में प्रविष्ट नहीं होता किन्तु लोग उसमें भी अंकूरजनकत्व का व्यवहार करता है। अंकूरार्थी को उसके रक्षण और ग्रहण में प्रवृत्ति होती है। कुशूलस्थ बीज में अङ्कूरजनन के इस कल्पित स्वभाव को मानने पर उससे अंकूरोत्पत्ति का आपादान नहीं किया जा सकता, क्योंकि अङ्कूरोत्पादकता की व्याप्ति अङ्कूर जनन के वास्तवस्वभाव में है जो कुशूलगत बीज में न होकर अङ्कूर सामग्री में प्रविष्ट क्षेत्रगत बीज में होता है। तो इस प्रकार अर्थोपलम्भ सामग्री में अप्रविष्ट प्रत्ययों में अर्थोपलम्भजनन का कल्पितस्वभाव मानने से वे भी अर्थोपलम्भ के हेतु गिने जाते हैं। अतः उन में अर्थोपलम्भजनक समनन्तर प्रत्ययभिन्नत्वरूप से अभिहित कर उनके साकल्य को योग्यता कहा जा सकता है। तथा उस योग्यता के काल में अर्थ की अनुपलब्धि भी हो सकती है क्योंकि उनमें अर्थसहित अर्थोपलम्भजननस्वभावता है। अतः अर्थसहितत्व की अभावदशा में अर्थ की अनुपलब्धि युक्तिसंगत है। अर्थोपलम्भ की सामग्री में अप्रविष्ट प्रत्ययों में अर्थोपलम्भजनन के कल्पित स्वभाव को मानने में न्यायवादी की भी सम्मति प्राप्त है। उन्होंने कहा है कि 'उपलम्भक अन्य प्रत्ययों के रहने पर, जो स्वभाव विद्यमान होने पर प्रत्यक्ष का विषय बन जाता है वह स्वभावविशेष पर मत में कल्पित अर्थस्वरूप है।' न्यायवादी की यह उक्ति स्पष्ट रूप से उपलम्भ के ऐसे प्रत्ययों का संकेत करती है जो उपलम्भ की सामग्री में प्रविष्ट नहीं है, क्योंकि उन्होंने अर्थ के साहित्य में उन प्रत्ययों में अर्थोपलम्भजनकता का कथन किया है। इस प्रकार अर्थ में अर्थोपलम्भजननस्वभावता क्लृप्त होने से अर्थ के साहित्य से अन्य प्रत्ययों में भी अर्थोपलम्भजनन का विशिष्ट-यानी वास्तवस्वभाव से भिन्न कल्पित स्वभावसिद्ध होता है।"–

इस पर ग्रन्थकार का कहना है कि विज्ञानवादी बौद्ध का यदि अर्थोपलम्भजनन के कल्पित स्वभाव के सम्बन्ध में यही आशय हो तो अर्थोपलम्भ के अन्य प्रत्ययों से अर्थसहित अर्थोपलम्भ की आपत्ति होगी। क्योंकि उनका अर्थोपलम्भजनन स्वभाव अर्थसाहित्य घटित, अर्थात् उन में अर्थ सहित अर्थोपलम्भजनन का स्वभाव है। यदि वे अर्थसहित अर्थोपलम्भ के जनक न होंगे तो उन में अर्थसहित अर्थोपलम्भजनन के स्वभाव की हानि होगी, क्योंकि तब उनके उक्त स्वभाव में कोई प्रमाण न होगा ।।५।।

छट्ठी कारिका में, अर्थोपलम्भसामग्री में अप्रविष्ट प्रत्ययों को अर्थोपलम्भ के प्रति स्वरूप-योग्य मान कर भी अर्थोपलम्भजनन के कल्पित स्वभाव का अभ्युपगम नहीं हो सकता इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है—

'सति बाह्येऽर्थे कदाचित् तेन सह तदुपलम्भं जनयेयुरिति योग्यतायां तज्जननस्व-भावत्वं कल्प्यत' इत्याशये त्वाह—

मूलम्—योग्यतामधिकृत्याथ तत्स्वभावत्वकल्पना ।
हन्तैवमपि सिद्धोऽर्थः कदाचिदुपलब्धितः ॥६॥

अथ तेषां प्रत्ययान्तराणां योग्यतामधिकृत्य तत्स्वभावत्वकल्पना-यदाऽर्थो भवति तदा तदुपलम्भं जनयन्ति, हन्त ! एवमपि अर्थः = बाह्यो घटादिः सिद्धः, कदाचित् = यस्मिन् कस्मिंश्चित् काले उपलब्धितः = उपलम्भसंभवात् ॥६॥

[बाह्यार्थ के उपलम्भ की आपत्ति]

'अर्थोपलम्भ के अन्य प्रत्यय बाह्यार्थ का सन्निधान होने पर बाह्यार्थउपलम्भ के जनक होते हैं' इस प्रकार अन्य प्रत्ययों में बाह्यार्थोपलम्भजनन के स्वभाव की कल्पना हो सकती है। ऐसा मानने पर पूर्वोक्त आपत्ति भी नहीं हो सकती-क्योंकि उन में इस प्रकार के स्वभाव की कल्पना से उनके जनन स्वभाव में अर्थसहितत्व का प्रवेश नहीं होता। इस पर ग्रन्थकार का खेदपूर्वक यह कहना है कि ऐसी कल्पना से कभी न कभी बाह्यार्थ की उपलब्धि अवश्य सिद्ध होती है अतः उस उपलम्भ से बाह्यार्थ का सद्भाव प्रसक्त होता है जो विज्ञानवादी को स्वीकार्य नहीं है ॥६॥

७वीं कारिका में विज्ञानवादी बौद्ध के इस कथन का कि 'जिन प्रत्ययों से बाह्यार्थ की उपलब्धि कभी नहीं होती वे भी बाह्यार्थ उपलम्भ के प्रति स्वरूप योग्य होते हैं अतः उन में बाह्यार्थोपलम्भ के जनन का कल्पित स्वभाव माना जा सकता है'—निराकरण किया गया है—

विपक्षे बाधकमाह—

मूलम्—अन्यथा योग्यता तेषां कथं युक्त्योपपद्यते ? ।
न हि लोकेऽश्वमाषादेः सिद्धा पक्त्यादियोग्यता ॥७॥

अन्यथा = कदापि तदुपलम्भाऽजनने, कथं तेषाम् = अभिमतप्रत्ययान्तराणाम् योग्यता = बाह्यार्थोपलम्भजननयोग्यता, युक्त्या = न्यायेन उपपद्यते ? कारणान्तरवैकल्य-प्रयुक्तकार्याभावत्वस्यैव कारणान्तरे योग्यताया लोके व्यवह्रियमाणत्वात् । एतदेव समर्थयति न हि लोके = व्यवहारिणि लोके अश्वमाषादेः = कंकटुकादेः कदापि पक्त्याद्यजनकस्य पक्त्यादियोग्यता सिद्धेति ॥ ७ ॥

[बाह्यार्थानुपलम्भक प्रत्ययों में योग्यता दुर्घट है]

जिन प्रत्ययों से कभी भी बाह्यार्थ का उपलम्भ नहीं होता उन में बाह्यार्थोपलम्भ के जनन

की योग्यता कैसे न्यायसंगत हो सकती है ? लोक में तो उन्हीं वस्तुओं में किसी कार्य की योग्यता मानी जाती है जिन में उस कार्य का अभाव कारणान्तर के अभाव से होता है। किन्तु जिन प्रत्ययों में सदा कार्याभाव होगा उनमें वह अभाव कारणान्तर के अभाव से प्रयुक्त नहीं हो सकता। अतः उन में योग्यता का अभ्युपगम लोकव्यवहार विरुद्ध है-जैसे अश्वमाष यानी कंकटुक अर्थात् ऐसा द्रव्य जो देखने में पूरा मुंग जैसा होता है किन्तु मूलतः वह पाषाणखण्ड होने से कभी नहीं पकता इसीलिये लोक में वह पाकयोग्य मुंग के रूप में नहीं व्यवहृत किया जाता ।।७।।

८वीं कारिका में नैयायिक सम्मत योग्यानुपलब्धि के स्वीकारने से भी बौद्ध की अभिमत-सिद्धि नहीं हो सकती। इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है—

अधिकृतशेषमाह—

मूलम्—**पराभिप्रायतो ह्येतदेवं चेदुच्यते न यत् ।**
उपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थस्तस्योपलभ्यते ॥८॥

पराभिप्रायतः = बाह्यार्थवादिनैयायिकाद्यभिप्रायतो **हि** निश्चितम् एतदेवमुच्यते यदुत-'उपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थो नोपलभ्यते' इति। अत्र किं तदभिमतानुपलब्ध्यङ्गीकारेण तदभावः साध्यते, उत घटज्ञानात् प्रागपि घटसत्ताभ्युपगमे तदा तदुपलम्भप्रसङ्गापादनं परं प्रति क्रियत इति ? आद्ये, तदभिमतेश्वराद्यनुमानाङ्गीकारेणेश्वरादेरभ्युपगमप्रसङ्ग इति स्फुट एव दोषः। अन्त्ये स्वाह—**न** = नैतदेवम्, **यद्** = यस्मात्, तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थस्तेनोपलभ्यत एव, अन्यस्य तु न तदुपलम्भप्रसङ्गः तद्ग्राहकेन्द्रियसंनिकर्षाद्यभावादिति न किञ्चिदेतत् ।।८।।

[पराभिप्राय से योग्यानुपलब्धि के अवलम्बन में आपत्ति]

पराभिप्राय से अर्थात् बाह्यार्थवादी नैयायिकादि के अभिप्रायानुसार योग्यानुपलब्धि का अवलम्बन करके भी बाह्यार्थ के अभाव का साधन नहीं किया जा सकता। कारण, पराभिमत योग्यानुपलब्धि को स्वीकार करने पर यह प्रश्न होगा कि उक्तानुपलब्धि से क्या अनुपलभ्यमान बाह्य पदार्थ के अभाव की सिद्धि अभिप्रेत है ? अथवा घटादिज्ञान के पूर्व भी घटादि की सत्ता मानने पर उस समय भी घटादि के प्रत्यक्ष का आपादान अभिप्रेत है ? इन प्रश्नों का उचित समाधान बौद्ध की ओर से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर यह आपत्ति होगी कि यदि पराभिमत योग्यानुपलब्धि अभाव की ग्राहक होगी तो ईश्वर का अभाव नहीं सिद्ध हो सकेगा, क्योंकि परमतानुसार ईश्वर की अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं है, फलतः ईश्वर साधक अनुमान में कोइ बाधक न होने से बौद्ध को अनिच्छा से भी ईश्वरानुमान का अभ्युपगम करना होगा, जिसके फलस्वरूप ईश्वर का अस्तित्व बौद्ध के गले में आ पड़ेगा। ऐसी ही स्थिति दूसरे पक्ष की भी है, क्योंकि घटज्ञान के पूर्व घटोपलम्भ के आपादन के विषय में बाह्यार्थवादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि नियत समय में होने वाले घटज्ञान के पूर्व घटोपलम्भ के आपादन के विषय में, घट जिस व्यक्ति को उपलब्धिलक्षण प्राप्त होता है अर्थात् जिस व्यक्ति को उपलम्भ की सामग्री सन्निहित होती है उसे घट का उपलम्भ होता ही है और जिसे उक्त सामग्री सन्निहित नहीं होती

उसे घटोपलम्भ का आपादन नहीं हो सकता क्योंकि घट का उपलम्भ केवल घटाधीन नहीं है किन्तु घट के साथ इन्द्रियसंनिकर्षादि के अधीन भी है अतः जिस व्यक्ति के इन्द्रिय का घट के साथ संनिकर्ष नहीं है उस व्यक्ति को घट के रहते हुये भी घटोपलम्भ का प्रसंग नहीं हो सकता। अतः पराभिमत योग्यानुपलब्धि का अवलम्बन बौद्ध के लिये नितान्त निर्युक्तिक है ॥८॥

९वीं कारिका में, 'प्रत्ययों=ज्ञानकारणों में बाह्यार्थ ग्रहण का स्वभाव न होने से बाह्यार्थ का ग्रहण नहीं हो सकता, अतः बाह्यार्थ का अभाव है' इस बौद्ध कथन का निराकरण किया गया है—

अतत्स्वभावत्वपक्ष आह—

मूलम्—तदग्रहणभावैश्च यदि नाम न गृह्यते ।
तत एतावताऽसत्त्वं न तस्यातिप्रसङ्गतः ॥९॥

तदग्रहणभावैश्च = बाह्यार्थाग्रहणस्वभावैश्च प्रत्ययान्तरैः, यदि नाम न गृह्यते बाह्योऽर्थः, तत एतावता हेतुना न तस्याऽसत्त्वम्, अतिप्रसङ्गतः, पीताऽसंवेदनस्वभावेन तदसंवेदने पीतसंवेदनाभावप्रसङ्गात् ।

नन्वन्यदर्शनाभ्यासवासनाप्रबोधादुपस्थितस्य बाह्यघटस्याऽनादिवासनाविशेषप्रबोधोपस्थितस्य शशविषाणस्येवाऽभावग्राहकसमनन्तरे सत्यभावग्रहः सर्वदैव भवति, घटाकारज्ञानस्यापि बाह्यघटाभावग्रहाऽप्रतिरोधित्वात्, विषाणाकारग्रहस्य शशविषाणाभावग्रहाऽप्रतिरोधित्ववत्, अतः किमुच्यते—'योग्यानुपलब्ध्यभावाद् न बाह्यघटाभावग्रहः' इति ? तत्तदभावाकारज्ञाने तत्तत्समनन्तरस्यैव योग्यतात्वात् । न हि परेणाप्येका योग्यता स्वमतानुरोधेनापि वक्तुं शक्यते, तथाहि-प्रतियोगि-तद्व्याप्येतरयावत्प्रतियोग्युपलम्भकसमवधानमुदयनाभिमता योग्यता । न चैकत्र कुत्रापि न यावत्तदुपलम्भकसमवधानमिति वाच्यम्, स्वाश्रयसंबन्धेन तदुपलम्भकतावच्छेदकसमवधानोक्तेः । प्रतियोगिव्याप्यत्वं चात्र न कालिकेन, संनिकर्षस्य घटाद्यव्याप्यत्वात्, घटनाशोत्तरं तन्नाशात्, अणौ पृथिवीत्वाभावग्रहा(?ह)प्रसङ्गात्, महत्त्वादेरपि तद्व्याप्यत्वात्, कालिकेन नित्यव्याप्येतराप्रसिद्धेर्वा । न च दैशिकेन, संनिकर्षस्यापि प्रतियोग्यव्याप्यत्वात्, किन्तु प्रतियोगिग्रहासाधारणकारणत्वम् । अत एव संयोगिनाशजन्यसंयोगनाशप्रत्यक्षम्, तत्र संयोगिनो हेतुत्वेऽप्यसाधारणत्वात् । अत एव च प्रतियोग्युपलम्भप्रागभावस्याभावप्रत्यक्षे हेतुत्वेऽपि न दोषः, तस्याऽसाधारणत्वात् । संसर्गाभावग्रहे चेयं योग्यता, तेन नातीन्द्रियान्योन्याभावप्रत्यक्षानुपपत्तिदोषः । प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नोपलम्भकसमवधानग्रहणाच्च न पिशाचवद्घटाभावप्रत्यक्षता । न च गुणे रूपाभावाऽप्रत्यक्षतापत्तिः, तदुपलम्भकमहत्त्वस्य तत्राभावादिति वाच्यम्, एकार्थसमवायेन तदुपलम्भकमहत्त्वस्य तत्र सत्त्वादित्येतन्निष्कर्षः ।

'प्रत्ययों=ज्ञानकारणों में बाह्यार्थ को ग्रहण करने का स्वभाव नहीं होता अतः बाह्यार्थ-ग्रहण नहीं होता'-इस कथन से भी बौद्ध को इष्टसिद्धि यानी बाह्यार्थ के असत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि तद्वस्तु को ग्रहण करने के स्वभाव से हीन कारणों से तद्वस्तु का ग्रहण न होने के कारण तद्वस्तु एवं तद्वस्तुग्रहण का असत्त्व माना जायगा तो अतिप्रसंग होगा। जैसे, पीतग्रहण का स्वभाव जिसमें नहीं है उससे पीत का ग्रहण नहीं होता, किन्तु केवल इतने से पीत का अथवा पीतग्रहण का अभाव नहीं होता किन्तु उक्त हेतु से यदि वस्तु का और वस्तुग्रहण का अभाव माना जायगा तो पीत और पीतग्रहण के अभाव की भी आपत्ति होगी।

बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-भावस्थैर्यवादी दर्शनों के अभ्यास से जो भावस्थैर्य की वासना मनुष्य में बन जाती है उस वासना का उद्बोधन होने पर बाह्य घट की उपस्थिति होती है, जिससे उसे घटाकारज्ञान होता है। किन्तु उस ज्ञान के होने पर भी बाह्यघटाभाव का ज्ञान हो सकता है। क्योंकि वासनामूलक घटज्ञान बाह्य घटाभाव ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है। जैसे, शशविषाण के भ्रम से उत्पन्न अनादि वासना के उद्बोधन से शश-विषाण की उपस्थिति होती है किन्तु अभाव के ग्राहक समनन्तरप्रत्ययरूप कारण का सन्निधान होने पर उसका अभावज्ञान सर्वदा होता है। विषाणाकार ज्ञान उक्त वासना से प्रादुर्भूत होने पर भी उससे शश-विषाणाभाव के ज्ञान का प्रतिबन्ध नहीं होता। अतः बाह्यार्थवादी का यह कथन कि योग्यानुपलब्धि के अभाव से बाह्यघटा-भाव का ग्रहण नहीं हो सकता—निराधार है। तत्तदभावाकारज्ञान में तत्तत्समनन्तरप्रत्यय ही योग्यता है। अतः योग्यानुपलब्धि का अभाव बताना संगत नहीं है। इस पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि—'तत्तदभावाकार ज्ञान में तत्तत्समनन्तर प्रत्यय की योग्यता मानने पर सम्पूर्ण अभावज्ञान के लिये अनुगत योग्यता का प्रतिपादन न हो सकने से 'योग्यानुपलब्धि अभाव की ग्राहक है' यह सामान्य व्यवस्था नहीं बन सकती'-क्योंकि बाह्यार्थवादी भी अपने मतानुसार किसी एक अनुगत योग्यता का निर्वचन नहीं कर सकते। उन्हें भी तत्तदभावग्रहण करने के लिये उन अभावों के प्रतियोगी की अनुपलब्धि की सहकारीभूत योग्यता को भिन्न-भिन्नरूप में ही स्वीकार करना होगा।

[उदयनकृत योग्यता का निर्वचन दोषपूर्ण]

जैसे, उदयनाचार्य ने 'प्रतियोगी और प्रतियोगीव्याप्य इन दोनों से भिन्न प्रतियोगी-उपलम्भ के समस्त कारणों के समवधान' को योग्यता कहा है। किन्तु इसका तर्कशुद्ध निर्वचन नहीं हो सकता-क्योंकि किसी भी अभाव के प्रतियोगी के उपलम्भक, प्रतियोगी और प्रतियोगीव्याप्य से इतर जितने साधन होते हैं उन सबका समवधान कहीं भी एकत्र नहीं हो सकता। जैसे, घटाभाव का प्रति-योगी घट होता है। घट और घटव्याप्य से इतर घट के उपलम्भ के साधनों में आश्रयगतमहत्त्व-उद्भूतरूप और आश्रय में आलोक का सन्निधान भी आता है। किन्तु घट का उपलम्भ किसी एक ही आश्रय में नहीं होता, विभिन्नाश्रयों में होता है, अतः विभिन्न आश्रयों का उद्भूतरूप, महत्त्व और आश्रयों में विद्यमान आलोक घटोपलम्भक समग्र साधनों में आ जाते हैं किन्तु सबका समवधान किसी एक आश्रय में नहीं हो सकता, क्योंकि एक आश्रयगत जो उद्भूतरूपादि है अन्य आश्रय में नहीं रह सकते।

यदि इसके विरुद्ध यह कहा जाय कि-'प्रतियोगी उपलम्भक सभी साधनों का समवधान योग्यता नहीं है, किन्तु प्रतियोगी के यावत्उपलम्भकतावच्छेदक का स्वाश्रयसम्बन्ध से समवधान ही

योग्यता है। इस प्रकार की योग्यता मानने पर पूर्वोक्त दोष को अवकाश नहीं है, क्योंकि घट के यावत्उपलम्भकतावच्छेदक में महत्त्वत्व-उद्भूतरूपत्व-आलोकत्व आदि का समावेश होगा और वे सभी-स्वाश्रय सम्बन्ध से उन आश्रयों में विद्यमान हैं जहाँ घट और घटेन्द्रियसंनिकर्ष होने पर घट का उपलम्भ होता है।'–किन्तु योग्यता का यह निर्वचन भी समीचीन नहीं हो सकता, क्योंकि इसके शरीर में जो प्रतियोगीव्याप्यत्व निविष्ट है उसके सम्बन्ध में इस प्रश्न का उचित समाधान शक्य नहीं है कि प्रतियोगीव्याप्यत्वकालिक सम्बन्ध से ग्राह्य है अथवा दैशिक सम्बन्ध से ?

यदि कालिक सम्बन्ध से प्रतियोगीव्याप्यत्व की विवक्षा की जायेगी तो घट के साथ चक्षु का संयोगरूप संनिकर्ष घटव्याप्य नहीं होगा क्योंकि जब घटनाश के बाद घट-चक्षुसंयोग का नाश होगा तब घटनाश को उत्पत्तिकाल में घटचक्षुसंयोग रहता है किन्तु घट नहीं रहता अतः घट-चक्षु संयोग घटव्याप्य से इतर हो जायगा, जब वह घटव्याप्य से इतर हो गया तब उसका संनिधान अपेक्षित होगा किन्तु घटाभाव प्रत्यक्ष के पूर्व वह सम्भव नहीं है। अतः योग्यानुपलब्धि संपन्न न होने से घटाभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

तथा दूसरा दोष यह होगा कि महत्त्व भी कालिकसम्बन्ध से घट का व्याप्य हो जायगा और तब प्रतियोगिव्याप्य से इतर प्रतियोगी उपलम्भक कारणों में उसका समावेश न होने से योग्यता के सन्निधान में महत्त्व की अपेक्षा न होगी अतः अणु में पृथ्वित्वाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी क्योंकि उसमें भी योग्यानुपलब्धि सुलभ हो जायगी। तीसरा दोष यह होगा कि नित्यवस्तु के अभाव की उपलब्धि ही न हो सकेगी क्योंकि उस अभाव का प्रतियोगी नित्य होने से कालिकसम्बन्ध से सभी पदार्थ उसके व्याप्य हो जायेंगे। अतः प्रतियोगी व्याप्येतर की अप्रसिद्धि होने से योग्यता ही दुर्घट हो जायगी।

इसी प्रकार दैशिक सम्बन्ध से भी प्रतियोगीव्याप्यत्व की विवक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि चक्षुघटसंयोग दैशिकसम्बन्ध से घट का व्याप्य नहीं होगा क्योंकि घट का दैशिक सम्बन्ध संयोग अथवा समवाय ही होगा। घटचक्षुसंयोग घट का व्याप्य नहीं होगा क्योंकि घट-चक्षुःसंयोग समवायात्मक दैशिक सम्बन्ध से घट में है किन्तु समवाय अथवा संयोगरूप दैशिक सम्बन्ध से घट में घट नहीं है। अत एव घटचक्षुःसंयोग भी प्रतियोगिव्याप्येतर प्रतियोगी उपलम्भकों में समाविष्ट होगा, किन्तु पूर्ववत् घटाभाव के प्रत्यक्ष के पूर्व उससे घटित योग्यता के असम्भव होने से घटाभावप्रत्यक्ष की अनुपपत्ति होगी।

[परिष्कारयुक्त योग्यता का निर्वचन]

अतः प्रतियोगीव्याप्यत्व का अर्थ प्रतियोगी उपलम्भ का असाधारण कारण करके प्रतियोगी और प्रतियोगीउपलम्भक असाधारण कारणों से भिन्न प्रतियोगीउपलम्भकयावत्साधनों के समवधान को योग्यता मानना होगा। ऐसा मानने पर संयोगी के नाश से जो संयोगनाश होता है उसके प्रत्यक्ष में भी कोई बाधा न होगी, क्योंकि उसके प्रतियोगीभूत संयोग का यद्यपि संयोगी भी उपलम्भक है किन्तु वह संयोगोपलम्भ का असाधारण कारण है। अतः प्रतियोगी उपलम्भ के अन्य साधनों में उसका समावेश नहीं होगा। अत एव उक्तसंयोग नाश के समय संयोगी न रहने पर भी योग्यता रहने में कोई बाधा नहीं होगी। इसी प्रकार, प्रतियोगी के उपलम्भ का प्रागभाव भी प्रतियोगी के प्रत्यक्ष में हेतु है, किन्तु वह भी उसका असाधारण कारण है अत एव प्रतियोगी उपलम्भ के अन्य

कारणों में उसका भी समावेश नहीं होगा अतः वायु में रूपाभाव के प्रतियोगी रूप का उपलम्भक-प्रागभाव न होने पर भी वायु में रूपाभाव के प्रत्यक्ष में अपेक्षित योग्यता अक्षुण्ण रहने से वायु में रूपाभाव के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति नहीं होगी।

[अन्योन्याभावप्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार]

इस संदर्भ में यह ध्यान रखने की बात है कि प्रस्तुत योग्यता संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में अपेक्षित है, अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में नहीं। अतः स्तम्भ में अतीन्द्रिय पिशाचादि के अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती। संसर्गाभाव प्रत्यक्ष में भी प्रतियोगी और प्रतियोगी उपलम्भ के असाधारण कारण से भिन्न प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न के यावत् उपलम्भ साधनों का समवधान ही योग्यता के रूप में ग्राह्य है। अत एव 'पिशाचवद्घटो नास्ति' इस प्रकार के पिशाचावच्छिन्न-घटनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती। गुण में रूपाभाव के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि रूपाभाव के प्रतियोगी रूपउपलम्भ के प्रति महत्त्व समवायसम्बन्ध से कारण न होकर एकार्थसमवाय यानी स्वसमवायिसमवाय सम्बन्ध से कारण होता है और इस सम्बन्ध से घटादिगत महत्त्व घटादिगत गुण में भी है, अतः गुण में भी रूपाभावप्रत्यक्ष को अपेक्षित योग्यता विद्यमान होने से उसमें भी रूपाभाव का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है।

सोऽयमनुपपन्नः, असाधारणत्वस्य दुर्वचत्वात्, विषयतासंबन्धेन हेतुत्वरूपाऽसाधारणत्वविवक्षण आलोकसंयोगादेरप्यसाधारणत्वापत्तौ तमसि घटाभावादेः प्रत्यक्षतापातात्, प्रागभावादेरपि साधारणत्वात् उपलम्भपदेन प्रतियोगितावच्छेदकाश्रयाणां यावतामुपलम्भस्वरूपयोग्यत्वग्रहणे महति वायावुद्भूतरूपाभावाऽप्रत्यक्षतापत्तेः, अणुरूपोपलम्भाऽप्रसिद्धेः, यत्किञ्चिदुपलम्भयोग्यत्वग्रहणे च रूपसामान्याद्यभावप्रत्यक्षतापत्तेः। किञ्च, यत्किञ्चित्संबन्धेन तदुपलम्भकतावच्छेदकाश्रयसत्त्वमतिप्रसक्तम्, नियतसंबन्धेन च रूपादेर्वायावभावात् तत्र तदभावप्रत्यक्षतानापत्तिः।

[परिष्कृत योग्यता निर्वचन में त्रुटियाँ]

सो इस प्रकार यद्यपि उदयनाचार्य सम्मत योग्यता का परिष्कृत निर्वचन आपाततः सम्भव प्रतीत होता है, किन्तु व्याख्याकारसूचित रीति से विचार करने पर यह भी संगतिपूर्ण प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रतियोगिउपलम्भ के असाधारणकारणत्व की व्याख्या दुर्वच है। जैसे, यदि प्रतियोगी उपलम्भ के असाधारणकारण का अर्थ किया जायगा 'विषयतासम्बन्ध से प्रतियोगीउपलम्भ के प्रति कारण' तो आलोकसंयोग भी घटाभाव प्रतियोगी घट के उपलम्भ का असाधारणकारण हो जायगा क्योंकि विषयतासम्बन्ध से घट उपलम्भ के प्रति आलोकसंयोग समवाय सम्बन्ध से कारण होता है। फलतः प्रतियोगी उपलम्भ के इतर कारणों में आलोकसंयोग का संनिवेश न होने से उसके अभाव में भी योग्यता उपपन्न हो सकेगी, अतः अन्धकार में भी घट की योग्यानुपलब्धि बन जाने से घटाभावादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी।

दूसरा दोष यह होगा कि प्रतियोगी के उपलम्भ का प्रागभाव भी प्रतियोगी उपलम्भ का असाधारण कारण न होगा क्योंकि वह आत्मनिष्ठ होने के कारण विषयनिष्ठ न होने से विषयतासम्बन्ध

से प्रतियोगीउपलम्भ का कारण न होगा। अतः प्रतियोगीउपलम्भ के अन्य साधनों में ही उसका समावेश होगा, फलतः वायु में रूपाभाव के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति होगी। इन सबके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि योग्यता के शरीर में प्रतियोगीउपलम्भकपद से यदि प्रतियोगितावच्छेदकाश्रय जितने हो उन सभी के उपलम्भक स्वरूपयोग्य का ग्रहण किया जायगा तो वायु में उद्भूतरूपाभाव का प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि उद्भूतरूपत्वस्वरूप प्रतियोगितावच्छेदक के यावद् आश्रयों में परमाणु और द्व्यणुक का भी उद्भूतरूप आयेगा और उसका उपलम्भ अप्रसिद्ध है। यदि उक्त शब्द से प्रतियोगितावच्छेदकाश्रय यत्किञ्चित् प्रतियोगी के उपलम्भ के प्रति स्वरूपयोग्य का ग्रहण किया जायगा तो रूपसामान्याभाव आदि के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। क्योंकि रूपसामान्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदकरूपत्व के यत्किञ्चित् आश्रय रूपसामान्य का उपलम्भ प्रसिद्ध है।

[यत्किंचित् सम्बन्ध से उपलम्भकसमवधान मानने पर अतिप्रसंग]

यह भी विचारणीय है कि प्रतियोगीउपलम्भकतावच्छेदक के आश्रयों की यत्किञ्चित् सम्बन्ध से सत्ता को योग्यताघटक माना जायगा तो अतिप्रसक्ति होगी। जैसे, घटोपलम्भकतावच्छेदक के आश्रय उद्भूतरूप-महत्त्व आलोक की कालिकसम्बन्ध से सत्ता उद्भूतरूपशून्य-महत्त्वशून्य-आलोकशून्य देश में भी रहेगी। अतः उन देशों में भी घटाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। यदि नियत सम्बन्ध से अर्थात् प्रतियोगी के उपलम्भकतावच्छेदक का जो आश्रय जिस सम्बन्ध से प्रतियोगी उपलम्भ का कारण होता है उस सम्बन्ध से उस आश्रय की सत्ता को योग्यताघटक माना जायगा तो वायु में रूपाभाव के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति होगी। क्योंकि, रूपाभाव के प्रतियोगी रूप के यावत् उपलम्भकों में उद्भूतरूप भी समाविष्ट होगा। वह इस प्रकार–प्रतियोगी उपलम्भक का अर्थ है प्रतियोगीउपलम्भ निष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावान्। विशेष्यतासम्बन्ध से द्रव्यविशेष्यक भावविशेषणक चाक्षुष प्रत्यक्ष में समवाय सम्बन्ध से उद्भूतरूप कारण माना जाता है। क्योंकि उद्भूतरूपरहितद्रव्य में किसी भावपदार्थ का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः रूपोपलम्भ भी भावविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष है अत एव रूपोपलम्भनिष्ठजन्यता शब्द से द्रव्यविशेषणक चाक्षुषप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नजन्यता भी गृहीत होगी। अत एव उद्भूतरूप भी रूपोपलम्भक यावत् के मध्य में प्रविष्ट होगा क्योंकि उसका परिहार प्रतियोगी और प्रतियोगीव्याप्येतरत्व से नहीं हो सकता है, क्योंकि 'प्रतियोगीव्याप्य का प्रतियोग्युपलम्भासाधारणकारण' ऐसा अर्थ कर देने पर प्रतियोगी भी उसी से गृहीत हो जाता है अतः प्रतियोगी भिन्नत्व का निवेश निरर्थक हो जाता है। एवं प्रतियोग्युपलम्भक आसाधारणकारण से भिन्नत्व का भी निवेश प्रतियोग्युपलम्भ के साधारण कारणों में नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा निवेश करने पर घटाभावग्रह में अपेक्षित योग्यता में चक्षु का भी सन्निवेश नहीं होगा, क्योंकि घटचक्षुःसंयोगाभावदशा में घटचाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार करने के लिये घटनिष्ठविषयतासम्बन्ध से घटविषयक चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति घटानुयोगिक संयोग सम्बन्ध से चक्षु को कारण मानना पड़ता है। अतः चक्षु घटोपलम्भ का असाधारण कारण होने से घटचाक्षुष के असाधारण कारणों से भिन्न घटोपलम्भ कारणों में नहीं आ सकता। अतः उसके अभाव में भी घटाभावोपलम्भक योग्यता बन जाने से अन्धे को भी घटाभाव के चाक्षुष की आपत्ति होगी। अत एव योग्यता के शरीर में प्रतियोग्युपलम्भ के असाधारणकारणभिन्नत्व का प्रतियोग्युपलम्भ के कारणों में निवेश न कर प्रतियोग्युपलम्भनिरूपित असाधारणकारणताभिन्नत्व का प्रतियोग्युपलम्भनिरूपित साधारणकारणता में प्रवेश कर योग्यता का इस प्रकार निर्वचन करना होगा कि 'प्रतियोग्युपलम्भनिरूपित-

असाधारणकारणताभिन्न प्रतियोग्युपलम्भनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदक सकल धर्मों के आश्रय का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से समवधान' योग्यता है। इसका अनिष्ट परिणाम यह होगा कि वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि रूपाभावउपलम्भक योग्यता में रूप का भी समावेश होगा क्योंकि रूपोपलम्भ निरूपित असाधारण कारणता जो उपलभ्यमान रूप में है वह विषयतासम्बन्धावच्छिन्न रूपोपलम्भनिष्ठकार्यतानिरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न है, क्योंकि विषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से विषय कारण होता है। उस कारणता से भिन्न रूपोपलम्भनिष्ठद्रव्यविशेष्यक-भावविशेषणक-चाक्षुषप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नकारणता उद्भूतरूप में है, उस कारणता का अवच्छेदक उद्भूतरूपत्व का आश्रय(रूप) का सन्निधान, कारणतावच्छेदक समवायसम्बन्ध से वायु में नहीं है अतः वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

एतेन 'प्रतियोगिग्राहकत्वाभिमतेन्द्रियजन्यभावविषयकयावद्ग्रहनिष्ठकार्यताभिन्नप्रतियोगिग्रहनिष्ठकार्यताप्रतियोगिककारणताकत्वमसाधारणत्वम्, 'भावविषयक०' इति विशेषणाद् नालोकादेरसाधारण्यम्। प्रतियोगिग्राहकत्वाभिमतेन्द्रियजन्यभावविषयकयावद्ग्रहजनकतावच्छेदकावच्छिन्नं प्रतियोगिभिन्नं यावत्तत्समवधानं योग्यतेति फलितम्। वायौ रूपाभावाऽप्रत्यक्षतावारणाय प्रतियोगिभिन्नेती'ति निरस्तम्, अाक्षण्याभावादेः प्रत्यक्षतापातात्, यावदुपलम्भकावच्छिन्नाभावत्वेन स्वरूपयोग्यत्वेऽविनिगमात्, अभावावच्छिन्नतावदुपलम्भकानामपि हेतुत्वसंभवात्, अनुपलब्धिकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनेन्द्रियादेरभावप्रत्यक्षहेतुत्वोच्छेदाच्च।

[नैयायिकों की ओर से योग्यता का नया निर्वचन]

प्रतियोगी उपलम्भ के असाधारणकारणत्व के दुर्वचत्वापत्ति का परिहार करने के लिये यदि उदयनाचार्य के अनुयायी नैयायिकों की ओर से प्रतियोगिउपलम्भ के असाधारणकारणता का निर्वचन इस प्रकार किया जाय कि 'प्रतियोगिग्राहकत्वरूप से अभिमत इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले भावविषयकयावद्ग्रहनिष्ठ कार्यता से भिन्न जो प्रतियोग्युपलम्भनिष्ठकार्यता, तन्निरूपित कारणतावान् जो हो वही प्रतियोग्युपलम्भ का असाधारण कारण है-ऐसा निर्वचन करने पर आलोक घट के चाक्षुषोपलम्भ के असाधारण कारणों में नहीं समाविष्ट होगा, क्योंकि आलोक चक्षुजन्य भावविषयकयावद्ग्रह का कारण है क्योंकि आलोक के बिना कभी भी भाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः चक्षुजन्य भावविषयकयावद्ग्रहनिष्ठ कार्यता से भिन्न घटचाक्षुष निष्ठकार्यतानिरूपितकारणता आलोक में नहीं है। अतः घटाभावोपलम्भक योग्यता की कुक्षि में आलोक का निवेश होने से अन्धकार में घटाभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती। एवं रूपचाक्षुष का प्रागभाव रूपाभाव के उपलम्भक योग्यता में प्रविष्ट नहीं होगा क्योंकि रूपचाक्षुष का प्रागभाव चक्षुजन्यभावविषयकयावद्ग्रह का कारण नहीं है। अतः वह चक्षुजन्यभावविषयक यावद्ग्रहनिष्ठकार्यता से भिन्न रूपचाक्षुषनिष्ठकार्यतानिरूपित कारणता का आश्रय होने से रूप चाक्षुष के प्रति असाधारण कारण हो जायगा। असाधारणकारण का इस प्रकार निर्वचन करने से योग्यता का स्वरूप यह फलित होता है कि प्रतियोगिग्राहकत्वेन अभिमतेन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले भावविषयक यावद्ग्रह के जनकताव-

च्छेदक से अवच्छिन्न, प्रतियोगिभिन्न जो जो हो उन सब का समवधान योग्यता है। योग्यताकुक्षि में प्रतियोगिभिन्नत्व का निवेश करने से वायु में रूपाभाव के प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि,–यद्यपि रूप भी चक्षुजन्य भावविषयक यावद्ग्रह के जनकतावच्छेदकोद्भूतरूपत्व से विशिष्ट है किन्तु वह रूपाभाव के प्रतियोगी से भिन्न नहीं है, अत एव रूपाभाव के उपलम्भक योग्यता के शरीर में उसका सन्निवेश नहीं है।"

[नैयायिकमत में ब्राह्मणत्वाभाव प्रत्यक्ष की आपत्ति]

किन्तु योग्यता के निर्वचन का नैयायिकों का यह प्रयास भी दोषमुक्त नहीं है। क्योंकि इस प्रकार की योग्यता से विशिष्ट प्रतियोगी के अनुपलब्धि को अभाव का ग्राहक मानने पर शूद्रादि में ब्राह्मण्याभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी क्योंकि उन में ब्राह्मण्याभाव की उपलम्भक उक्तविध योग्यता और ब्राह्मण्य की अनुपलब्धि विद्यमान है। दूसरा दोष यह है कि 'उक्तविध यावत्प्रतियोग्युपलम्भकविशिष्ट अनुपलब्धि' अभाव की ग्राहक है अथवा 'अनुपलब्धिविशिष्ट उक्तविध यावत्प्रतियोग्युपलम्भक' अभाव का ग्राहक है इस में कोई विनिगमना नहीं है। अतः गुरुभूत दो कार्यकारणभाव की आपत्ति होगी। तीसरा दोष यह है कि तथाविधयावत्प्रतियोगिउपलम्भकविशिष्टानुपलब्धि को अभाव प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानने पर, इन्द्रियादि का अनुपलब्धिनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक कुक्षि में प्रवेश हो जाने से उनमें अभावप्रत्यक्षकारणता का लोप हो जायगा, क्योंकि कारणतावच्छेदक प्रथमान्यथासिद्धिग्रस्त होने से कारणलक्षण से गृहीत नहीं हो सकता।

केचित्तु–'यद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिनि प्रतियोगितत्सन्निकर्षविरहमात्रप्रयुक्तो यदधिकरणविशेष्यकलौकिकोपलम्भविषयत्वाभावस्तदधिकरणे तद्धर्मावच्छिन्नाभावो योग्यः। तत्प्रयुक्तत्वं च स्वरूपसंबन्धविशेषः, 'कारणाभावप्रयुक्तः कार्याभावः' इति प्रत्ययात्। अस्ति चेदमालोकादिमतिभूतले, तत्र घटानुपलम्भस्य तन्मात्रप्रयुक्तत्वात्। एवं स्तम्भे पिशाचानुपलम्भेऽपि बोध्यम्, पिशाचत्वादेरयोग्यत्वे मानाभावात्, सहकारिविरहादेव कार्याभावाद् नित्यस्येति व्याप्तेरसिद्धेः। भूतले पिशाचानुपलम्भस्तु न तन्मात्रप्रयुक्तः उद्भूतरूपाभावस्यापि तत्र प्रयोजकत्वात्।

[अधिकरण घटित योग्यता की व्याख्या]

कुछ विद्वानों का यह कहना है कि–

"यद्धर्मविशिष्ट प्रतियोगी में यदधिकरणविशेष्यक लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वाभाव प्रतियोगि और प्रतियोगि के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष इन दोनों के विरहमात्र से प्रयुक्त होता है–तद्धर्मावच्छिन्न अभाव तदधिकरण में प्रत्यक्षयोग्य होता है। इस योग्यता के निर्वचन में जो तादृशोपलम्भविषयत्वाभाव में प्रतियोगी और तत्सन्निकर्षविरहमात्रप्रयुक्तत्व प्रविष्ट है वह जन्यत्व या जन्यजन्यत्वरूप नहीं किन्तु स्वरूपसम्बन्धविशेष है, जो 'कारणाभावात् कार्याभाव'=कार्याभाव कारणाभावप्रयुक्त होता है" इस प्रतीति से ही सिद्ध है। आशय यह है कि कारण के अभाव से होने वाला कार्याभाव कार्यानुत्पत्तिरूप होता है और कार्यानुत्पत्ति का अर्थ होता है कार्यप्रागभाव। वह अनादि होने से न तो कारण भावजन्य हो सकता और न जन्यजन्य ही सकता है किन्तु उसमें कारणभावप्रयुक्तत्व व्यवहृत

होता है अतः इस प्रयुक्तत्व को स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप मानना ही उचित है। तात्पर्य यह है कि कार्याभाव में जो कारणाभाव से प्रयोज्यत्व है वह कार्याभाव और कारणाभाव से अनतिरिक्त उन दोनों का एक सम्बन्ध है और वही उक्त प्रतीति का विषय है। आलोकादिविशिष्टभूतल में घट का अनुपलम्भ घटाभाव और घटेन्द्रियसन्निकर्षाभाव मात्र से प्रयुक्त है। क्योंकि उक्त भूतल में घट और घटेन्द्रिय-सन्निकर्ष से अतिरिक्त घट के सभी उपलम्भक विद्यमान है अतः आलोकादि विशिष्ट भूतल में घटाभाव प्रत्यक्षयोग्य होता है। स्तम्भ में पिशाचत्व का अनुपलम्भ भी स्तम्भ में पिशाचत्व के अभाव और पिशाचत्व के साथ इन्द्रियसंनिकर्षाभावमात्र से प्रयुक्त है। न कि पिशाचत्व की अयोग्यता से प्रयुक्त है, क्योंकि पिशाचत्वादि की अयोग्यता में कोई प्रमाण नहीं है।

[पिशाचत्व प्रत्यक्षापत्ति का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि "पिशाचत्व को योग्य मानने पर कभी न कभी इसके चाक्षुष प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी क्योंकि 'नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यंभावनियमात्'=जो जिस कार्य के प्रति स्वरूपयोग्य एवं नित्य होता है वह कभी न कभी उस कार्य का फलोपधायक अवश्य होता है-यह नियम है"—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य का अभाव सर्वत्र सहकारी कारण के विरह से ही होता है। अतः नित्य में यदि कभी भी सहकारी का संनिधान न हो तो उसमें सर्वदैव कार्य का अभाव हो सकता है, अतः उक्त नियम असिद्ध है। इसलिये पिशाचत्व प्रत्यक्षयोग्य होने से स्तम्भ में पिशाचत्वाभाव भी प्रत्यक्षयोग्य है। जैसे स्तम्भ में पिशाचभेद को प्रत्यक्षयोग्य माना गया है उसी प्रकार पिशाचत्वाभाव भी प्रत्यक्ष योग्य है। किन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि पिशाचत्वा-भाव के समान भूतलादि में पिशाचाभाव योग्य नहीं हो सकता क्योंकि भूतल में पिशाच का अनुपलम्भ पिशाच के और पिशाच इन्द्रिय सम्बन्ध के अभावमात्र प्रयुक्त नहीं है अपितु उद्भूतरूपाभाव भी उसमें प्रयोजक है। उक्त योग्यता संसर्गाभाव-अन्योन्याभाव दोनों के लिए समान है। जैसे पिशाचभेद के पिशाचत्वविशिष्ट पिशाचस्वरूप प्रतियोगी में स्तम्भविशेष्यकलौकिकप्रत्यक्षीयतादात्म्यसम्बन्धा-वच्छिन्नविषयता का अभाव पिशाचरूपप्रतियोगी और पिशाच के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष इन दोनों के विरहमात्र से प्रयुक्त है अतः स्तम्भरूप अधिकरण में पिशाचभेदरूप पिशाचत्वावच्छिन्नअन्योन्याभाव योग्य है, क्योंकि स्पष्ट है कि स्तम्भ और पिशाच में भेद होने के कारण स्तम्भ के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर भी 'स्तम्भ पिशाच है' ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता है इसलिए न तो वहां पिशाच है और न पिशाच के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष भी है।

अस्तु वाऽन्योन्याभावे प्रतियोगितावच्छेदकतत्संनिकर्षविरहमात्रप्रयुक्तस्तदधिकरणीय-लौकिकोपलम्भप्रकारत्वाभावः प्रतियोगितावच्छेदकनिष्ठ एव तथा, पिशाचादेरनुपलम्भस्या-ऽयोग्यत्वप्रयोज्यत्वेऽपि पिशाचत्वादेः स्तम्भेऽनुपलम्भस्याऽतथात्वात्, योग्यव्यक्तिवृत्तित्वेनैव जातेर्योग्यत्वात्। अत्यन्ताभावे तु पूर्वैव योग्यता। अत एव न जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभाव-प्रत्यक्षम्, तत्र तदनुपलम्भस्य तन्मात्रप्रयुक्तत्वाऽभावात्, अधिकरणे महत्त्वाभावस्यापि प्रयोजकत्वात्। ब्राह्मण्याभावस्तु शूद्रादौ न प्रत्यक्षः, विशुद्धिज्ञानस्य तद्व्यञ्जकस्याभावात्। न च य एव गगनादौ भूतलविशेष्यकोपलम्भविषयत्वाभावः, स एव घटादौ, आश्रयभेदेनाभावा-

भेदादित्यनुपपत्तिः, व्याप्यवृत्तित्वाऽव्याप्यवृत्तित्वाभ्यां तद्भेदात्, यद्धर्मावच्छिन्नाऽप्रतियोगित्वावच्छेदेनोक्तत्वविवक्षणाद् वा। संयोगप्रत्यक्षे च न संयोगिद्वयप्रत्यक्षमपि हेतुः, मिथः संयुक्तयोरन्यतरावच्छेदेनोपलम्भेऽपि संयोगाऽप्रत्ययात्, संयोगिनः संनिकर्षघटकतयैवोपयोगित्वात्, इति न तदभावप्रत्यक्षानुपपत्तिः'' इत्याहुः।

[अन्योन्याभाव प्रत्यक्ष के लिये अन्य रीति से योग्यता की व्याख्या]

अथवा संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के लिये भिन्न भिन्न प्रकार से योग्यता का निर्वचन किया जा सकता है। जैसे, अन्योन्याभाव के लिये योग्यता का निर्वचन इस प्रकार होगा—जिस अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक में यदधिकरणविशेष्यक लौकिक प्रत्यक्ष की प्रकारता का अभाव प्रतियोगितावच्छेदक और प्रतियोगितावच्छेदक के साथ इन्द्रिय संबंध के विरह मात्र से प्रयुक्त होता है वह अन्योन्याभाव उस अधिकरण में प्रत्यक्षयोग्य होता है। पिशाचभेद के प्रतियोगितावच्छेदक पिशाचत्व में स्तम्भविशेष्यक लौकिकप्रत्यक्ष की प्रकारता का अभाव इसीलिये है कि 'स्तम्भ पिशाच है' ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता है क्योंकि स्तम्भरूप अधिकरण में पिशाचत्वरूप प्रतियोगितावच्छेदक का और उसके साथ इन्द्रियसंबंध का अभाव है अतः योग्यता के प्रस्तुत निर्वचन के अनुसार स्तम्भ में पिशाचभेद प्रत्यक्षयोग्य होता है।

[पिशाचत्वानुपलम्भ अयोग्यता प्रयुक्त नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि—''स्तम्भ में जो पिशाचत्व का अनुपलम्भ होता है वह भी पिशाचत्व की अयोग्यता प्रयुक्त होने से प्रतियोगितावच्छेदक-तत्संनिकर्षविरहमात्रप्रयुक्त नहीं है, यह ठीक उसी प्रकार जैसे पिशाच का अनुपलम्भ पिशाच की अयोग्यता प्रयुक्त होने से पिशाच और पिशाच इन्द्रियसम्बन्ध के विरहमात्र से प्रयुक्त नहीं होता'' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पिशाच का अनुपलम्भ यद्यपि अयोग्यता प्रयुक्त है किन्तु पिशाचत्व का अनुपलम्भ अयोग्यताप्रयुक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्तम्भ प्रत्यक्षयोग्य है अतः पिशाचत्व यदि उसमें विद्यमान होता तो योग्य हो जाता क्योंकि जाति की योग्यता योग्य आश्रय में विद्यमान होने से होती है अतः स्तम्भ में पिशाचत्व के अनुपलम्भ को अयोग्यताप्रयुक्त नहीं कहा जा सकता किन्तु पिशाचत्वाभाव और पिशाचत्व के साथ इन्द्रियसंबन्ध विरह प्रयुक्त ही कहा जा सकता है। अत्यन्ताभाव की योग्यता तो वही है जो इससे पूर्व बतायी गयी है। इसीलिये जलपरमाणु में पृथिवीत्वाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि जलपरमाणु में पृथ्वीत्व का अनुपलम्भ पृथ्वीत्व और पृथ्वीत्व के साथ इन्द्रियसंबंध इन उभय के विरहमात्र से प्रयुक्त नहीं होता किन्तु परमाणुरूप अधिकरण में महत्त्व का अभाव भी परमाणु में पृथ्वीत्व के अनुपलम्भ का प्रयोजक होता है।

[ब्राह्मणत्वाभाव प्रत्यक्ष की अनापत्ति]

उक्त योग्यता का अभ्युपगम करने पर शूद्रादि में ब्राह्मण्याभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि शूद्रादि में जो ब्राह्मण्य का अनुपलम्भ है वह ब्राह्मण्य और ब्राह्मण्य के साथ इन्द्रियसम्बन्ध के विरहमात्र से प्रयुक्त नहीं है अपितु ब्राह्मण्य के व्यञ्जक विशुद्धताज्ञान के अभाव से भी प्रयुक्त है। अर्थात शूद्र में जो ब्राह्मण्य का अप्रत्यक्ष होता है वह इसलिये भी नहीं होता है कि

ब्राह्मणादि में जिस विशुद्धता के ज्ञान से ब्राह्मण्य की अभिव्यक्ति होती है शूद्रादि में उस विशुद्धि का ज्ञान नहीं होता ।

[भूतल में घटाभाव अयोग्यता की आपत्ति का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि 'घटादि में जैसे भूतलविशेष्यक उपलम्भविषयत्वाभाव है उसी प्रकार गगनादि में भी है और आश्रयभेद से अभाव का भेद न होने से गगनादिनिष्ठ और घटादिनिष्ट उक्त उपलम्भ विषयत्व के अभाव में ऐक्य है । एवं गगनादि में उक्त अभाव अयोग्यता प्रयुक्त भी है, अत एव उस अभाव में प्रतियोगी और तत्संनिकर्ष उभय के विरहमात्र प्रयुक्तत्व नहीं है । अतः भूतल में घटाभाव अयोग्य हो जायगा" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि गगन में उक्त उपलम्भ विषयत्वाभाव व्याप्यवृत्ति है और घटादि में उक्त अभाव अव्याप्यवृत्ति है, क्योंकि घटादि में उक्त अभाव का प्रतियोगी उपलम्भ विषयत्व भी कभी कभी रहता है, अतः दोनों में भेद है । अत एव भूतल में घटाभाव प्रत्यक्षयोग्य होने में कोई बाधा नहीं हो सकती । अथवा योग्यता का निर्वचन इस प्रकार से करना चाहिये कि यद्धर्मविशिष्टप्रतियोगिकत्वावच्छेदेन-यद्धर्मावच्छिन्नाधिकरणकत्वाव-च्छेदेन यदधिकरणविशेष्यकोपलम्भविषयत्वाभाव में प्रतियोगितत्संबन्धविरहमात्रप्रयुक्तत्व हो तद-धिकरण में तद्धर्मावच्छिन्नाभाव योग्य होता है । गगनादि और घटादि में जो भूतलविशेष्यक लौकिक-प्रत्यक्षविषयत्वाभाव है, वह गगनवृत्तित्वावच्छेदेन घट और घटइन्द्रिय संबंध विरहमात्र प्रयुक्त है । अतः भूतल में घटाभाव की योग्यता निर्बाध है ।

[संयोगाभाव प्रत्यक्ष न होने की शंका का वारण]

यदि यह शंका की जाय कि-'संसर्गाभाव की प्रत्यक्ष योग्यता का उक्त प्रकार से निर्वचन करने पर संयोगाभाव प्रत्यक्षयोग्य न हो सकेगा । क्योंकि, संयोग के प्रत्यक्ष में संयोगिद्वय का प्रत्यक्ष भी कारण होता है, अतः संयोग में भूतलादिविशेष्यक-लौकिकोपलम्भविषयत्वाभाव संयो-गिद्वय के प्रत्यक्षाभाव से भी प्रयुक्त होगा अतः उसमें प्रतियोगी और प्रतियोगी-इन्द्रियसंबंध विरह-मात्र प्रयुक्तत्व नहीं रहेगा फलतः संयोगाभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा" – तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि संयोग प्रत्यक्ष के प्रति संयोगिद्वय के प्रत्यक्ष की कारणता असिद्ध है । क्योंकि जब कोई स्थूल दो द्रव्य परस्पर संयुक्त होते हैं और उन स्थूलसंयोगिद्रव्य का प्रत्यक्ष उस भाग में होता है जिस भाग में उनका परस्पर संयोग नहीं होता उस समय संयोगिद्वय के प्रत्यक्ष होने पर भी संयोगि-प्रत्यक्ष का उदय न होने से उक्त कारणता मानने में अन्वय व्यभिचार है । यदि यह शंका की जाय कि– 'जहां संयोगिद्वय के नाश से संयोग का नाश होता है वहां संयोगिद्वय के नाशकाल में संयोग के प्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार करने के लिये संयोगप्रत्यक्ष के प्रति संयोगिप्रत्यक्ष को कारण मानना आवश्यक है'-तो यह ठीक नहीं है क्यों कि संयोग के प्रत्यक्ष में संयोगी की सत्ता उस प्रत्यक्ष के कारणभूत विषयरूप में अपेक्षित नहीं है किन्तु संयोग के साथ इन्द्रिय संबंध के सम्पादन रूप में अपेक्षित है । आशय यह है कि संयोगी के अभाव में संयोगी द्वारा संयोग के साथ इन्द्रिय संनिकर्ष न होने से ही संयोगनाशकाल में संयोग का अप्रत्यक्ष होता है ।"—

तदपि न, धारावाहिकाभावप्रत्यक्षानुपपत्तेः, तत्र बाधस्याऽप्यनुपलम्भप्रयोजकत्वात् । न च धर्मितावच्छेदकाश्रितोपलम्भस्याभावस्तन्मात्रप्रयुक्त इति स एव वाच्यः, बाधाभावोऽपि

वा विरहप्रतियोगिकोटौ निवेश्य इति वाच्यम्, तथापि भूतले घटानुपलम्भस्य घटालोकसंयोगाभावप्रयुक्तत्वेन तन्मात्रप्रयुक्तत्वाऽभावात् ।

[अधिकरणघटित योग्यता की व्याख्या त्रुटिपूर्ण]

निम्नोक्त रीति से विचार करने पर कतिपय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया गया योग्यता का यह उक्त निर्वचन भी समीचीन प्रतीत नहीं होता । उक्त योग्यता का स्वीकार करने पर अभाव के धारावाहीप्रत्यक्ष की उपपत्ति न होगी । क्योंकि उस स्थल में पूर्वपूर्वक्षण में होने वाला अभाव प्रत्यक्ष बाधनिश्चयविधया उत्तरोत्तरक्षण में प्रतियोगी के अनुपलम्भ का प्रयोजक होगा । अतः उत्तरोत्तरक्षण में भूतलादिविशेष्यक घटादिविशेषणक अनुपलम्भ में पूर्व पूर्व क्षणोत्पन्न बाधनिश्चयप्रयुक्तत्व भी रहने से प्रतियोगीतत्संनिकर्षविरहमात्रप्रयुक्तत्व न होने के कारण उत्तरोत्तर क्षण में भूतलादि में घटादि का अभाव प्रत्यक्षयोग्य नहीं होता ।

अभाव के धारावाहिक प्रत्यक्ष की उपपत्ति के लिये यदि यह कहा जाय कि–"यदधिकरणविशेष्यक-निर्धर्मितावच्छेदककलौकिकोपलम्भविषयत्वाभाव यद्धर्मविशिष्ट में प्रतियोगितत्संनिकर्ष-विरहमात्रप्रयुक्त हो तदधिकरण में तद्धर्मावच्छिन्नाभाव योग्य होता है"–तो ऐसा कहने पर यद्यपि अभाव के धारावाहिक प्रत्यक्ष की उपपत्ति तो हो जायगी, क्योंकि धारावाहिक प्रत्यक्षस्थल में जो 'भूतलं' 'घटाभावः' इस प्रकार का बाध निश्चय होता है वह 'भूतलं घटवत्' इसी बुद्धि का विरोधी हो सकता है, किन्तु 'घटवत्' इस निर्धर्मितावच्छेदककबुद्धि यानी धर्मितावच्छेदकानवगाही बुद्धि का विरोधी नहीं हो सकता । अत एव उत्तरोत्तर क्षण में घटादि में जो इस उपलम्भविषयत्व का अभाव होता है वह बाधप्रयुक्त नहीं अपितु प्रतियोगीसंनिकर्षविरहमात्र प्रयुक्त होता है । उक्त आपत्ति का परिहार करने के लिये दूसरा उपाय यह भी है कि योग्यता के लक्षण में प्रविष्ट विरह के प्रतियोगी कोटि में बाधाभाव का भी प्रवेश करके योग्यता का निर्वचन इस प्रकार किया जाय कि "यद्धर्मविशिष्ट में यदधिकरणविशेष्यक लौकिकोपलम्भविषयत्वाभाव प्रतियोगी उसका संनिकर्ष तथा बाधाभाव इन तीनों के विरहमात्र से प्रयुक्त हो, तद्धर्मावच्छिन्न का अभाव तदधिकरण में योग्य होता है । तथापि घटालोकसंयोगाभाव को लेकर आपत्ति आयेगी क्योंकि भूतल में घट का अनुपलम्भ घटालोकसंयोग के अभाव से भी प्रयुक्त होता है, अतः प्रतियोगी, तत्संनिकर्ष, बाधाभाव तीनों के विरहमात्र से प्रयुक्तत्व न होने से भूतल में घटाभाव की योग्यता न हो सकेगी ।

न च तत्तत्संनिकर्षातिरिक्तप्रतियोग्युपलम्भकतावच्छेदकावच्छिन्नविरहप्रयुक्त इति मात्रान्तार्थः, भूतले आलोकसंयोगसत्त्वाद् न तद्विरहः, द्रव्यचाक्षुषे आलोकसंयोगत्वेनैव हेतुत्वात्, अतिप्रसङ्गस्य विषयनिष्ठसामानाधिकरण्येनैव वारितत्वात्, अत एव घटाकाशसंयोगाद्यनध्यक्षत्वस्य घटाकाशसंयोगादीनां गुरुत्वादिवदयोग्यत्वेन प्रयुक्तत्वेऽपि न क्षतिः, गुरुत्वादिभेदस्य सामान्यत एव प्रत्यक्षहेतुत्वादिति वाच्यम्, संनिकर्षस्यापि त्यागापत्तेः, यद्विरहमात्रप्रयुक्तत्वोपादानेऽपि दोषाभावाचक्षुःसंयोगत्वेनैव चाक्षुषहेतुत्वात्, घटाभावभ्रमानुपपत्तेश्च, तत्र घटानुपलम्भस्य दोषप्रयुक्तत्वात् । न च तत्तद्दोषाभावोऽपि तत्तुल्यतया निवेश्यः, ह्रदादौ वह्न्यादि-

भ्रमाभावरूपवह्नयाद्यनुपलम्भस्य दोषाभावप्रयुक्तत्वात्, तत्तद्दोषाणामपि तत्तुल्यतया निवेशे चातिगौरवात्, भङ्ग्यन्तरेणोदयनीययोग्यतोक्तिरेवेयमिति दिक्।

[द्रव्यचाक्षुष में आलोक संयोग सामान्य हेतुता की शंका]

इस दोष के परिहार के लिये यदि ऐसा कहा जाय कि –

'प्रतियोगी और प्रतियोगी-इन्द्रियसंनिकर्ष के अभाव से अतिरिक्त जो प्रतियोगीउपलम्भजनकतावच्छेदकावच्छिन्न का अभाव, उससे प्रयुक्त यदधिकरणविशेष्यक लौकिकोपलम्भविषयत्वाभाव यद्धर्मविशिष्ट में हो, तद्धर्मावच्छिन्न का अभाव तदधिकरण में योग्य होता है। तब यह आपत्ति है कि भूतल में घटानुपलम्भ घट और घटेन्द्रियसंनिकर्ष के अभाव से अतिरिक्त जो घटोपलम्भजनकतावच्छेदकावच्छिन्नाभाव, उससे अप्रयुक्त होने से घटाभाव अयोग्य होगा क्योंकि घटालोकसंयोगत्व यह घटोपलम्भ का जनकतावच्छेदक नहीं है अपितु आलोकसंयोगत्वमात्र है, वह इस प्रकार कि विषयतासम्बन्ध से द्रव्यविषयक चाक्षुषमात्र के प्रति समवायसम्बन्ध से आलोकसंयोग कारण है, इस कार्यकारणभाव में अन्य द्रव्यालोकसंयोग से द्रव्यान्तर के प्रत्यक्ष का अतिप्रसंग न होने से यह सामान्यकार्यकारणभाव ही लाघव से मान्य है किन्तु 'तत्तद्द्रव्यविषयकचाक्षुष में तत्तद्द्रव्यालोकसंयोग भी कारण है' यह कार्यकारणभाव मान्य नहीं है। फलतः प्रतियोगीउपलम्भ का जनकतावच्छेदक घटालोकसंयोगत्व नहीं, किन्तु आलोकसंयोगत्व है और तदवच्छिन्नाभाव, घट में आलोकसंयोग न होने पर भी भूतल में आलोकसंयोग विद्यमान होने के कारण अविद्यमान है। अतः उससे अप्रयुक्तत्व भूतलनिष्ठघटानुपलम्भ में अक्षुण्ण है।

[घटाकाशसंयोगाभाव में योग्यत्व की आपत्ति का निवारण]

इस पर यह शंका की जाए कि–"घटाकाशसंयोग का भी अनुपलम्भ प्रतियोगीविरह और प्रतियोगिसंनिकर्षविरह से अतिरिक्त प्रतियोगिउपलम्भजनकतावच्छेदकावच्छिन्नाभाव से अप्रयुक्त है, क्योंकि घटाकाशसंयोग का अनुपलम्भ उपलम्भकारणअभाव से नहीं होता किन्तु घटाकाशसंयोग की अयोग्यता से होता है। इसलिये घटाकाशसंयोगाभाव भी योग्य हो जायगा"–तो यह शंका नहीं की जा सकती क्योंकि गुरुत्व-घटाकाशसंयोगादि जितने भी अतीन्द्रिय पदार्थ हैं और जो उद्भूतरूपवन्महद्द्रव्यनिष्ठ और चक्षुसन्निकृष्ट होने से उनका प्रत्यक्ष प्रसक्त है–उन सभी का भेद सामान्यरूप से चाक्षुषप्रत्यक्ष का कारण है। अत एव घटाकाशसंयोग में चाक्षुष के कारणतावच्छेदक गुरुत्वादिभेदत्वावच्छिन्न का अभाव उन अतीन्द्रिय पदार्थों के अनुपलम्भ का प्रयोजक है, अतः घटाकाशसंयोग के अनुपलम्भ में प्रतियोगिविरह और प्रतियोगिइन्द्रियसंनिकर्षविरह से अतिरिक्त प्रतियोगिउपलम्भजनकतावच्छेदकावच्छिन्नाभाव-प्रयुक्तत्व होने से घटाकाशसंयोगाभाव में योग्यत्व की आपत्ति नहीं हो सकती है।"

[प्रतियोगिसंनिकर्षविरह के निवेश की व्यर्थता]

तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार योग्यत्व का निर्वचन करने पर संनिकर्ष का भी योग्यता के शरीर में से त्याग कर देना उचित होगा। क्योंकि प्रतियोगिविरहमात्रप्रयुक्तत्व को रखने पर भी कोई दोष न होगा। वह इस प्रकार- चक्षुसंयोगत्वरूप से चक्षुसंयोग सामान्य को चाक्षुष सामान्य

के प्रति लाघव से कारण माना जाएगा। अत एव चक्षुःसंयोगाभाव भी प्रतियोगिउपलम्भजनकतावच्छेदकावच्छिन्नाभाव में प्रविष्ट होगा और वह प्रतियोगी के साथ चक्षुःसंयोग न होने पर भी अधिकरण के साथ चक्षु संयोग होने से अविद्यमान होगा अतः भूतलनिष्ठघटानुपलम्भ में घटाभाव से अतिरिक्त प्रतियोग्युपलम्भजनकतावच्छेदकावच्छिन्नाभाव का अप्रयुक्तत्व होने से भूतलनिष्ठघटाभाव की योग्यता में कोई बाधा न होगी।

[घटाभावभ्रम की अनुपपत्ति का दोष]

पूर्वोक्त योग्यता के निर्वचन में दूसरा दोष यह है कि घटवद्भूतल में घटाभावभ्रम की भी अनुपपत्ति हो जायगी क्योंकि घटवद्भूतल में घटानुपलम्भ दोषप्रयुक्त है और दोष प्रतियोगिविरह एवं प्रतियोगिइन्द्रियसंनिकर्षविरह से अतिरिक्त दोषाभावरूप प्रतियोग्युपलम्भक का अभावरूप है। अतः घटवद्भूतलनिष्ठघटानुपलम्भ में प्रतियोगिविरह व प्रतियोगिइन्द्रियसंनिकर्षविरह से अतिरिक्त प्रतियोग्युपलम्भकतावच्छेदकावच्छिन्न का अभाव जो दोषरूप है तत्प्रयुक्तत्व ही है, अप्रयुक्तत्व नहीं है; इसलिये घटवद्भूतल में घटाभाव योग्य न हो सकने से घटवद्भूतल में घटाभाव का भ्रम न हो सकेगा। यदि विरहप्रतियोगीकोटि में प्रतियोगी के समान तत्तद्दोषाभाव का भी प्रवेश कर दिया जाय तो 'तत्तद्दोषाभाव विरहातिरिक्त' शब्द से दोष का ग्रहण न हो सकने से यद्यपि घटवद्भूतल में घटाभाव के भ्रम की अनुपपत्ति तो नहीं होगी, किन्तु ह्रद में वह्न्यभाव अयोग्य हो जायगा क्योंकि ह्रद में वह्नि का अनुपलम्भ वह्निभ्रमाभावरूप है अत एव दोषाभावप्रयुक्त है अतः प्रतियोगीविरहातिरिक्त प्रतियोग्युपलम्भकतावच्छेदकावच्छिन्नाभाव में दोषाभाव भी आ गया क्योंकि ह्रद में वह्निरूप प्रतियोगि के उपलम्भ का जनक है दोष। अतः एक दोषाभाव भी प्रतियोगिउपलम्भकाभावरूप है। तत्प्रयुक्तत्व ही वह्निभ्रमाभावरूप वह्नि के अनुपलम्भ में है अतः ह्रद में वह्न्यभाव के योग्य न होने से ह्रद में वह्न्यभाव प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति हो जायगी।

[प्रतियोगिअंश में दोष निवेश करने पर महान् गौरव]

यदि विरहप्रतियोगि कोटि में प्रतियोगी और तत्तद्दोषाभाव के समान तत्तद्दोष का भी निवेश करेंगे तो यद्यपि तत्तद्दोष विरह और प्रतियोगी आदि के विरह से भिन्न जो प्रतियोग्युपलम्भक का अभाव उसका अप्रयुक्तत्व ह्रदनिष्ठवह्नि के अनुपलम्भ में रहने से ह्रद में वह्न्यभाव की अयोग्यता की आपत्ति का परिहार तो हो जायगा किन्तु तथापि योग्यता के शरीर में प्रतियोग्युपलम्भकाभाव में अनेक प्रतियोगिआदिविरहातिरिक्तत्व के निवेश में गौरव होगा क्योंकि जब अनेक विरहभेद का निवेश करना होगा तो एकैकविरहभेदविशिष्टापरापरविरहभेदत्वेनैव निवेश करना होगा और भेदों के विशेषणविशेष्यभाव में विनिगमनाविरह होने के कारण ये सम्पूर्णभेद और उस विरह के प्रतियोगीभूतविरह और उस विरह के प्रतियोगीभूत-प्रतियोगी-तत्तद्दोषाभाव और तत्तद्दोषादि का तत्तद्विरहातिरिक्त प्रतियोग्युपलम्भकतावच्छेदकावच्छिन्नाभावप्रयुक्तत्वाभाव का प्रतियोगीतावच्छेदकता कोटि में निवेश होगा, अतः गुरुतर उक्त अप्रयुक्तत्व का प्रतियोग्युपलम्भ में अथवा प्रतियोगिनिष्ठ यदधिकरणविशेष्यक लौकिकविषयत्वाभाव में निवेश करने से अति महान् गौरव की प्रसक्ति होगी।

उक्त सभी दोषों से अतिरिक्त एक दोष यह है कि योग्यता का यह निर्वचन प्रकारान्तर से उदयनाचार्य के योग्यतानिर्वचन में ही पर्यवसित होगा। क्योंकि उन्होंने अभावग्रहादि योग्यता का समर्थन उसी अधिकरण में किया है जिसमें प्रतियोगी और प्रतियोगी इन्द्रिय संनिकर्ष से अतिरिक्त

सकल प्रतियोगी-उपलम्भकों का समवधान हो। यही बात प्रकृतयोग्यता के निर्वचन से भी प्राप्त होती है क्योंकि प्रतियोगी-प्रतियोगीइन्द्रियसंनिकर्षविरह से अतिरिक्त जो प्रतियोग्युपलम्भक का अभाव, प्रतियोगी के अनुपलम्भ में तत्प्रयुक्तत्व भी उसी अधिकरण में होगा जहाँ प्रतियोगी के अन्य सम्पूर्ण उपलम्भक विद्यमान होंगे। अतः दोनों योग्यता में केवल शाब्दिक भेद है- तात्त्विक भेद कुछ भी नहीं रहता।

'प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोग्युपलम्भाभावः' इति **चिन्तामणिकारीया** योग्यता, प्रतियोगिसत्त्वव्यापकोपलम्भविषयप्रतियोगिकाभावत्वं योग्यतावच्छेदकमिति फलितम्। नत्वापादनात्मकज्ञानमप्युपयुज्यते, तदभावेऽप्यभावप्रत्यक्षात्। तत्र शुद्धं प्रतियोगिसत्त्वं व्याप्यम्? किञ्चिदवच्छिन्नं वा?। नाद्यः, तत्सत्त्वेऽपि कारणान्तराभावादनुपलम्भेन व्यभिचारात्। न द्वितीयः, जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावप्रत्यक्षतापातात्, तत्रापि महत्त्वादिविशिष्टपृथिवीत्वेनोपलम्भापादनसंभवात्। न च पत्ताऽवृत्तिविशेषणानवच्छिन्नयत्सत्त्वोक्तौ निस्तारः, तथापि गन्धवदणुभिन्नत्वे सति पृथिवीत्वेन तत्र तदापादनसंभवात्।

[चिन्तमणिकार विरचित योग्यता लक्षण की समीक्षा]

तत्त्वचिन्तामणिकार का मत यह है कि प्रतियोगी की सत्ता-प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगी के प्रसञ्जन आरोप से जन्य प्रसञ्जन-आरोप का विषयभूत जो प्रतियोग्युपलम्भ, उसका अभाव योग्यता है। उनका आशय यह है कि जिस अधिकरण में जिस अभाव के प्रतियोगी का प्रतियोगितावच्छेदकता संबन्ध से आरोप होने पर उसके प्रतियोगीउपलम्भ का आरोप हो सकता है, उस अधिकरण में वह अभाव प्रत्यक्षयोग्य होता है। जैसे आलोकसंयुक्त-महत्त्व-उद्भूतरूपविशिष्ट भूतलादि में घट की असत्त्व दशा में इसप्रकार का आरोप हो सकता है कि 'यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत'—अथवा 'यद्येष देशः घटवान् स्यात् तर्हि घटवत्तयोपलभ्येत, विशेष्यता संबन्धेन घटोपलम्भवान् स्यात्'-अर्थात् आलोकादियुक्त भूतल में यदि घट हो तो उपलब्ध होना चाहिये, अथवा आलोकादियुक्त भूतल में यदि घटवान् हो तो घटोपलम्भ का विशेष्य हो अर्थात् 'अत्र भूतले घटः' अथवा 'इदं भूतलं घटवत्' इस प्रकार का भूतलविशेष्यक उपलम्भ हो। अतः आलोकादियुक्त भूतल में घटाभाव प्रत्यक्षयोग्य होता है और घटाभाव इन्द्रियसंनिकृष्ट होने पर उसका प्रत्यक्ष भी होता है।

[लक्षणांश में उपलम्भापादन निवेश की व्यर्थता]

व्याख्याकार ने इस योग्यता के निर्वचन का फलितार्थ यह बताया है कि जिस अभाव का प्रतियोगी प्रतियोगीसत्ता के व्यापक उपलम्भ का विषय हो उसका अभाव योग्य है। तादृश अभावत्व ही योग्यतावच्छेदक है। इस फलितार्थ की उपादेयता के समर्थन में व्याख्याकार ने यह कारण बताया है कि प्रतियोगीसत्ता के आरोप से होने वाले प्रतियोग्युपलम्भ के आरोप को अभाव प्रत्यक्ष में कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि उक्त आरोप के बिना भी अभाव का प्रत्यक्ष होता है, अतः अभाव की योग्यता के निर्वचन में उक्त आरोप का प्रवेश नहीं किया जा सकता। योग्यता के उक्त फलित स्वरूप का प्रतिपादन कर उन्होंने इस चिन्तामणिकारकृत निर्वचन के युक्तायुक्तत्व की परीक्षा

करने के विचार से दो प्रश्न उठाये हैं -(१) एक यह कि शुद्ध प्रतियोगीसत्ता का योग्यता के शरीर में व्याप्यरूप से प्रवेश माना जाय ? अथवा (२) कुछ विशेषणों से विशिष्ट प्रतियोगीसत्ता का ? इन दोनों को असमाधेय बताते हुये कहा है कि –

शुद्धप्रतियोगीसत्ता का व्याप्य रूप से प्रवेश नहीं किया जा सकता चूँकि प्रतियोगीमात्र की सत्ता होने पर भी उपलम्भ के अन्य कारण का अभाव होने पर प्रतियोगी का उपलम्भ नहीं होता अतः शुद्ध प्रतियोगीसत्ता प्रतियोगीउपलम्भ की व्यभिचारिणी है।

[परमाणु में पृथ्वीत्वाभावप्रत्यक्ष की आपत्ति]

द्वितीय पक्ष में योग्यता के गर्भ में किञ्चिद्विशेषणविशिष्टप्रतियोगीसत्त्व से व्यापकता का निवेश करने पर किञ्चित्पद के प्रतियोगी से अतिरिक्त प्रतियोगीउपलम्भक यावत् कारणों का ग्रहण अभिमत होने पर यद्यपि उक्तदोष नहीं है तथापि परमाणु में पृथ्वीत्वाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी क्योंकि पृथ्वीत्वोपलम्भ महत्त्वादिविशिष्टपृथ्वीत्व का व्यापक होने से पृथ्वीत्वाभाव योग्य है अतः जैसे स्थूल जल में उसका प्रत्यक्ष होता है वैसे जलपरमाणु में उसके प्रत्यक्ष की आपत्ति अनिवार्य है। यदि उसके उत्तर में यह कहा जाय कि-"योग्याभाव का भी प्रत्यक्ष उसी अधिकरण में होता है जिस अधिकरण में उसके प्रतियोग्युपलम्भ का आपादन हो सके। आशय यह है, प्रतियोगीआरोपजन्य-प्रतियोग्युपलम्भारोप के प्रतियोगिव्यधिकरणाभाव का अभाव अभावप्रत्यक्ष में कारण होता है। जहाँ भी जिस अभाव का प्रत्यक्ष होता है वहाँ उस अभाव के प्रतियोगी उपलम्भ का जब कभी आपादन होने से प्रतियोगीउपलम्भ के प्रतियोगीव्यधिकरणाभाव का अभाव उस समय भी रहता है जब अभाव प्रत्यक्ष के पूर्व उस अधिकरण में प्रतियोग्युपलम्भ का आरोप विद्यमान नहीं रहता। जल परमाणु में पृथ्वीत्वोपलम्भ का आरोप कदापि न होने से उसमें पृथ्वीत्वोपलम्भ का प्रतियोगिव्यधिकरणाभाव ही रहता है अतः जलपरमाणु में पृथ्वीत्वाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जलपरमाणु में भी महत्त्वादिविशिष्टपृथ्वीत्व के आरोप से पृथ्वीत्वोपलम्भ का आरोप सम्भव होने के कारण पृथ्वीत्वोपलम्भ के आरोप के प्रतियोगिव्याधिकरणाभाव का अभाव विद्यमान है।

[पक्षावृत्तिविशेषणवैशिष्ट्य का परिष्कार]

इस दोष के परिहार के लिये यदि प्रतियोगी में पक्षावृत्तिविशेषणानवच्छिन्नत्व यानी पक्षावृत्ति विशेषण से अविशिष्टत्व का निवेश कर यदि इस प्रकार निर्वचन किया जाय कि 'पक्षाऽवृत्ति-विशेषणशून्य यत्किञ्चित् प्रतियोगिसत्त्व व्यापक उपलम्भ का जो विषय है, तत्प्रतियोगिकाभाव ही योग्य है' तो उक्त आपत्ति का परिहार हो सकता है क्योंकि पृथ्वीत्वोपलम्भ में महत्त्वादिविशिष्ट पृथ्वीत्व की व्यापकता को लेकर जलपरमाणु में पृथ्वीत्वाभाव योग्य नहीं बताया जा सकता क्योंकि जलपरमाणु में जब पृथ्वीत्वोपलम्भ का आरोप करना होगा तो उस आरोप में पक्ष यानी धर्मी जल-परमाणु होगा। महत्त्व उसमें अवृत्ति है-अतः महत्त्वविशिष्टपृथ्वीत्व पक्षावृत्तिविशेषण से शून्य नहीं है।"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'गन्धवदणुभिन्नत्व' जलपरमाणुस्वरूप पक्ष में वृत्ति है-अतः उससे विशिष्ट पृथ्वीत्व पक्षावृत्तिविशेषणशून्य होने से पक्षावृत्ति विशेषणशून्य, एवं गन्धवदणुभिन्नत्व तथा पृथ्वीत्वातिरिक्त, महत्त्वातिरिक्त, पृथ्वीत्वोपलम्भ के यावत्कारणों का यत्किञ्चित् शब्द से ग्रहण कर एवंभूत यत्किञ्चित् विशिष्टपृथ्वीत्व से जलपरमाणु में भी पृथ्वीत्वोपलम्भ का आपादान हो सकता है।

अथ यदधिकरणवृत्तिप्रतियोग्युपलम्भकातिरिक्तानवच्छिन्नं यत्सत्त्वमुपलम्भव्याप्यमिति वाच्यम्, गन्धवदणुभिन्नत्वादिकं च न प्रतियोग्युपलम्भकमिति न दोषः, यद्धर्मावच्छिन्नसत्त्वं यद्धर्मावच्छिन्नोपलम्भव्याप्यं तद्धर्मावच्छिन्नोपलम्भाभावस्य तद्धर्मावच्छिन्नाभावप्रत्यक्षहेतुत्वाद् न गुरुत्ववद्घटाभावादिप्रत्यक्षता, न वाकाशादिभेदस्य तथात्वम्, शब्दाश्रयत्वादेरयोग्यत्वात्, न वा घटत्वात्यन्ताभावस्य, घटेतरावृत्तित्वघटितत्वेनाऽयोग्यत्वात् । शूद्रादौ ब्राह्मणत्वाभावस्तु सुतरां न प्रत्यक्षः, तदधिकरणवृत्तिप्रतियोग्युपलम्भकमात्रावच्छिन्नेन तत्सत्त्वेनापादयितुमशक्यत्वात्, तत्र विशुद्धमातापितृजन्यत्वज्ञानस्यापि व्यञ्जकत्वात् । न चैवं तमस्यालोकनियतघटाद्यभावप्रत्यक्षापत्तिः, तत्र प्रतियोगिसत्त्वस्यैव व्याप्यत्वादिति वाच्यम्; प्रतियोगिसत्त्वस्योपलम्भव्याप्यतायां निरुपाधिसहचारातिरिक्ततर्कत्वस्य विवक्षितत्वात्, प्रतियोग्युपलम्भकावच्छिन्नतत्सत्त्वस्य व्याप्यतायां कार्यकारणभावस्यापि तर्कत्वात् । न चैवमभावानुपलब्धिर्भावप्रत्यक्षेऽपि हेतुः स्यात्, भावज्ञानस्य निर्विकल्पादेरधिकरणानिश्चितस्याप्युत्पादार्थं तत्र महत्त्वादेरेव हेतुत्वस्वीकारात्; इति चेत् ?

[प्रतियोगी उपलम्भकभेदघटित व्याख्या का पूर्वपक्ष]

यदि यह कहा जाय कि "यदधिकरणवृत्तिप्रतियोग्युपलम्भक भिन्न विशेषण से विशिष्ट प्रतियोगीसत्त्व जिस अभाव के प्रतियोगी के उपलम्भ का व्याप्य हो वह अभाव तदधिकरण में प्रत्यक्षयोग्य होता है, तो उक्त दोष नहीं होगा, क्योंकि गन्धवदणुभिन्नत्व जलपरमाणुरूप अधिकरण में वृत्ति होने पर भी प्रतियोग्युपलम्भक नहीं है अतः वह यदधिकरणवृत्तिप्रतियोग्युपलम्भक से भिन्न विशेषण हुआ । एवं महत्त्व प्रतियोगी का उपलम्भक है किन्तु जलपरमाणु में वृत्ति नहीं है अत एव वह भी यदधिकरणवृत्तिप्रतियोग्युपलम्भक से भिन्न विशेषण हुआ, इन दोनों विशेषणों से अविशेषित पृथ्वीत्वरूप प्रतियोगी की सत्ता पृथ्वीत्वोपलम्भ का व्याप्य नहीं है । अतः जलपरमाणु में पृथ्वीत्वाभाव के प्रत्यक्ष का आपादान नहीं हो सकता । प्रस्तुत योग्यता के फलस्वरूप यह कार्यकारणभाव फलित होता है कि उक्त रीति से (यदधिकरणवृत्तिप्रतियोगीउपलम्भकातिरिक्तविशेषणानवच्छिन्न यत्किञ्चद्विशेषणावच्छिन्न) यद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगी की सत्ता यद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगी के उपलम्भक की व्याप्य हो तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगी का अनुपलम्भ तद्धर्मावच्छिन्नाभाव के प्रत्यक्ष का हेतु है । इसलिये 'गुरुत्ववद्घटो नास्ति' इस प्रकार के गुरुत्ववद्घटाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उक्तविधगुरुत्ववद्घटत्वावच्छिन्न की सत्ता गुरुत्ववद्घटत्वावच्छिन्न के उपलम्भक की व्याप्य नहीं है क्योंकि गुरुत्व अतीन्द्रिय होने से गुरुत्वसहितघट का उपलम्भ नहीं होता । इसी प्रकार आकाशभेद का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि आकाशभेद का प्रतियोगितावच्छेदक शब्दाश्रयत्व है-वह चक्षु से अग्राह्य शब्द से घटित है । अत एव शब्दाश्रयत्वविशिष्ट का चाक्षुषोपलम्भ असिद्ध होने से उक्तविध शब्दाश्रयत्वविशिष्टाकाशरूप प्रतियोगी की सत्ता भी शब्दाश्रयत्वविशिष्ट प्रतियोगी के उपलम्भ की व्याप्य नहीं है ।

एवं इसी प्रकार घटत्वात्यन्ताभाव भी अयोग्य हो जाता है क्योंकि उसका प्रतियोगिता का

अवच्छेदक घटत्वत्व 'घटेतरावृत्तित्वे सति सकलघटसमवेतत्व' रूप है उसकी कुक्षि में घटेतर अतीन्द्रिय पदार्थों का भी प्रवेश है और सकलघट का भी प्रवेश है जिसका एक साथ उपलभ सम्भव नहीं हो सकता। अतः घटत्वत्वविशिष्ट घटत्वरूप प्रतियोगी के लपलम्भ की असिद्धि होने से घटत्वत्वविशिष्ट घटत्व की सत्ता भी घटत्वत्वविशिष्ट घटत्व के उपलम्भ की व्याप्य नहीं है। शूद्र में ब्राह्मणत्वाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति तो कथमपि नहीं हो सकती, क्योंकि विशुद्धमातापितृजन्यत्वज्ञान भी ब्राह्मणत्वाभावप्रतियोगी ब्राह्मणत्व के उपलम्भ का एक कारण है किन्तु वह शूद्ररूप अधिकरण में वृत्ति न होने से वह शूद्रवृत्तिप्रतियोगीउपलम्भकातिरिक्त हो गया। अत एव उससे अविशेषित एवं शूद्ररूपाधिकरण में वृत्ति जितने प्रतियोगीउपलम्भक हैं उतने मात्र से विशेषितब्राह्मणत्व की सत्ता ब्राह्मणत्वोपलम्भ की व्याप्य नहीं है अत एव उससे ब्राह्मणत्व का आपादन हो सकता है।

[आलोकनियतघटाभावप्रत्यक्ष की आपत्ति का वारण]

यदि यह शंका की जाय-"उक्त प्रकार से योग्यता और उसके फलस्वरूप उक्तरूप से कार्यकारणभाव मानने पर भी अन्धकार में आलोक नियत घट के अभाव प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, क्योंकि इस अभाव के आलोकनियतघटरूपप्रतियोगी की सत्ता घटोपलम्भ की व्याप्य है अतः अन्धकार में उस घट के सत्त्व से घटोपलम्भ का आपादन हो सकता है।" तो इसका उत्तर यह है कि यदधिकरण में वृत्ति प्रतियोगीउपलम्भक से अतिरिक्त विशेषणानवच्छिन्न किञ्चिद्विशिष्ट प्रतियोगिसत्तागत प्रतियोग्युपलम्भ की व्याप्यता में, निरुपाधिसहचार से अतिरिक्त प्रतियोग्युपलम्भनिरूपितव्याप्ति के ग्राहक तर्क की सत्ता विवक्षित है। अर्थात् योग्यता का स्वरूप यह है कि यदधिकरण में वृत्ति, प्रतियोगीउपलम्भक से अतिरिक्तविशेषणानवच्छिन्नयत्किञ्चिद्विशिष्ट यदभावप्रतियोगी की सत्ता में अभाव के प्रतियोगी के उपलम्भ की व्याप्ति का ग्राहक निरुपाधिसहचारातिरिक्त तर्क हो वह उस अधिकरण में प्रत्यक्षयोग्य होता है।

योग्यता का इस प्रकार निर्वचन करने पर अन्धकार में आलोकनियतघटाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं होगी क्योंकि अन्धकारव्याप्तदेशवृत्तिप्रतियोगिउपलम्भकातिरिक्तविशेषण आलोक है। अतः आलोक से अविशेषित और उक्त घटोपलम्भ के यावत्कारण से विशिष्ट आलोकनियत घट की सत्ता में घटोपलम्भ की व्याप्ति का ग्राहक निरुपाधिसहचार से अतिरिक्त कोई तर्क नहीं है। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि 'आलोकातिरिक्तघटोपलम्भकसमस्त कारणों से विशिष्ट उस घट की सत्ता होने पर भी घटोपलम्भ न होने पर घटोपलम्भ के आलोकान्य कारणों से घटोपलम्भ का अन्वय व्यभिचार होगा।' क्योंकि आलोकातिरिक्त समस्त कारणों के रहते हुए घटोपलम्भ के अभाव को आलोकरूप कारण के अभाव से प्रयुक्त माना जा सकता है। अतः आलोकातिरिक्त घटोपलम्भ के समस्त कारणों से विशिष्ट आलोक नियत घट की सत्ता से यदि घटोपलम्भ का व्यभिचार होगा तो तथाविधघट की सत्ता में घटोपलम्भ का जो निरुपाधि सहचार यानी आलोकनियतघट और आलोकातिरिक्त उसके उपलम्भक के कारणों से अतिरिक्त पदार्थ के सन्निधान से निरपेक्षसहचार उसका भंग होगा। क्योंकि तथाविधघट की सत्ता होने पर यदि घटोपलम्भ नहीं होगा तो यही मानना होगा कि तादृश प्रतियोगीसत्ता में घटोपलम्भ सहचार (व्याप्ति) के लिये किसी अन्य का भी सहचार अपेक्षित है तो इस प्रकार आलोकनियत और उसके उपलम्भ के अन्य कारणों से अतिरिक्त पदार्थ के सहचाररूप उपाधि से निरपेक्ष घटोपलम्भसहचार का भङ्ग होगा। अतः अन्धकार व्याप्त देश-

वृत्ति प्रतियोगीउपलम्भकातिरिक्त घटोपलम्भ के आलोक से अविशिष्ट एवं घटोपलम्भ के समस्त कारणों से विशिष्ट उक्त घट की सत्ता में घटोपलम्भ की व्याप्ति का ग्राहक निरुपाधिसहचार से अतिरिक्त कार्यकारणभाव रूप कोई तर्क नहीं है। तथा आलोकप्रदेश में आलोकनियत घट न रहने पर उसके अभाव का प्रत्यक्ष होगा क्योंकि आलोकप्रदेशवृत्तिप्रतियोग्युपलम्भकातिरिक्त पद से आलोक का ग्रहण नहीं होगा किन्तु अन्य किसी उदासीन का ग्रहण होगा। उससे अविशिष्ट घटोपलम्भ के समग्र कारण में आलोक भी आयेगा, अतः उन सभी कारणों से विशिष्ट उक्त घट की सत्ता में घटोपलम्भ की व्याप्ति का ग्राहक निरुपाधिसहचार से अतिरिक्त कार्यकारणभाव रूप तर्क भी है, क्योंकि आलोकसहित उक्त घट के समस्त उपलम्भकों के रहते हुए भी यदि घटोपलम्भ नहीं होगा तो उन सभी कारणों का अन्वय व्यभिचार होने से उनमें घटोपलम्भ की कारणता का भङ्ग होगा।

यदि यह शंका की जाय कि-"जैसे अभाव के प्रत्यक्ष में भाव की अनुपलब्धि कारण है उसी प्रकार भाव के प्रत्यक्ष में अभाव की अनुपलब्धि भी कारण होगी, क्योंकि युक्ति दोनों पक्ष में समान है"-तो इसका उत्तर यह है कि अभाव की उपलब्धि रहने पर भी भाव का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी होता है और अधिकरणाऽविषयक प्रत्यक्ष भी होता है। अतः भाव प्रत्यक्ष में अभावानुपलब्धि कारण नहीं हो सकती, किन्तु महत्त्व-उद्भूतरूप आलोकादि ही भावप्रत्यक्ष के कारण हैं—

न, व्यापकत्वेनाभिमतस्योपलम्भस्य लौकिकस्य विवक्षणे स्तम्भपिशाचान्योन्याभावादेः गुडतिक्तत्वाभावादेश्चाप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। प्रतियोग्यंशेऽधिकरणांशे च तादृशलौकिकोपलम्भरूपसाध्याऽप्रसिद्धया व्याप्यताया असंभवात्। एतेन 'पिशाचत्वं यदि स्तम्भवृत्तिजातिः स्यात् स्तम्भविशेष्यकलौकिकोपलम्भप्रकारः स्यात्, इत्यापादनं संभवत्येव, इति स्तम्भविशेष्यकलौकिकप्रत्यक्षे पिशाचत्वप्रकारस्याभावस्य हेतुत्वाद् न दोषः' इत्यपि निरस्तम्, तस्य सदासत्त्वेनाऽहेतुत्वात्; तादृशोपलम्भस्यालौकिकस्य विवक्षणे च प्रतियोगिसत्त्वस्याऽव्याप्यत्वात्, तदधिकरणवृत्त्यलौकिकोपलम्भकावच्छिन्नप्रतियोगिसत्त्वस्यालौकिकोपलम्भव्याप्यत्वे च भूतलादौ पिशाचात्यन्ताभावादिग्रहप्रसङ्गात्; यावत्प्रतियोग्युपलम्भकावच्छिन्नस्य व्याप्यत्वोक्तावुदयनीययोग्यतायामेव पर्यवसानाच्च।

[लौकिक उपलम्भ विवक्षा में आपत्ति-उत्तरपक्ष]

किंतु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदधिकरणवृत्तिप्रतियोग्युपलम्भकभिन्न विशेषण से अविशिष्ट और यत्किञ्चित्यद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगीसत्त्व, यदधिकरणवृत्तित्वावच्छिन्न प्रतियोग्युपलम्भ का व्याप्य हो तदधिकरण में तद्धर्मावच्छिन्न का अभाव योग्य होता है। इस योग्यता के निर्वचन में यदधिकरणवृत्तियद्धर्मावच्छिन्नोपलम्भरूप व्यापक दल में यदि उपलम्भपद से लौकिकोपलम्भ की विवक्षा की जायगी तो स्तम्भ में पिशाचभेद पिशाच लौकिकोपलम्भ के अयोग्य होने से, अप्रत्यक्ष हो जायगा क्योंकि पिशाचत्वावच्छिन्न के लौकिकोपलम्भ की अप्रसिद्धि होने से उसकी व्याप्यता उक्त प्रतियोगीसत्ता में सम्भव नहीं होती। इसी प्रकार गुड में तिक्तत्वाभाव भी अयोग्य होने से अप्रत्यक्ष हो जायगा क्योंकि

गुडात्मक अधिकरण वृत्ति तिक्तत्वादि का लौकिकोपलम्भ अप्रसिद्ध होने से उक्त प्रतियोगीसत्त्व में उस की व्याप्ति का सम्भव न होगा। यदि यह कहा जाय कि "पिशाचत्व यदि स्तम्भवृत्तिजाति हो तो उसे स्तम्भविशेष्यक लौकिकोपलम्भ में प्रकार होना चाहिये अर्थात् स्तम्भ में 'एष पिशाचः' इस प्रकार का प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योंकि 'जो स्तम्भवृत्ति जाति होती है वह सब स्तम्भविशेष्यक लौकिकोपलम्भ में प्रकार होती है' इस प्रकार की आपत्ति हो सकती है और इसके फलस्वरूप यह कार्यकारणभाव मान्य हो सकता है कि स्तम्भविशेष्यकलौकिकप्रत्यक्ष में पिशाचत्वप्रकारत्वाभाव कारण है। इसके अनुसार जो धर्म जिस अधिकरण में प्रत्यक्ष योग्य हो सकता है उस अधिकरण में तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद के प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं हो सकती, अतः स्तम्भ में पिशाचभेद का प्रत्यक्ष हो सकता है। इसी प्रकार गुड़ में तिक्तत्वाभाव का भी प्रत्यक्ष हो सकता है क्योंकि "तिक्तत्व यदि गुडवृत्ति जाति हो तो उसे गुडविशेष्यक लौकिकोपलम्भ में प्रकार होना चाहिये इस आपत्ति के फलस्वरूप गुड़विशेष्यक लौकिकतिप्रयोगी में तिक्तत्वप्रकारता का अभाव कारण है यह कार्यकारणभाव बन सकता है और उसके अनुसार जिस अधिकरण में जो जाति प्रत्यक्षयोग्य हो सकती है उस अधिकरण में उस जाति के अभाव का प्रत्यक्ष निर्बाध हो सकता है।" किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि स्तम्भविशेष्यकलौकिकप्रत्यक्ष में पिशाचत्वप्रकारकत्वाभाव सदा रहता है अतः जब भी स्तम्भविशेष्यक लौकिकप्रतियोगी की सामग्री सन्निहित होगी तब सदैव स्तम्भ में पिशाचभेद के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। पिशाच के उक्त प्रत्यक्ष की सामग्री के संनिधानकाल में पिशाचरूप प्रतियोगी का ज्ञान रहने पर पिशाचविशेषितभेद और पिशाच के अज्ञान दशा में पिशाच के अविशेषित भेद के प्रत्यक्ष की आपत्ति अनिवार्य होगी। अतः उक्त कार्यकारणभाव स्वीकार्य नहीं हो सकता।

[अलौकिक उपलम्भ विवक्षा में व्याप्यत्व का असम्भव]

यदि उक्त व्यापक दल में उपलम्भ पद से अलौकिकउपलम्भ की विवक्षा की जायगी तो तथाविधप्रतियोगीसत्ता प्रतियोगी के अलौकिक उपलम्भ की व्याप्य नहीं होगी क्योंकि जहाँ प्रतियोगी के लौकिक उपलम्भ के समस्त कारणों से विशिष्ट प्रतियोगी की सत्ता होती है वहाँ प्रतियोगी का लौकिक उपलम्भ ही होता है–अलौकिक नहीं। यदि व्याप्यदल में भी अलौकिकोपलम्भ का निवेश कर इस प्रकार योग्यता का निर्वचन किया जाय कि 'यदधिकरणवृत्ति अलौकिक उपलम्भकों से विशिष्ट प्रतियोगी की सत्ता, यदधिकरणवृत्ति अलौकिक प्रतियोगीउपलम्भ की व्याप्य हो, तदधिकरण में प्रतियोगिअभाव प्रत्यक्षयोग्य होता है' तो उक्त दोषों का परिहार हो जाने पर भी भूतलादि में पिशाच के अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, क्योंकि भूतल में अलौकिकउपलम्भ के साधनों से विशिष्ट पिशाच की सत्ता में भूतलवृत्ति अलौकिक पिशाचोपलम्भ की व्याप्ति है। चिन्तामणिकारोक्त योग्यता के उक्त निर्वचन में दूसरा दोष यह है कि उसका भी पर्यवसान उदयनाचार्य द्वारा कथित योग्यता में ही हो जाता है क्योंकि यावत् प्रतियोगीउपलम्भ के व्याप्यत्व का कथन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि जहां प्रतियोगी और प्रतियोगीइन्द्रियसंनिकर्ष से अतिरिक्त प्रतियोगीउपलम्भ के सम्पूर्ण साधन होंगे वहां ही प्रतियोगी की अनुपलब्धि होने पर अभावग्रह होगा। अतः जो त्रुटियां उदयनाचार्य द्वारा कथित योग्यता में बतायी गयी हैं उन त्रुटियों से चिन्तामणिकार द्वारा कथित योग्यता भी मुक्त नहीं रह सकती।

'योग्यप्रतियोगिकत्वं संसर्गाभावग्रहे योग्यता, योग्याधिकरणत्वं चान्योन्याभावग्रहे'

इत्यपि तुच्छम्, मनस्त्वात्यन्ताभावादेरप्रत्यक्षत्वापातात्, घटादौ परमाणुभेदादेः प्रत्यक्षतापाताच्चेति ।

[भेद और संसर्गाभाव के ग्रह की भिन्न भिन्न योग्यता में आपत्ति]

यह कहना भी अत्यन्त तुच्छ है कि 'प्रत्यक्ष योग्य प्रतियोगिकत्व' संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष की योग्यता है और 'प्रत्यक्षयोग्याधिकरण वृत्तित्व' अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष की योग्यता है। क्योंकि, यदि योग्यप्रतियोगिक संसर्गाभाव को ही प्रत्यक्षयोग्य माना जायगा तो घटादि में मनस्त्व के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । जब कि घटादि में मनस्त्व जाति के होने पर उसमें प्रत्यक्षयोग्यत्व सम्भव होने से घटादि में उसके अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष सिद्धान्त सम्मत है। एवं योग्याधिकरणवृत्तित्व ही यदि अन्योन्याभाव की योग्यता का नियामक होगा तो घटादि में परमाणुभेद के प्रत्यक्ष की भी आपत्ति होगी। जब कि घटादि में परमाणुपरिमाणरूप परमाणुत्व में प्रत्यक्ष योग्यता सम्भव न होने से तदवच्छिन्न प्रतियोगिताक परमाणुभेद का प्रत्यक्ष असैद्धान्तिक है।

तस्माद् भावप्रत्यक्ष इवाभावप्रत्यक्षेऽपि महत्त्वादीनां हेतुत्वाद् विशिष्य घटाभावप्रत्यक्ष आलोकसंयोगादीनां हेतुता वाच्या, सापि वक्तुं न शक्यते, पेचकादिचाक्षुषे व्यभिचारात्, इति घटाभावाद्याकारे तत्कुर्वद्रूपसमनन्तरत्वेनैव हेतुता युक्तेति चेत् ? न, स्ववासनया कथंचित् स्वयं बाह्याभावानुभवेऽपि परं प्रति तत्साधनार्थं प्रयोगानुपपत्तेः, तूष्णींभावेन कथायां निग्रहात्, बाह्यत्वस्य ज्ञानभिन्नत्वरूपस्यातीन्द्रियत्वेन तद्घटितघटोपलम्भस्य तु पिशाचवद्घटोपलम्भस्येवापादयितुमशक्यत्वेन तदभावप्रत्यक्षस्यानुपपादनादिति दिक् ॥ ६ ॥

[अभाव प्रत्यक्ष में भी महत्त्वादि की कारणता]

बौद्ध के मतानुसार उक्त विचार का निष्कर्ष यह फलित होता है कि जैसे भाव के प्रत्यक्ष में महत्त्वादि कारण होता है ऐसे अभाव के प्रत्यक्ष में भी महत्त्वादि कारण होता है। विशेषरूप से घटाभावादि के प्रत्यक्ष में तो आलोकसंयोगादि भी कारण होता है किन्तु अभावप्रत्यक्ष में उक्त योग्यतादि प्रयोजक नहीं है। इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में भी बौद्ध का कहना है कि अन्यमतानुसार योग्यता के बारे में फलित किया गया यह निष्कर्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि योगी के प्रत्यक्ष में महत्त्वादि की कारणता में और उलुक-बीडाल आदि के चाक्षुष प्रत्यक्ष में आलोक संयोगादि की कारणता में व्यभिचार है। अतः निर्दोष निष्कर्ष तो यही है कि घटाभावाद्याकारक तत्तत्प्रत्यक्ष में तत्तत्कुर्वद्रूपसमनन्तर प्रत्यय ही कारण हैं। अर्थात् जिस क्षण में यदाकार अभावप्रत्यक्ष होता है उस क्षण का पूर्ववर्ती समनन्तर प्रत्यय ही तत्प्रत्यक्षकुर्वद्रूपत्वेन तत्प्रत्यक्ष के प्रति कारण होता है। अतः समनन्तरप्रत्ययरूप कारण से बाह्यार्थ के अभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है। अत एव बाह्यार्थ का अभाव प्रत्यक्षसिद्ध है-उसमें प्रमाणान्तर के अन्वेषण की अपेक्षा नहीं है।

[बौद्ध कृत विस्तृत समालोचना की समीक्षा]

व्याख्याकार का कहना है कि बौद्ध का यह कथन अत्यन्तयुक्ति शून्य है क्योंकि उस की प्रक्रिया के अनुसार उन्हें स्वयं यथाकथञ्चित् बाह्यार्थ के अभाव का अनुभव हो सकता है कारण,

उनके शास्त्र और सम्प्रदाय से उन में ऐसी वासना चिरकाल से प्रतिष्ठित हो गयी है कि बाह्यज्ञान से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं होती। किन्तु दूसरे के प्रति अपना अभिमत बाह्यार्थअभाव को सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें बाह्यार्थ का सार्वदेशिक और सार्वकालिक अभाव अभिमत है और वह प्रतिपक्ष में प्रसिद्ध नहीं है। अतः उसकी व्याप्ति का ग्रह किसी हेतुविशेष में न हो सकने से उसके साधनार्थ अनुमान का प्रयोग नहीं हो सकता। यदि प्रमाण का प्रश्न करने पर बौद्धवादी मौनावलम्बन करेगा तो प्रतिवादी के साथ विचारकाल में बौद्ध का निग्रह यानी पराजय होगा। यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि प्रतिवादी के साथ इस विषय में विचार प्रवृत्त होने पर बाह्यार्थअभाव सिद्ध करने के लिये इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग किया जा सकता है कि 'घटपटादिवस्तु ज्ञान से भिन्न नहीं है क्योंकि ज्ञानभिन्नस्वरूप से उनका उपलम्भ नहीं होता।'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनुपलब्धि से अभाव का ग्रह तभी होता है जब प्रतियोगी की सत्ता से उसके उपलम्भ का आपादन हो सके। ज्ञानभिन्नत्व चक्षु आदि से अग्राह्य ज्ञान से घटित है अतः घटादि के ज्ञानभिन्न होने पर भी ज्ञानभिन्नत्वरूप से उनके उपलम्भ का उपपादन नहीं हो सकता। अतः ज्ञानभिन्नत्वेन घटादि का अनुपलम्भ ज्ञानभिन्न घटादि के अभावसाधन में अप्रयोजक है। इसी तथ्य को व्याख्याकार ने पिशाचवद्घट के उपलम्भ के समान ज्ञानभिन्नत्वविशिष्टघट के उपलम्भ के आपादन को अशक्य बताते हुये ज्ञानभिन्नघटादि के अभावविषयक प्रत्यक्ष के उपादन की अशक्यता बताकर प्रकट किया है ॥९॥

बौद्ध का पूर्वपक्ष

विज्ञानवादी बौद्ध का कहना है कि–'घटादि पदार्थ ज्ञान से भिन्न नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष है। जैसे ज्ञानस्वरूप प्रत्यक्ष होने से ज्ञानभिन्न नहीं है।' बौद्ध के इस अभिप्राय को १०वीं कारिका में प्रस्तुत किया गया है—

'घटादिर्न ज्ञानभिन्नः, प्रत्यक्षत्वात्, तत्स्वरूपवत्' इत्याशयेनाह—

मूलम्—विज्ञानं यत्स्वसंवेद्यं न स्वर्थो युक्त्ययोगतः।
अतस्तद्वेदने तस्य ग्रहणं नोपपद्यते ॥१०॥

विज्ञानं यत् = यस्मात्कारणात् स्वसंवेद्यं = स्वत एव स्फुरद्रूपम् तथानुभूतेः, न स्वर्थः परपरिकल्पितः स्वसंवेद्यः। कुतः ? इत्याह–युक्त्ययोगतः = युक्त्यभावात्, सर्वस्य सर्वज्ञताद्यापत्तेः। अतस्तद्वेदने = विज्ञानानुभवे, तस्य = परपरिकल्पितस्यार्थस्य, ग्रहणं = ज्ञानम्, नोपपद्यते।

तथाहि-'ज्ञानविषयतया इन्द्रियसंनिकर्षादिनियम्यत्वाज्ज्ञानस्याऽर्थस्य च परतः प्रकाश एव' इति नैयायिकादीनां मतं न युक्तम्, स्वसंवेदनस्य प्रसाधितत्वात्, प्रत्यक्षव्यवहारे प्रत्यक्षत्वस्यैव प्रयोजकत्वात्, क्वचित् प्रत्यक्षत्वस्य क्वचिच्च प्रत्यक्षविषयत्वस्य तथात्वे गौरवात्, नीलज्ञानत्वाद्यपेक्षया नीलत्वादेरेव चक्षुरादिजन्यतावच्छेदकत्वे लाघवाच्च। एतेन 'ज्ञानाभेदः

संनिकर्षादिश्च ज्ञानविषयतायां नियामकः, इति ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वम्, अर्थस्य च परतः प्रकाशत्वम्' इत्यन्येषामपि मतं प्रत्याख्यातम्, विषयताया ज्ञानस्वरूपत्वात्, ज्ञानभिन्नस्य ज्ञानाऽविषयत्वात्। अथ 'नीलस्य प्रकाशः' इति प्रतीतेर्नीलप्रकाशयोर्भेद इति चेत्? न, विवेकेनाऽप्रतीयमानयोर्नीलतत्संविदोर्भेदाभावात्, 'अन्यथा नीलस्य स्वरूपम्' 'प्रकाशस्य प्रकाशता' इत्यादावपि भेदसिद्धिप्रसङ्गात्, अभेदर्शनबाधकस्याप्युभयत्र तुल्यत्वात्। न चार्थान्तरेणाऽप्रतीयमाना बुद्धिरर्थस्येति संयोज्य प्रत्येतुं शक्या, शक्यत्वे वा नियतसहोपलम्भयोः पृथगपोद्धारकल्पनाया अभेदनिश्चयपर्यवसायित्वादिति, तदुक्तम्–"सहोपलम्भनियमादभेदो नील-तद्धियोः" इति।

[विज्ञान स्वसंवेद्य होने से बाह्यार्थ-ज्ञान का अभेद पूर्वपक्ष]

विज्ञान स्वसंवेद्य है अर्थात् उसका स्वरूप स्वतः स्फुरित होता है। क्योंकि उसकी स्वतः ही कारणान्तर की अपेक्षा विना अनुभूति होती है। बाह्यार्थवादी द्वारा कल्पित अर्थ का स्वयंसंवेदन नहीं होता। क्योंकि उसका स्वयंसंवेदन मानने में कोई युक्ति नहीं है, बल्कि उसका स्वयंसंवेदन मानने पर उन सभी का सब मनुष्य को ज्ञान अनायास सम्भव हो सकने से सभी मनुष्यों में सर्वज्ञता की आपत्ति होगी। इसलिये विज्ञान के अनुभव में बाह्यार्थवादियों द्वारा कल्पित अर्थ का भान नहीं उपपन्न हो सकता।

आशय यह है कि ज्ञान के अनुभव में नीलपीतादि आकार का भी भान होता है। यह तभी हो सकता है जब वह ज्ञानस्वरूप हो। ज्ञान से भिन्न होने पर वह स्वसंवेदन नहीं होगा। अतः ज्ञान के स्वयंसंवेदनात्मक अनुभव में ज्ञान भिन्न आकारों का भाव नहीं हो सकता। अतः ज्ञानभिन्न का ग्रहण न हो सकने से उनके अस्तित्व की कल्पना अयुक्त है।

इसके विरुद्ध नैयायिकादि का यह मत कि–"ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही स्वसंवेद्य नहीं है। दोनों का ही कारणान्तर से प्रकाश होता है क्योंकि संवेद्यता यह प्रकाशमानता-अर्थात् ज्ञानविषयतारूप है और ज्ञानविषयता इन्द्रियसंनिकर्ष आदि ज्ञानसाधनों से ही सम्पन्न होती है"–ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान के स्वयंसंवेदन का साधन किया जा चूका है ❀। दूसरी बात यह है कि यदि ज्ञान और ज्ञेय में भेद माना जायगा तो ज्ञान प्रत्यक्ष व्यवहार का प्रयोजक प्रत्यक्षत्व ज्ञानगतधर्मविशेष को मानना होगा और ज्ञेय में प्रत्यक्षव्यवहार का प्रयोजक प्रत्यक्षविषयत्व को मानना होगा। अतः एकविध-व्यवहार में प्रयोजकभेद की कल्पना में गौरव होगा।

इसके अतिरिक्त नीलत्वादि को ज्ञानधर्म न मानकर बाह्यार्थ का धर्म मानने पर नीलज्ञानत्वादि को चक्षु आदि का जन्यतावच्छेदक मानना होगा। इसकी अपेक्षा नीलत्वादि को चाक्षुष आदि ज्ञान का धर्म मानकर उसी को चक्षु आदि का जन्यतावच्छेदक मानने में लाघव है।

[ज्ञान और अर्थ में भेदसिद्धि अशक्य है]

कुछ अन्य विद्वानों का यह मत कि–"ज्ञान में ज्ञानविषयता का नियामक ज्ञानाऽभेद है और ज्ञेय में ज्ञानविषयता का नियामक संनिकर्षादि है। अतः ज्ञान तो स्वप्रकाश है किन्तु अर्थ पर-

❀ स्तबक १ का० ८४ का विवरण द्रष्टव्य।

प्रकाश्य है।" आख्यानयोग्य यानी स्वीकार्य नहीं किन्तु प्रत्याख्यानयोग्य यानी परिहरणीय है क्योंकि ज्ञानविषयता ज्ञानस्वरूप है। अतः ज्ञानभिन्न में ज्ञानविषयता नहीं हो सकती, क्योंकि जो जिसका स्वरूप होता है वह उससे अन्य में नहीं रहता जैसे पीतादि में नीलस्वरूप नहीं रहता। 'नीलस्य प्रकाशः' इस प्रकार नील और प्रकाश (ज्ञान) में सम्बन्ध की प्रतीति से भी नील और प्रकाश में भेद सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि नील और नीलज्ञान की पृथक् प्रतीति न होने से उनमें भेद नहीं माना जा सकता। अन्यथा 'नीलस्य स्वरूपम्' और 'प्रकाशस्य प्रकाशता' इस प्रकार नील और स्वरूप में तथा प्रकाश और उसकी ज्ञानरूपता में सम्बन्ध प्रतीति होने से नील और उसके स्वरूप में तथा प्रकाश और उसकी ज्ञानरूपता में भी भेद की सिद्धि होने से उनका अभेद बाधित हो जायगा, क्योंकि 'नीलस्य प्रकाशः' यह प्रतीति जैसे नील और प्रकाश के अभेद दर्शन में बाधक होगी उसी प्रकार 'नीलस्य स्वरूपम्' इत्यादि प्रतीति भी नील और स्वरूप के अभेददर्शन में बाधक होगी क्योंकि वे सभी प्रतीतियाँ सम्बन्धांश में समान है।

[ज्ञान-अर्थ में भेद होने पर सम्बन्ध अनुपपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि "अर्थ से पृथक् अर्थात् अर्थ को छोडकर बुद्धि प्रतीयमान नहीं होती' इस आधार पर बुद्धि और अर्थ के ऐक्य का साधन नहीं हो सकता क्योंकि यह बात बुद्धि के साथ अर्थ का विषयविषयी भावरूप नियतसम्बन्ध स्वीकार करने पर भी उपपन्न हो सकती है।"- तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान और अर्थ को भिन्न मानते हुये उनके बीच इस प्रकार के सम्बन्ध का निर्वचन शक्य नहीं है। यदि शक्य भी माना जाय तो जो ज्ञान और बुद्धि का नियमेन सहोपलम्भ है उसकी कल्पना भिन्न दो रूपों में होती है और इस कल्पना का पर्यवसान अर्थ और बुद्धि के अभेद निश्चय में ही होता है। क्योंकि, यदि दोनों भिन्न हो तो उन दोनों का ही एक दूसरे के साथ ही उपलम्भ होने का नियम उपपन्न नहीं हो सकता। जैसा कि विज्ञानवादियों की एक प्रसिद्ध कारिका स्पष्टरूप से इस तथ्य का प्रतिपादन करती है कि नील और नीलज्ञान में सहोपलम्भ का नियम होने से अर्थात् नीलोपलम्भ के साथ ही नीलज्ञान का और नीलज्ञानोपलम्भ के साथ ही नील का उपलम्भ होने से नील और नीलज्ञान में अभेद मानना अनिवार्य है।

नन्वेवं कथमर्थाकारो ग्राह्य एव, बोधाकारस्तु ग्राहक एवेति नियमः ? इति चेत् ? न कथंचिद्, भिन्नकालयोर्ग्राह्यग्राहकभावाभावात्, समानकालयोरप्येकस्य ग्राह्यत्वम्, अन्यस्य च ग्राहकत्वमित्यत्राऽविनिगमात्। 'ग्रहणक्रियाकर्तृ ज्ञानं ग्राहकम्, तदाश्रयश्चार्थो ग्राह्य' इति चेत् ? न, अन्तः सुखाकारव्यतिरेकेण बहिश्च नीलाद्याकारव्यतिरेकेणापरस्या ग्रहणक्रियाया अभानात्। भाने च तस्य 'स्वतः परतो वा ?' इति विकल्पावतारः। आद्ये, एकदा नील-बोध-ग्रहणानां स्वरूपनिमग्नानां प्रतिभानाद् न कर्तृ-कर्म-क्रियाव्यवहृतिः। अन्त्ये च तत्राप्यपरग्रहणक्रिया-ग्राहकान्तरापेक्षयामनवस्था, इति विनिर्मुक्तग्राह्य-ग्राहक-भावस्वसंविदितमात्रवाद एव साधीयान्

तदुक्तम्— "नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्य नानुभवोऽपरः।
ग्राह्य-ग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥ १॥ [प्रमाणवा० ३।३२७] इति।

[ग्राह्य-ग्राहक नियम सर्वथा अमान्य]

यदि प्रतिवादी की ओर से यह प्रश्न किया जाय कि-'ज्ञान और अर्थ में ऐक्य है तो अर्थ का आकार ग्राह्य ही होता है और बोध का आकार ग्राहक ही होता है' यह नियम कैसे उपपन्न होगा ?" तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह नियम ही नहीं है। क्योंकि ग्राहकाकार और अर्थाकार को भिन्नकालिक मानने पर उनमें ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं होगा और एककालिक मानने पर 'एक ग्राह्य और दूसरा ग्राहक है' इसमें कोई विनिगमक युक्ति नहीं है। यदि ऐसा कहें कि-'ज्ञान ग्रहणक्रिया का कर्त्ता होने से ग्राहक है और अर्थ ग्रहणक्रिया का कर्म आश्रय होने से ग्राह्य है'-तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'आन्तर' कही जाने वाली वस्तुओं सुखादि आकार के अतिरिक्त और 'बाह्य' कही जाने वाली वस्तुओं में नीलादिआकार से अतिरिक्त कोई ग्रहण क्रिया का भान नहीं होता। आशय यह है कि ज्ञान से सुखादि और नीलादि के ग्रहण होने की क्रिया का अर्थ है सुखाद्याकार और नीलाद्याकार ज्ञान का उत्पन्न होना। अतः सुखादि और नीलादि आकार ज्ञान के स्वरूप में ही अन्तर्गत है, उससे भिन्न नहीं है जिससे कि वह उसका कर्त्ता हो सके। क्योंकि क्रियाकर्तृभाव भेद-नियत है। इसी प्रकार अर्थ भी ग्रहण क्रिया का आश्रय नहीं हो सकता है क्योंकि सुखादि आकार और नीलादि आकार ज्ञान का स्वरूप है। अत एव अर्थ ज्ञान से भिन्न होने पर उसका आश्रय नहीं हो सकता।

[भिन्नरूप ग्रहण क्रिया का भान स्वतः या परतः]

यदि यह कहा जाय कि-"सुखादि और नीलादि की ग्रहण क्रिया का सुखादि और नीलादि के आकार से भिन्न रूप में भान होता है"-तो यह प्रश्न होगा कि वह भान स्वतः होता है या परतः होता है। यदि स्वतः भान माना जायगा तो नील-ज्ञान और ग्रहणक्रिया ये तीनों अपने स्वरूपमात्र से ही गृहीत होंगे तब कर्तृ-कर्म-क्रिया भाव का व्यवहार नहीं हो सकता। क्योंकि व्यवहार यह स्वभिन्न व्यवहर्त्तव्यज्ञान से साध्य होता है। अब यदि उसका परतः भान माना जायगा तो जिससे उसकी ग्रहण क्रिया होगी उस बोध में और उससे होने वाली ग्रहणक्रिया में और ग्राह्य-ग्रहण क्रिया में भी कर्तृ-कर्म-क्रियाभाव के व्यवहार के अनुरोध से उनका भी ग्राहकान्तर से ग्रहण मानना होगा। इसी प्रकार उस ग्राहकान्तर से ग्रहण होने वाली ग्रहण क्रिया के सम्बन्ध में भी इसी मार्ग का अव-लम्बन होगा। अतः परतः ग्रहणपक्ष में अनवस्था होगी। इसलिये युक्तिसंगत यही है कि ग्राह्य-ग्राहकभाव की ही सत्ता अपारमार्थिक है। जैसा बौद्ध की प्रसिद्ध कारिका द्वारा स्पष्ट है कि बुद्धि से भिन्न ज्ञेय की सत्ता नहीं है। ग्राह्य ग्राहक-भाव शून्य होने से बुद्धि स्वयं ही प्रकाशित होती है।

'कथं तर्हि 'नीलमहं वेद्मि' इति कर्म-कर्तृ-भावाभिनिवेशी प्रत्ययः, कर्म-कर्तृभावस्या-भावात् ?' इति चेत् ! यथा रजतमन्तरेणापि शुक्तिकायां रजतावगमः। 'बाधकाभावाद् न तद्वदस्य भ्रान्तत्वमि'ति चेत् ? न, स्वरूपाऽसंसक्तयोर्द्वयोः स्वातन्त्र्योपलम्भस्य कर्म-कर्तृभावो-ल्लेखे बाधकत्वात्। 'किं तत्र भ्रान्तिबीजम् ?' इति चेत् ? पूर्वभ्रान्तिरेव, तत्रापि पूर्वभ्रान्तिः, इति बीजाङ्कुरस्थलीयाऽनवस्था, तदुक्तम्-

"अवेद्य-वेदकाकारा यथा भ्रान्तैर्निरीक्ष्यते। विभक्तलक्षणग्राह्यग्राहकाकारविप्लवा ॥१॥

तथा कृतव्यवस्थेयं केशादिज्ञानभेदवत् । यदा तदा न संनोद्यग्राह्यग्राहकलक्षणा ॥२॥'' इति ।

अनयोरयमर्थः—स्वरूपेणाविद्यमानवेद्यवेदकाकारापि बुद्धिर्यथा भ्रान्तैर्व्यवहर्तृभिर्निरीक्ष्यते तथैव कृतव्यवस्थेयं व्यवह्रियते, तैस्तु केशादिज्ञानभेदवत् = तिमिराद्युपप्लुताक्षाणां बोधभिन्ना-विद्यमानकेशादिप्रतिपत्तिवदियं विभक्तलक्षणग्राह्यग्राहकाकारविप्लवा निरीक्ष्यते विभक्तलक्षणौ ग्राह्यग्राहकाकारावेव विप्लवौ = असन्निर्भासविभागौ यस्याः सा तथोक्ता । यदायमविद्या-निबन्धनो बुद्धेः प्रविभागस्तदा न संनोद्यग्राह्य-ग्राहकाकारलक्षणा, संनोद्ये = पर्यनुयोज्ये ग्राह्य-ग्राहकलक्षणे यस्याः सा तथा न भवति । न ह्यविद्यासमारोपिताकारः पर्यनुयोगमर्हति । अतो न 'भ्रान्तेः प्रकाशमानत्वे नाऽबोधरूपता, बोधरूपतायां वा नासदाकारसंस्पर्शः, तत्स्पर्शे वाऽसत्त्वा-पत्तिः' इत्यादिपर्यनुयोगावकाशः ।–'नीलमहं वेद्मि' इति परस्परासंसक्तं प्रतीतित्रयं क्रमवत् प्रतिभाति, न कर्म-कर्तृभावः—इत्यन्ये, तेषां द्वितीयाद्यर्थानुपपत्तिः ।

[कर्मकर्तृ भेदप्रतीति की भ्रमरूपता]

यदि इस पर यह कहा जाय कि-"ज्ञेय और ज्ञान में भेद न मानने पर 'नीलमहं वेद्मि'=मैं नील को जानता हूं' इस प्रकार नील और ज्ञान में कर्म-कर्तृभाव की ग्राहक प्रतीति कैसे होगी ? क्योंकि एक ही वस्तु में कर्म-कर्तृभाव नहीं होता"-तो इसका उत्तर यह है कि जैसे रजत के न होने पर भी शुक्ति में रजत की बुद्धि होती है उसी प्रकार नील और नीलज्ञान में कर्म-कर्तृभाव न होने पर भी कर्म-कर्तृभाव की भ्रमात्मक बुद्धि हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि-'शुक्ति में रजतज्ञान को भ्रमात्मक इसलिये माना जाता है कि उत्तरकाल में उसका बाध होता है, किन्तु नील और नीलज्ञान में कर्तृ-कर्मभाव प्रतीति का उत्तरकाल में बाध न होने से उसे भ्रम मानना उचित नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि नील और नीलज्ञान का जो एक दूसरे के स्वरूप से असंसृष्टरूप में स्वतन्त्रोप-लम्भ होता है वही कर्तृ-कर्मभाव की प्रतीति में बाधक है। अगर कहें 'शुक्ति रजतभ्रम का तो चाकचिक्य बीज है किन्तु यहां नील-नीलज्ञान में कर्तृ-कर्मभाव के भ्रम का कौन बीज है ?' तो इसका उत्तर है कि इस भ्रम का बीज पूर्व की भ्रान्ति है, और उसका बीज उसके पूर्व की भ्रान्ति है। यह अनवस्था बीजाङ्कुर में होने वाली अनवस्था के समान प्रामाणिक होने से दोषरूप नहीं है। जैसे कि "अवेद्यवेदकाकारा०" इत्यादि दो कारिकाओं में स्पष्ट किया गया है। इनका अर्थ इस प्रकार है-

बुद्धि में उससे भिन्न वेद्याकार और वेदकाकार नहीं होता। उसमें जो ग्राह्याकार और ग्राहकाकार प्रतीत होता है उनका कोई विभिन्न लक्षण नहीं है जिनसे उनका ज्ञान से पृथक् और परस्पर भिन्न अस्तित्व प्रमाणित हो सके। अतः वे ज्ञान के विप्लवरूप है अर्थात् ज्ञान में भासित होने वाले असत्-भिन्नतया असिद्ध विभागरूप है। अतः यह बुद्धि ग्राह्य-ग्राहक रूप से एवं कर्म-कर्तृभावरूप से भ्रान्तों को ही प्रतीत होती है। बुद्धि की इस प्रकार प्रतीयमान होने की व्यवस्था उसी प्रकार होती है जैसे तिमिरादिरोगग्रस्त नेत्र वाले पुरुषों को बोध से भिन्नरूप में अविद्यमान भी केशादि की और उसकी बुद्धि की प्रतीति की व्यवस्था होती है। तो इस प्रकार जब बुद्धि का ग्राह्यग्राहकाकारविभाग अविद्यामूलक है तब उसके ग्राह्यग्राहकाकार के विषय में कोई प्रश्न नहीं हो सकता है, क्योंकि जो

जो आकार अविद्या से आरोपित होता है वह प्रश्न करने योग्य नहीं होता। अविद्या की ही यह महिमा होती है कि वह एक व्यवस्थितरूप में ही किसी आकार का आरोप करती है। उसके पीछे और कोई कारण नहीं होता है। इसीलिये इस भ्रम के सम्बन्ध में ऐसे प्रश्न निरर्थक हैं कि-"भ्रम को प्रकाशमान मानने पर वह अबोधरूप होने से लोक में यथार्थरूप से स्वीकृत बोध से विलक्षण कैसे होगा ? और बोधरूप मानने पर असत् आकार के साथ उसका सम्बन्ध कैसे होगा ? और असत् आकार के साथ उसका सम्बन्ध होगा तो वह स्वयं भी क्यों असत् नहीं हो जायगा ?" ऐसे प्रश्न अविद्या-आरोपित के सम्बन्ध में अवसरोचित नहीं है। कुछ अन्य विद्वानों का यह मत है कि- "नीलमहं वेद्मि-मैं नील को जानता हूँ,-यह एक ज्ञान नहीं, किन्तु परस्पर सम्बद्ध क्रमिक तीन ज्ञान हैं। अतः इनमें कर्म-कर्तृभाव का प्रतिभास नहीं होता है।" किन्तु ऐसा मानने पर नील शब्दोत्तर द्वितीया विभक्ति और विद् धातु के उत्तर 'मि' आख्यातार्थ की उपपत्ति नहीं हो सकेगी।

अथ सुख-स्तम्भाद्याकारव्यतिरिक्तसंवेदनाभावे कथं 'चक्षुरादिना मया रूपं प्रतीयते' इत्यादि प्रतीतिः ? इत्युपलभ्ये रूपादिके चक्षुरभिमुखीभूतं तत्प्रकाशत्वं विदधाति सैव बुद्धिरिति चेत् ? न, 'चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यते' इत्यादौ बाह्यार्थवादिपरिकल्पिते परोक्षे रूपादौ तदाकारा प्रकाशता चक्षुरादिना जन्यत इति वासनाविशेषेण तथा व्यपदेशसंभवात्, पूर्वसामग्रीतश्चक्षुरादि-रूपाद्याकारप्रकाशता बुद्धिस्वभावोपजायत इत्येकसामग्र्यधीनतया वा तथा व्यपदेशात्। दृश्यते हि प्रदीप-प्रकाशयोः समानकालयोः 'प्रदीपेनघटः प्रकाशितः' इत्येकसामग्र्यधीनतया व्यपदेश इति। दर्शनात् प्रागर्थसद्भावे तु न मानमस्ति, येन तत्र प्रकाशतां चक्षुरादिकमादध्यात्। 'दर्शनमेव तत्र मानमिति' चेत् ? न, तेन स्वकालावधेरेवाऽर्थस्य ग्रहणात्।

[रूपादि में चक्षु से प्रकाशमानता का आधान वासनामूलक]

ज्ञेय और ज्ञान में भेद न मानने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि-'सुख आदि आन्तर और स्तम्भादि बाह्य आकारों से भिन्न यदि ज्ञान की सत्ता न मानी जायगी तो 'चक्षु आदि से मुझे रूप का ज्ञान होता है' इस प्रकार की प्रतीति कैसे हो सकेगी ? यह प्रतीति होती तो है, अतः यह मानना आवश्यक है कि जब चक्षु रूपादि ग्राह्य पदार्थों के अभिमुख होता है तब उन में प्रकाशमानता का आधान करता है। इस प्रकार चक्षु आदि द्वारा रूपादि विषयों में जो प्रकाशमानता का आधान होता है वही बुद्धि है और वह रूप आदि विषयों से भिन्न है।"-इस प्रश्न के उत्तर में बौद्धों का कहना यह है कि बाह्यार्थवादियों को चिरकाल से यह वासना बनी हुई है कि रूपादि विषय ज्ञानभिन्न एवं परोक्ष है और चक्षु आदि से उनमें प्रकाशमानता का सम्पादन होता है। इस वासना के कारण ही वे ऐसा व्यवहार करते हैं कि चक्षु आदि से रूप की प्रतीति होती है। बौद्ध मत में भी इस प्रकार का व्यवहार होता है-उनके मतानुसार यह व्यवहार इस कारण होता है कि चक्षु-रूप और ज्ञान इन तीनों की कारण सामग्री का युगपत्सन्निधान होने पर ज्ञानात्मक चक्षुरूपाद्याकार और प्रकाश का एक साथ उदय होता है। उक्त व्यवहार के इस प्रकार के कारण की कल्पना अन्यत्र दृष्ट भी है जैसे प्रदीप और प्रकाश का एक ही सामग्री से एककाल में संनिधान होने पर प्रदीप से घट प्रकाशित होता है इस प्रकार का व्यवहार लोकसिद्ध है।

[दर्शन के पूर्व अर्थसत्ता में दर्शन प्रामाण्य का निराकरण]

रूपादि में चक्षु आदि से प्रकाशता का आधान जो अन्य मतों में माना जाता है–उसके विरुद्ध बौद्ध का यह कहना है कि दर्शन के पूर्व अर्थसत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। अतः उसमें चक्षु आदि से प्रकाशता के आधान का समर्थन नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि–"दर्शन के पूर्व अर्थसद्भाव में स्वयं दर्शन ही प्रमाण है क्योंकि यदि पूर्व में अविद्यमान का भी दर्शन माना जायगा तो एकाकार दर्शन के समय सर्वसम्पूर्ण विषयाकार दर्शन की आपत्ति होगी। अतः यह मानना ही उचित है कि जो वस्तु दर्शन के पूर्व विद्यमान होती है तथा जिसके दर्शन की सामग्री पूर्व में सन्निहित होती है उसी का दर्शन होता है।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दर्शन में विषयविशेष की व्यवस्था के लिये उसके पूर्व विषय का अस्तित्व मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि उसकी उत्पत्ति यह मानने पर भी हो सकती है कि जो अर्थ जिस ज्ञान का समायुष्क होता है अर्थात् जो अर्थ जिस ज्ञान के साथ उत्पन्न होकर उसके साथ ही नष्ट हो जाता है वह अर्थ उस ज्ञान से गृहीत होता है। जब ज्ञान और उसका ग्राह्याकार दोनों समायुष्क होंगे तो उन में भेद मानना अयुक्त है।

अथ 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति व्यवसायात् प्रागर्थः सिध्यति, प्रागर्थसत्तां विना दृश्यमानस्य पूर्वदृष्ट एकत्वगतेरयोगादिति चेत् ? केन तयोरेकत्वं गम्यते ? इदानींतनदर्शनेन, पूर्वदर्शनेन वा ? नाद्यः, इदानींतनदर्शनकाले पूर्वदृकालस्याऽस्तमयात्, तेनाविद्यमानपूर्वदृग्गर्भपूर्वदृष्टताया अग्रहणात्, अन्यथा वितथत्वप्रसङ्गात्। अत एव न द्वितीयः, पूर्वदर्शनेन वर्तमानकालदर्शनव्याप्तेरनवसायात्। तस्मादपास्तपूर्वदृगादियोगं सर्वं वस्तु दृशा गृह्यते, पूर्वदृष्टतां तु स्मृतिरुल्लिखतीति। न च 'स एवायम्' इति प्रतीतिरेका, 'सः' इत्यस्य स्मृतिरूपत्वात्, 'अयम्' इत्यस्य च दृक्स्वरूपत्वात्, परोक्षता-ऽपरोक्षताभ्यां तद्भेदात्। न च 'पश्यामी'ति प्रतीतेः प्रत्यक्षमेव प्रत्यभिज्ञानम्, न च संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वापत्तिः, संस्कारमात्रजन्यत्वस्यैव स्मृतित्वव्याप्यत्वात्, तत्तास्मृतेरेव वा तत्ताप्रत्यभिज्ञाहेतुत्वात्' इति नैयायिकादिमतमपि युक्तम्, तेषामपि 'पश्यामि' इत्याद्यनुगतमत्या चाक्षुषत्वाऽसिद्धेर्निर्विकल्पकाऽसाधारण्यात्, वैशद्यविशेषस्यैव 'पश्यामि' इति प्रतीतौ विषयत्वादिति न किञ्चिदेतत्।

[दृश्यमान और पूर्वदृष्ट में एकत्व असिद्ध]

यदि यह कहा जाय कि–"मैं पूर्वदृष्टवस्तु को देखता हूं-इस प्रकार का अनुभव लोक सम्मत है अतः इस अनुभव के अनुरोध से वर्तमान दर्शन के पूर्व भी दृश्यमान अर्थ की सत्ता माननी होगी, क्योंकि पूर्व में सत्ता माने बिना उसकी पूर्वदृष्टता उपपन्न नहीं हो सकती। फलतः दृश्यमान और पूर्व दृष्ट में जो एकत्व की प्रतीति होती है उसकी उपपत्ति पूर्व में अर्थसत्ता को माने बिना नहीं हो सकती, अतः उक्तानुभव ही अर्थ की पूर्व सत्ता में प्रमाण है।"–इस पर बौद्ध का कहना है कि दृश्यमान और पूर्वदृष्ट अर्थों में एकत्व का ज्ञान असिद्ध है क्योंकि एकत्व का ज्ञान न तो वर्त्तमान दर्शन से हो सकता है–न तो पूर्व दर्शन से। वर्तमान दर्शन से इसलिये नहीं हो सकता कि वर्त्तमान दर्शनकाल में पूर्वदर्शन और उसका काल नष्ट हो चुका रहता है, अतः अविद्यमान पूर्वदर्शन से घटित पूर्वदृष्टता का

ज्ञान वर्त्तमानदर्शन द्वारा नहीं हो सकता। यदि वर्त्तमान दर्शन अविद्यमानपूर्वदृष्टता का ग्रहण करेगा तो भ्रम हो जायगा और भ्रम से विषय की सिद्धि नहीं होती है यह स्पष्ट है। पूर्वदर्शन से भी पूर्वदृष्ट और दृश्यमान में एकत्व का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वदर्शन के साथ वर्त्तमान अर्थ के कालिक दर्शन की व्याप्ति अर्थात् 'वर्तमानकाल दर्शन विषयतासम्बन्ध से जिस अर्थ में है उसमें पूर्वदर्शन भी विषयतासम्बन्ध से है' इस व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है। आशय यह है कि पूर्वदर्शन वर्त्तमान-काल में दृश्यमान अर्थ का ग्राहक नहीं हो सकता क्योंकि वर्त्तमानकाल में दृश्यमान की सत्ता पूर्व में एवं पूर्वदर्शन की सत्ता वर्त्तमान में दृश्यमान नहीं है। अतः सिद्धान्त यह है कि दर्शन पूर्वदर्शनादि के सम्बन्ध से मुक्त हो सम्पूर्ण वस्तुओं को ग्रहण करता है। किसी अर्थ की पूर्वदृष्टता का उल्लेख दर्शन से नहीं अपितु स्मरण से होता है।

[प्रत्यभिज्ञा में बुद्धि-एकत्व की अनुपपत्ति]

'स एवायम्' यह प्रत्यभिज्ञात्मक बुद्धि भी एक नहीं है जो पूर्वदृष्ट और दृश्यमान के ऐक्य में प्रमाण हो सके क्योंकि यह बुद्धि 'स' 'इस अंश में स्मरणरूप है और 'अयम्' इस अंश में दर्शन रूप है। स्मरण परोक्षज्ञान है और दर्शन अपरोक्ष ज्ञान है। परोक्षत्व और अपरोक्षत्व इन दोनों में विरोध होने से 'सः' इत्याकारक और 'अयम्' इत्याकार ज्ञान में भेद अनिवार्य है। यदि यह कहा जाय कि–"उक्त प्रत्यभिज्ञात्मक बुद्धि का 'पश्यामि' इस रूप में प्रत्यक्षात्मना ज्ञान होता है अतः प्रत्यभिज्ञा केवल प्रत्यक्षरूप ही है, किसी भी अंश में स्मृतिरूप नहीं है। 'सः' इस अंश में संस्कारजन्य होने से उसे स्मरणरूप नहीं माना जा सकता क्योंकि संस्कारमात्रजन्यत्व में ही स्मृतित्व की व्याप्ति है। प्रत्यभिज्ञा संस्कार और इन्द्रिय उभय से जन्य होने के कारण संस्कारमात्र-जन्य नहीं है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि तत्ता की प्रत्यभिज्ञा तत्ता के संस्कार से नहीं उत्पन्न होती किन्तु तत्ता के स्मरण से उत्पन्न होती है। अतः प्रत्यभिज्ञा में संस्कारजन्यत्व असिद्ध होने से उसे स्मरणात्मक नहीं माना जा सकता"–तो नैयायिक आदि का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा की 'पश्यामि' इस प्रतीति से उसमें चाक्षुषप्रत्यक्षरूपता का साधन नहीं हो सकता क्योंकि 'पश्यामि' यह प्रतीति चाक्षुषत्व के साधन में इसलिये असमर्थ है कि निर्विकल्पक अतीन्द्रिय होने से 'पश्यामि' इस प्रकार चाक्षुषत्व रूप में उसका अनुभव नहीं होता। अतः यह मानना युक्तिसंगत है 'पश्यामि' यह प्रतीति अपने विषयभूतज्ञान में चाक्षुषत्व को विषय न कर वैशद्यविशेष को ही विषय करती है। अतः नैयायिक का उक्त कथन अकिञ्चित्कर है।

अथानुमानात् प्राग भावोऽर्थस्य सिध्यति, प्राक् सत्तां विना पश्चाद्दर्शनायोगादिति चेत् ? न, प्राक् सत्ताया असिद्ध्या तया सह पश्चाद्दर्शनस्य नियमाऽसिद्धेः। अथ ज्ञाने नीला-द्याकारस्य कादाचित्कस्यान्यथानुपपद्यमानात् तत्प्रसिद्ध्येऽर्थः परिकल्प्यत इति चेत् ? न, स्वप्ना-द्यवस्थायां वासनाविशेषसामर्थ्यवशाद् विद्यमानकरि-तुरग-रथाद्याकारप्रतिपत्तिनियमवज्जाग्रद्दशा-यामपि तत एव दर्शनस्य प्रतिनियतविषयत्वोपपत्तेः तद् न प्रागर्थसत्त्वम्। प्रागसत्त्वे तु धर्मि-स्वरूपे दर्शनमेव प्रमाणम्, यद् येनैव रूपेणोपलभ्यते तत् तेनैव रूपेणास्ति, यथा नीलं नील-रूपतयैव, इत्थं च वर्तमानत्वेनानुभव एव पूर्वकाले संबन्धित्वं व्यवच्छिनत्तीति। अथ नीलं

तद्दर्शनविरतावपि परदृशि प्रतिभातीति साधारणतया ग्राह्यम् , विज्ञानं स्वसाधारणतया ग्राहक-मिति भेदो युक्त इति चेत् ? न, नीलस्य साधारणतयाऽप्रतीतेः । न हि नीलं परदृशि प्रतिभाती-त्यत्र प्रत्यक्षप्रमाणोऽस्ति ; अपरानुमानाद् तत्साधारणता प्रतीयते, स्वसंताने नीलादानार्थप्रवृत्तेः नीलदर्शनमूलकत्वदर्शनेन परसंतानेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात् तद्विषयदर्शनानुमानादिति चेत् ? न, परप्रवृत्त्यादिना परदृष्टनीलानुमानेऽपि स्व-परदृष्टयोरैक्याऽसिद्धेः, सामान्येनान्वयपरिच्छेदात्, अपरधूमदर्शनादपरवह्न्यनुमानात्, अपरवह्नौ पूर्वदृष्टवह्निसदृशताविकल्पवत् परदृष्टे स्वदृष्टसदृशता-मात्रविकल्पावतारात् । प्रतिभासभेदेऽपि स्व-परदृष्टयोः सदृशाव्यवहारादिकार्यदर्शनादभेदः स्यात्, तदा सदृशरोमाञ्चोद्धर्षादिकार्यदर्शनात् सुखादेरपि स्व-परसंतानभुवस्तत्त्वं भवेत् ।

[अर्थ की अनुमानपूर्व सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती]

यदि यह कहा जाय कि–'अनुमान के पूर्व अर्थ की सत्ता मानना आवश्यक है क्योंकि अर्थसत्ता के अनु यानी पश्चात् अर्थ ज्ञान मानने पर ही उसमें अनुमान शब्द सार्थक हो सकता है । अतः अर्थ की पूर्व सत्ता माने बिना अनुमानात्मक ज्ञान का सम्भव न हो सकने के कारण अनुमान के पूर्व अर्थ सत्ता का अभ्युपगम अनिवार्य है ।''–तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि अनुमान से पूर्व अर्थसत्ता की सिद्धि उसके प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकती है किन्तु अनुमानात्मक लिङ्ग द्वारा आनुमानिक ही सिद्धि हो सकती है, किन्तु वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उसके लिये अनुमान में अर्थ की पूर्वसत्ता का व्याप्तिग्रह होना चाहिये जो अर्थसत्ता के प्रमाणान्तर द्वारा सिद्ध न होने से सम्भव नहीं है ।

[कादाचित्क नीलाद्याकार से बाह्यार्थ की सिद्धि अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि-'ज्ञान में नीलाद्याकार कादाचित्क है-सार्वदिक नहीं है अर्थात् कोई कोई ज्ञान ही नीलाद्याकार होता है–सब ज्ञान नीलाद्याकार नहीं होता है, इस स्थिति की उपपत्ति ज्ञान के नीलाद्यर्थजन्य माने बिना नहीं हो सकती, अतः ज्ञान में कादाचित्क नीलाद्याकार की उपपत्ति के लिये नीलाद्यर्थ की कल्पना आवश्यक है''–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे स्वप्नाद्यवस्था में हस्ती-अश्व-रथ आदि पदार्थों के न होने पर भी वासना विशेष से नियत तत्तदर्थाकार ज्ञान का उदय होता है उसी प्रकार जाग्रत्काल में भी वासना विशेष से ही तत्तत्प्रतिनियत अर्थविषयक दर्शन की उत्पत्ति हो सकती है । अतः ज्ञान में नियतविषयकत्व के अनुरोध से ज्ञान के पूर्व अर्थ की सत्ता मानने में कोई युक्ति नहीं है । यदि यह कहा जाय कि-''जैसे दर्शन के पूर्व अर्थ सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है, उसी प्रकार दर्शन के पूर्व अर्थ की असत्ता में भी कोई प्रमाण नहीं है अतः 'अर्थ ज्ञान के पूर्व असत् होता है'–यह सिद्धान्त युक्तिशून्य है''–तो यह ठीक नहीं, क्योंकि दर्शन के पूर्व अर्थ की असत्ता में स्वयं दर्शन ही प्रमाण है क्योंकि 'जो वस्तु जिस रूप से उपलब्ध होती है उस रूप से ही उसका अस्तित्व होता है' यह सर्वमान्य है । जैसे नील नीलरूप से उपलब्ध होने के कारण नीलरूप से ही उसकी सत्ता होती है–पीतादिरूप से नहीं । अतः दर्शन भी वस्तु को वर्त्तमानत्वेनैव अर्थात् स्वसमान-कालिकरूप से ही ग्रहण करता है अत एव वह अर्थ के पूर्वकाल सम्बन्ध का व्यवच्छेद कर वर्त्तमान-काल-अपने अस्तित्वकाल में ही अर्थ सत्ता का साक्षी होता है ।

[अनेकदर्शन साधारण एक नील की असिद्धि]

यदि यह कहा जाय कि-"नील अर्थ अपने एक दर्शन के निवृत्त हो जाने पर भी अन्यदर्शन में भासित होता है। अतः नीलादिपदार्थ विभिन्न दर्शनों में साधारण होने से ग्राह्य होता है और एकार्थाकार विज्ञान अन्य अर्थों का ग्राहक न होने से असाधारण होता है और असाधारण होने से वह ग्राहक होता है। इस प्रकार साधारण्य और असाधारण्य प्रयुक्त ग्राह्यार्थ और ग्राहकज्ञान में भेद का अभ्युपगम युक्तिसंगत है।"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि नील की साधारणतया प्रतीति असिद्ध है। कारण, एक दर्शन के विषयभूत नील का अन्यदर्शन में भासित होना ही उसका साधारण्य है और इस साधारण्य का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि विभिन्न दर्शनों का ग्रहण किसी एक प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-"अनुमान से नीलादि की साधारणता सिद्ध हो सकती है क्योंकि एक सन्तान में नीलग्रहण के लिये होने वाली प्रवृत्ति में नीलदर्शनपूर्वकत्व देखा जाता है अतः यह व्याप्तिग्रह हो सकता है कि नीलग्रहण में होने वाली प्रवृत्ति नीलदर्शनमूलक होती है-और इस व्याप्ति से अन्य सन्तान में होनेवाली नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति को देखकर उसमें भी नीलदर्शन-पूर्वकत्व का अनुमान हो सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि एक ही नीलपदार्थ विभिन्न-सन्तानों में होने वाले विभिन्न दर्शनों का विषय होता है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अन्य व्यक्ति की प्रवृत्ति से अन्यदृष्ट नील का अनुमान होने पर भी विभिन्नव्यक्तिओं से दृष्ट नील में ऐक्य की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि अनुमान के मूलभूत अन्वय (व्याप्ति) का निश्चय साध्य और हेतु में विशेषरूप से न होकर सामान्यरूप से ही होता है। इसलिये जैसे पाकशाला में जिस धूम से जिस वह्नि का सहचार दृष्ट होता है उस धूम से भिन्न धूम को देखकर पर्वत में उस वह्नि से भिन्न वह्नि का अनुमान होता है और उस भिन्न वह्नि में पूर्वदृष्ट वह्नि के सादृश्य का ज्ञान होता है, उसी प्रकार अपनी नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति में जिस नील के अपने दर्शन का नैरन्तर्य गृहीत है, अन्य व्यक्ति की नील ग्रहणार्थ प्रवृत्ति से अन्य नील के दर्शन का नैरन्तर्य ही अनुमित हो सकता है और अन्यदृष्ट नील में स्वदृष्ट नील के सादृश्य की बुद्धि हो सकती है। इस प्रकार स्वदृष्ट और परदृष्ट नील में नील का भेद ही युक्तिसंगत है। किन्तु यदि स्व और पर के नीलविषयक प्रतिभास में भेद होने पर भी आपके द्वारा स्वदृष्ट और परदृष्ट में इसलिये अभेद माना जायगा कि ये दोनों सदृशव्यवहारादि कार्य के उत्पादक है, तो स्व और पर के सुखादि में भी अभेद की प्रसक्ति होगी क्योंकि स्व और पर के सुख से स्व और पर में समान रोमाञ्च के उद्गम आदि कार्य देखा जाता है।

न च सन्तानभेदाद् तद्भेदः, तत्रापि भेदकान्तरगवेषणायामनवस्थानात्। स्वरूपत एव तद्भेदे च सुखादेरपि तत एव भेदसंभवात्। न च देशैकत्वात् स्व-परदृष्टनीलादीनामेकत्वम्, देशस्यापि स्व-परदृष्टयोस्तदेकत्वायोगात्। तस्माद् ग्राहकाकारवत् प्रतिपुरुषमुद्भासमानं नीलादिकमपि भिन्नमेव, तच्चैककालोपलम्भाद् ग्राहकवत् स्वप्रकाशम्।

[सन्तानभेद से सुखादि का भेद मानने में अनवस्था]

यदि स्व और पर के सुख में ज्ञानभेद से भेद न मानकर सन्तानभेद से भेद माना जायगा तो उन सन्तानों के भेद के लिए भी ज्ञानभेद से भेद न मानकर अन्य भेदक की कल्पना करनी होगी जिसका पर्यवसान अनवस्था में होगा। यदि सन्तानों में स्वरूपतः अर्थात् भेदकान्तरनिरपेक्ष भेद

माना जायगा तो सुखादि में भी स्वरूपतः ही भेद मानना उचित होगा, न कि सन्तानभेद से। अतः जैसे स्व और पर द्वारा अनुभूयमान सुखादि में परस्पर भेद है इसी प्रकार स्व और पर से दृश्यमान नीलादि में भी भेद मानना युक्तिसंगत है। यदि यह कहा जाय कि-"स्व और पर के सुख में भेद इसलिये मानना आवश्यक है कि उन में देश का ऐक्य नहीं है अर्थात् उन दोनों का आश्रयभूत देश एक नहीं है। किन्तु स्वदृष्ट और परदृष्ट नीलादि में एकत्व माना जा सकता है क्योंकि जिस देश में एक व्यक्ति नील आदि को देखता है उसी देश में अन्य व्यक्ति भी नील को देखता है।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस युक्ति से स्वदृष्ट और परदृष्ट नील में ऐक्य नहीं है, उसी प्रकार स्वदृष्ट और परदृष्ट देश में भी ऐक्य नहीं है। अतः स्वदृष्ट और परदृष्ट नील को एकदेशाश्रित बताना अयुक्त है। इसलिये जैसे प्रत्येक मनुष्य में अवभासित होने वाला ग्राहक आकार भिन्न है उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष को ज्ञात होने वाला नीलादि भी परस्पर में भिन्न ही है। ग्राहक ज्ञान के साथ ही उपलभ्यमान होने के कारण ग्राहक के समान ही यह भी स्वप्रकाश है।

अथ ग्राहकाकारश्चिद्रूपत्वाद् वेदकः, नीलाकारस्तु जडत्वाद् ग्राह्य इति चेत्? न, अपरोक्षस्वरूपस्य चिद्रूपत्वस्य नीलादिसाधारण्यात्। 'नीलादेरपरोक्षस्वरूपमन्यस्माद् भवति, न तु बोधस्येति विशेष' इति चेत्? न, एकत्रापेक्षाऽनपेक्षाऽयोगात्। एवं चान्तर्बहिराकारयोस्तुल्यत्वेऽपि-'एकत्र ग्राहकताशक्तिः, अन्यत्र च ग्राह्यताशक्तिः'-इति परेषां वासनामात्रम्, असिद्धे ग्राह्यग्राहकभावे तच्छक्तिकल्पनाया अयोगात्, तस्याः कार्यानुमेयत्वात्। एवं च 'यदवभासते तज्ज्ञानम्, यथा सुखादिकम्, अवभासते च नीलादिकम्, अतो 'ज्ञानमेव' इति स्वभावहेतुः।

[जडरूपता और चिद्रूपता भेदक नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-'ग्राहकाकार चित्स्वरूप-प्रत्यक्षात्मकप्रकाशस्वरूप होने से ग्राहक है और नीलादि आकार जड़ यानी प्रकाशभिन्न होने से ग्राह्य है।"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि चिद्रूप अपरोक्षस्वरूप होने से नीलादि साधारण है, क्योंकि जैसे ज्ञान अपरोक्षव्यवहार का विषय होने से अपरोक्ष होता है उसी प्रकार नीलादि भी अपरोक्षव्यवहार का विषय होने से अपरोक्षस्वरूप है। यदि यह कहा जाय कि-"नीलादि की अपरोक्षरूपता अन्य प्रयुक्त है और बोध की अपरोक्षता सहज है-यह नीलादि आकार और ग्राहक ज्ञान दोनों के बीच अन्तर है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि बोध भी इन्द्रियादि सापेक्ष है। यदि यह कहा जाय कि-'बोध अपनी उत्पत्ति में ही इन्द्रियादि की अपेक्षा करता है अपनी अपरोक्षता में नहीं करता है, अतः उसकी अपरोक्षता सहज है'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि एकबोध में ही 'इन्द्रियादिसापेक्षत्व' और 'इन्द्रियादिनिरपेक्षत्व' इन परस्पर विरोधी भावाभाव का समावेश नहीं हो सकता।

[शक्तिभेद से आकार भेद का निरसन]

अतः अन्य कतिपय विद्वानों का यह कथन कि-'ज्ञान के ग्रहणात्मक आन्तराकार और नीलाद्यात्मक बाह्याकार इन दोनों में एककालिक सामग्री-प्रभवता होने से समानता होने पर भी आन्तराकार में ग्राहकताशक्ति और बाह्याकार में ग्राह्यताशक्ति होती है। अतः इस शक्तिभेद

से दोनों में ग्राहकाकार और ग्राह्याकार में भेद मानना आवश्यक है।"- तो यह कथन एकमात्र उनकी चिरप्ररूढ वासना का ही परिणाम है क्योंकि जब नीलाकार और ज्ञानाकार में ग्राह्यग्राहकभाव ही असिद्ध है तब ग्राहकताशक्ति और ग्राह्यताशक्ति की कल्पना ही नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति कार्यानुमेय होती है। अतः ग्रहण करना और गृहीत होना इस प्रकार कार्यभेद की सिद्धि के बिना ग्रहण करने की और गृहीत होने की विभिन्न शक्ति का अनुमान नहीं हो सकता। इसलिये सारे विचारों का निष्कर्ष इस स्वभावहेतुक अनुमान में फलित होता है कि 'जो अवभासित होता है वह ज्ञानात्मक होता है' जैसे सुखादि आन्तरवस्तु। नीलादि अवभासित होता है अतः वह भी ज्ञानात्मक ही है। इस अनुमान में सुखादि इस अभिप्राय से दृष्टान्तरूप में उपन्यस्त हुआ है कि जैसे ज्ञान आन्तर वस्तु है वैसे सुख भी आन्तरवस्तु है इनमें से कोई भी बहिरिन्द्रिय से गृहीत नहीं होता। अतः दोनों को एकजातीय मानने में कोई बाधा नहीं है। अथवा वह दृष्टान्तरूप में उस मत से उपन्यस्त है जिस मत में ज्ञान-सुखादि एक ही अन्तःकरण के परिणाम होने से परिणामी द्वारा अभिन्न होते हैं।

"कथं तर्हि 'भूतले घटः' इति प्रतीतिः, न तु 'भूतलं न घटज्ञानवत्' इतिवद् 'भूतलं न घटवत्' इति ! कथं वा 'अहं घटज्ञानवान्' इतिवत् 'अहं घटवान्' इति न प्रतीतिः ?" इति चेत् ?, पृच्छैतद् नियताधाराधेयभावकल्पनाबीजम्। न हि परेणाप्याधाराधेयभावो वास्तवो वक्तुं शक्यते, संयोगमात्रस्य तत्त्वे कुण्ड-बदरयोस्तद्विपर्ययस्य विनिगन्तुमशक्यत्वात्, तिर्यक्संयुक्तयोर्द्वयोस्तद्व्यवहाराच्च। न च बदरादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टसंयोगादेव बदराद्याधारता, क्षणभङ्गापत्त्या विशिष्टस्यातिरिक्तस्यानभ्युपगमात्, प्रतियोगित्वाद्यविवेचनाच्च। न च कुण्डादिस्वरूपैव बदराद्याधारता, तत्स्वरूपस्य साधारणत्वाद् बदरं प्रतीव करभं प्रत्यप्यविशेषात्। तस्माद् भूतलादौ घटाद्याधारताप्रतीतिरविद्याविशेषादेव नियतेति प्रतिपत्तव्यम्।

एतेन 'अर्थाभावेऽन्तर्बहिर्विभाग एव न स्यात्' इति निरस्तम्, भिन्नदेशसंबन्धित्वेन तदसंभवेऽपि विश्वरूपभेदेन तत्संभवात्; अन्यथा स्वप्नादौ रथादिज्ञाने बहिर्ज्ञानत्वं न स्यात्। एतेन 'अहमिदमाकारभेदोऽपि व्याख्यातः स्वरूपतस्तद्भेदात्, 'इदं नीलं' इत्यत्रेदमाकार-नीलाकारयोर्दोषादेवैकज्ञानत्वाभिमानात्। बहिर्नीलादिस्वरूपमिदंत्वं त्वनुपपन्नम्, असत्यप्यर्थे दोषवशात् 'इदम्' इति प्रतीतेः। 'इदं नीलम्' इत्यादिसहप्रयोगानुपपत्तेश्च' 'घटो घटः' इत्यादिवदिति दिग् ॥१०॥

[आधारता की प्रतीति अविद्यामूलक]

ज्ञेय और ज्ञान में ऐक्य मानने पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ज्ञेय और ज्ञान अभिन्न है तो क्यों 'भूतल में घट है' यह प्रतीति होती है ? और 'भूतल में घटज्ञान नहीं है' इस प्रकार 'भूतल में घट नहीं है' यह प्रतीति नहीं होती ? और क्यों 'मुझ में घटज्ञान है' इस प्रतीति के समान मुझ में घट है' यह प्रतीति नहीं होती ?"-तो बौद्ध की ओर से इसका यह उत्तर है कि इसका कारण नियत आधारआधेयभाव की कल्पना है। इस विषय में कुछ भी पूछना हो तो उक्त कल्पना के कारण को

ही पूछना चाहिये न कि इस कल्पना के आधार पर व्यवहार करने वाले मनुष्य को। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि बाह्यार्थवादी भी वास्तविक आधाराधेयभाव का समर्थन नहीं कर सकते। उन्हें भी कल्पित ही आधाराधेयभाव मानना पड़ता है। अन्यथा कुण्ड और बदर (=बेर) में संयोगमात्र से वास्तविक आधाराधेयभाव मानने पर कुण्ड जैसे बदर का आधार है वैसे बदर कुण्ड का आधार हो उसमें विनिगमना नहीं प्राप्त हो सकती, क्योंकि संयोग दोनों में ही समान है। तथा जो दो द्रव्य तिर्यक् अर्थात् पार्श्व देशों से संयुक्त होते हैं उनमें आधाराधेयभाव का व्यवहार नहीं होता है इसलिये भी संयोग वास्तविक आधाराधेयभाव का निमित्त नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि–"कुण्ड और बदर में संयोग समान होने पर भी संयोगमात्र को आधारता नहीं माना जाता किन्तु बदरप्रतियोगिकत्वविशिष्ट संयोग ही बदर की आधारता है। अतः वह संयोग कुण्ड में ही रहता है बदर में नहीं। अतः कुण्ड ही बदर का आधार होता है, बदर कुण्ड का आधार नहीं होता और बदर कुण्ड का आधार इसलिये भी नहीं होता कि कुण्ड और बदर में जो संयोग होता है वह कुण्डप्रतियोगिक नहीं होता है और कुण्डप्रतियोगिकत्वविशिष्टसंयोग ही कुण्ड की आधारता होती है।"–किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि यह समाधान तब हो सकता है जब बदरप्रतियोगिकत्वविशिष्ट संयोग और शुद्ध संयोग में भेद हो। अन्यथा बदर-कुण्ड का संयोग जैसे कुण्ड में है वैसे बदर में भी है और उस संयोग में बदरप्रतियोगिकत्व भी है अतः जब बदर में संयोग और संयोग में बदरप्रतियोगिकत्व विद्यमान है तो बदर में बदरप्रतियोगिकत्व विशिष्ट संयोग नहीं है–यह कहना असम्भव होगा। अतः बदर में भी बदर को आधारता की आपत्ति अपरिहार्य होगी। जब दोनों में भेद मानना है तब यह तभी सम्भव होगा जब कुण्ड में बदर के शुद्धसंयोग और बदर-प्रतियोगिक संयोग की क्रम से उत्पत्ति मानी जाय, क्योंकि किसी द्रव्य में एक द्रव्य के दो संयोग की उत्पत्ति एक साथ नहीं होती और क्रम से उत्पत्ति भी पूर्वसंयोग का नाश होने पर ही हो सकती है क्योंकि एक द्रव्य का दो संयोग किसी द्रव्य में एक साथ नहीं रहता किन्तु ऐसा मानने पर संयोग में क्षणभङ्ग की आपत्ति होगी।

उसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि संयोग में बदरप्रतियोगिकत्वादि क्या है उसका विवेचन भी नहीं हो सकता है। क्योंकि बदरप्रतियोगिकत्व का अर्थ यदि बदरवृत्तित्व किया जायगा तो बदरवृत्तित्वविशिष्ट संयोग बदर में ही रहेगा न कि कुण्ड में अतः बदर ही स्वयं अपना आधार हो जायगा, कुण्ड न हो सकेगा। यदि बदरप्रतियोगिकत्व का 'सामानाधिकरण्येन बदरवैशिष्ट्य' अर्थ किया जाय तो कुण्ड में किसी अन्य सम्बन्ध से बदर की अधिकरणता सिद्ध करनी होगी क्योंकि उसके बिना संयोग में बदर सामानाधिकरण्य का उपपादन नहीं हो सकेगा। यदि बदरप्रतियोगिकत्व का बदरजन्यत्व अर्थ किया जाय, तो बदरजन्य संयोग बदर में रहने से बदर में बदराधिकरणता का परिहार न हो सकेगा। इस प्रकार प्रतियोगिकत्व का विवेचन शक्य न हो सकने से बदरप्रतियोगिकत्व विशिष्ट संयोग को बदराधारतारूप नहीं माना जा सकता। यदि यह कहा जाय कि–"कुण्डादि में बदर की आधारता बदरस्वरूप होने से कुण्डादि ही बदर का आधार होता है बदर नहीं, क्योंकि कुण्डादि का स्वरूप बदर में नहीं रहता"–तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि बदर के प्रति जैसे कुण्ड का स्वरूप है वैसे ही करभ के प्रति भी कुण्ड का स्वरूप है, अतः कुण्डस्वरूप तो बदर और बदर से अन्य अनन्तपदार्थों के प्रति साधारण है, और साधारण होने से कुण्ड में बदर की आधारता के समान करभादि अन्यान्य अनन्त पदार्थों की आधारता की भी प्रसक्ति होगी। इसलिये यही मानना न्याय-

संगत है कि भूतलादि में घटादि की आधारता की प्रतीति-अविद्या=वासनाविशेष से ही नियन्त्रित होती है अतः आधाराधेयभाव के सम्बन्ध में कोई नया प्रश्न नहीं किया जा सकता।

कुछ लोगों की यह कल्पना है कि-"ज्ञान के आकार में जो 'अन्तर' 'बाह्य का विभाग होता है-जैसे ग्रहणाकार ज्ञान का अन्तराकार है और नीलादि आकार उसका बाह्य आकार है- यह विभाग अर्थ की अतिरिक्त सत्ता न मानने पर नहीं हो सकता'; किन्तु यह कल्पना भी निरस्तप्राय: है क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त अर्थसत्ता न मानने पर भिन्नदेश के साथ सम्बन्ध होने और न होने के आधार पर उक्त विभाग का भले सम्भव न हो किन्तु ज्ञान में विभिन्न रूपों के होने से रूपभेद से उक्त विभाग हो सकता है। अन्यथा यदि ज्ञान में बाह्यार्थाकारता बाह्यार्थ की भिन्न देश में सत्ता होने से ही मानी जायगी तो स्वप्नादि अवस्थाओं में जो भिन्नदेशसम्बन्धी रथादि न होने पर भी उनके ज्ञान में बाह्याकारता होती है वह उपपन्न न हो सकेगी। अतः ज्ञान की बाह्याकारता को अर्थसत्ता मूलक न मान कर वासनामूलक मानना ही उचित है। इसी प्रकार ज्ञान के अहमाकार और इदमाकार के भेद को भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् वे दोनों आकार भी विभिन्न अर्थों की सत्ता के अधीन न हो कर स्वरूपाधीन ही है-अर्थात् ज्ञान के अहमाकार और इदमाकार में भेदकान्तरनिरपेक्ष स्वाभाविक भेद है। 'इदं नीलम्' इस प्रकार के ज्ञानस्थल में इदमाकार नीलाकार भी वास्तव में एक दूसरे से स्वरूपत: भिन्न है, उनमें एकज्ञानरूपता की भ्रान्ति दोनों में भेद के अज्ञानरूप दोष से ही होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि-"अर्थ में जो इदन्त्व प्रतीत होता है वह ज्ञान का धर्म न होकर अर्थ का धर्म है। क्योंकि 'इदं' शब्द का प्रयोग बाह्यार्थ में ही लोक में दृष्ट है आन्तर अर्थ में नहीं। अत: नीलादि बाह्य पदार्थ को माने बिना तत्स्वरूप इदन्त्व की उपपत्ति नहीं हो सकती"; -क्योंकि शुक्तिस्थल में अविद्यमान रजत में भी दोषवश 'रजतमिदम्' इस प्रकार इदन्त्व की प्रतीति होती है अत: इदन्त्व नीलादिरूप बाह्य अर्थस्वरूप नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त इदन्त्व को नीलादि स्वरूप मानने पर भी दोष है कि जैसे 'घटो घटः' 'घटः कलशः' इत्यादि समानार्थक पदों का सहप्रयोग नहीं होता उसी प्रकार 'इदं नीलम्' इस प्रकार का सहप्रयोग भी नहीं हो सकेगा जब कि यह प्रयोग सर्वमान्य है ॥१०॥

११ वीं कारिका में बाह्यार्थ के अभाव के सम्बन्ध में अब तक किये गये विचारों का उपसंहार किया गया है।

निगमयति-

मूलम्—एवं चाऽग्रहणादेव तदभावोऽवसीयते।
अतः किमुच्यते मानमर्थाभावे न विद्यते ? ॥११॥

एवं च-उक्तरीत्या अग्रहणादेव=अदर्शनादेव तदभावः=बाह्यार्थाभावः अवसीयते। अत: किमुच्यते-'अर्थाभावे मानं न विद्यते' इति ? नीलादौ ज्ञानाभिन्नत्वग्रहे समीहितसिद्धेः।

उक्त रीति से ज्ञान के अभाव में बाह्यार्थ के अदर्शन से ही बाह्यार्थ के अभाव की सिद्धि होती है। अत: इस कथन का कोई अर्थ नहीं है कि 'बाह्यार्थ के अभाव में कोई प्रमाण नहीं है।' क्योंकि उक्त युक्तिओं से नीलादि में ज्ञान का अभेद है अर्थात् नीलादि ज्ञान से अभिन्न है, ज्ञानस्वरूप ही है, यह सिद्ध होने से विज्ञानवादी को अभीष्ट विज्ञानमात्र की सत्ता सिद्ध होती है। 'बाह्यार्थ नहीं

है' इस कथन से विज्ञानवादी को यही अभीष्ट है कि नीलादिस्वरूप में प्रतीत होने वाले सारे अर्थ ज्ञान से भिन्न नहीं है।

एतेन 'अदर्शनादेवाभावनिश्चये पुत्रादर्शनात् तदभावनिश्चयेनोरस्ताडनादिना शोकप्रसंगः' इति दुर्भाषितमपास्तम्, परेषां पुत्रध्वंसग्रहसामग्रीनियतत्वात् तदाकारस्य, पुत्रध्वंसग्रहस्य च शोकहेतुत्वादिति। कथं तर्हि प्राक् पूर्वकालसंबन्धित्वेनादर्शनात् तदभावग्रहः उक्तः ? इति चेत् ? धर्म्यतिरिक्तस्य तस्य दुर्वचत्वाद् धर्मिस्वरूपत्वे योग्यत्वेन तदापादनसंभवादित्याकलय। एवं च विज्ञानस्वसंवेदनस्यैव मानत्वादित्याशयव्याख्याने 'मानत्वात्' इत्यस्य 'मानोत्थापकत्वात्' इत्यर्थो बोध्यः ॥ ११ ॥

[पुत्र के अदर्शन से शोकप्रसंग का अनिष्ट बौद्ध को नहीं है]

कुछ लोगों का ऐसा कथन है कि-'अदर्शन से ही अभाव का निश्चय मानने पर घर से बाहर गये हुये मनुष्य को गृहस्थित पुत्र का अदर्शन होने से पुत्र के अभाव का निश्चय हो जायगा जिसके फलस्वरूप गृह से बाहर गये हुये मनुष्य को छाती कुट्टन करते हुये शोकाक्रान्त होना अनिवार्य है।'- किन्तु यह कथन युक्तिहीन होने से नितान्त दुर्भाषण मात्र है क्योंकि पुत्रवान् मनुष्य के शोक का कारण पुत्र के सामान्य अभाव का ज्ञान नहीं होता किन्तु पुत्रध्वंस का ज्ञान होता है और पुत्रध्वंसाकार ज्ञान तभी होता है जब उस प्रकार के ज्ञान की सामग्री होती है। उस सामग्री में पुत्र का ध्वंस भी घटक होता है। अतः गृह के बाहर गये हुए मनुष्य के समक्ष पुत्रध्वंस न होने से अथवा पुत्रध्वंस की कोई सूचना न होने से पुत्रध्वंस का ज्ञान न होने के कारण गृह के बाहर पुत्र के अदर्शन मात्र से शोक का प्रसंग नहीं हो सकता।

[अर्थ के अदर्शन से उसके अभाव के ग्रहण का तात्पर्य]

इस पर यदि यह कहा जाय कि-"यदि अर्थ के अदर्शन मात्र से उसके अभाव का ग्रहण नहीं होता तो पहले यह कैसे कहा गया कि दृश्यमान अर्थ में पूर्वकालसम्बन्ध के अदर्शन से पूर्वकालसम्बन्ध के अभाव का ग्रहण होता है ? यहां यह नहीं कह सकते कि-'दृश्यमान अर्थ में पूर्वकाल के सम्बन्ध के अभाव का ग्रहण भी पूर्वकाल के सम्बन्ध के ध्वंस का ही ग्रहण है';-क्योंकि दृश्यमान अर्थ में पूर्वकालसम्बन्ध के ध्वंस का ग्रहण अनुभूयमान नहीं है किन्तु पूर्वकालसम्बन्ध के अभावमात्र का अनुभव होता है"-इसका उत्तर यह है कि पूर्वकाल सम्बन्ध धर्मी से भिन्न दुर्वच है। अतः 'दृश्यमान अर्थ में यदि पूर्वकालसम्बन्ध होता तो वह धर्मीस्वरूप होने से प्रत्यक्षयोग्य होता।' इस प्रकार उसके सत्त्व से उसके प्रत्यक्ष का आपादान हो सकता है। अतः पूर्वकालसम्बन्ध का अदर्शन पूर्वकालसम्बन्ध की योग्यानुपलब्धिरूप है इसलिये पूर्वकालसम्बन्ध के अदर्शन से पूर्वकालसम्बन्ध के अभाव का ज्ञान होता है यह जो कहा गया है वह केवल अदर्शनमात्र से नहीं किन्तु योग्यतासहकृत अदर्शन से। उक्त रीति से बाह्यार्थ के अदर्शन को बाह्यार्थ के अभाव में प्रमाण मानने वाले विज्ञानमात्रवादी बौद्ध के आशय की जो यह व्याख्या की जाती है कि-'विज्ञान का स्वसंवेदन ही बाह्यार्थ के अभाव में प्रमाण है' उसे 'विज्ञान का स्वसंवेदन ही बाह्यार्थाभाव के साधक प्रमाण का उत्थापक है' इस अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि विज्ञानवादी की ओर से बाह्यार्थ के अभाव में विज्ञान

स्वयंसंवेदन को इस दृष्टि से प्रमाण कहा गया है कि विज्ञान स्वसंवेदी होने से स्व में भासित होने वाले नीलादि आकार को अपने से अभिन्नरूप में ग्रहण करता है। अतः वह स्वयं ही नीलादि आकार बाह्य न होने में प्रमाण होता है। किन्तु उपर्युक्त रीति से बाह्यार्थ का अदर्शन अर्थात् ज्ञानभिन्नरूप में नीलादि के अदर्शन को ज्ञानभिन्न नीलादि के अभाव में साधक प्रमाण रूप से सिद्ध न होने से उक्त कथन का अभिप्राय यही निर्धारित करना होगा कि स्वसंवेदी विज्ञान यतः नीलादि आकार को अपने से अभिन्न रूप में ग्रहण करता है अतः उससे यह फलित होता है कि नीलादि का ज्ञानभिन्नत्वरूप से अदर्शन होता है। अतः ज्ञान का स्वसंवेदन ज्ञानभिन्न अर्थ के अदर्शनरूप प्रमाण का उत्थापक-उद्भावक होकर ज्ञानभिन्न अर्थ की अभावसिद्धि में सहायक होता है ॥११॥

'विज्ञान स्वयंसंवेदी होने से बाह्यार्थाभाव के साधकप्रमाण का उत्थापक है।' इस के विरुद्ध १२ वीं कारिका में युक्ति प्रस्तुत की गई है—

अत्रोच्यते—

मूलम्—अर्थग्रहणरूपं यत् तत्स्वसंवेद्यमिष्यते।
तद्वेदने ग्रहस्तस्य ततः किं नोपपद्यते ? ॥ १२ ॥

यद्=यस्मात् तद्=विज्ञानम्, अर्थग्रहणरूपं=बाह्यार्थपरिच्छेदात्मकं सत्, स्वसंवेद्यमिष्यते–'नीलमहं वेद्मि' इति विच्छिन्नार्थग्रहणरूपतयाऽनुभूतेः, तद्वेदने=एवंभूतविज्ञानानुभवे तद्ग्रहः=बाह्यार्थग्रहः ततः=तस्मात् कारणात् किं नोपपद्यते ? अधिकृतवेदनस्यैवार्थमन्तरेणायोगात् ? इति।

खलस्य योगाचारस्य ज्ञात्वार्थद्वेषितामिव।
सभायामधुना सभ्याः ! अनर्थ उपतिष्ठते ॥ १ ॥

तथाहि–यत् तावदुक्तम्-'ज्ञानभिन्नस्य ज्ञानाऽविषयत्वाद् न बाह्यार्थः, इति तद् विपरीतम्, तद्विषयताप्रयोगस्य भेदगर्भत्वात्। किञ्च, ग्राह्यग्राहकाकारस्वरूपभेदः प्रत्यक्षसिद्ध एव। 'अत एव नीलाकारं नाहमाद्याकारमि'ति चेत् ? न, अनेकाकारकरम्बितैकविज्ञानानभ्युपगमे नील-धवलाद्यवगाहिचित्रज्ञानानुपपत्तेः। 'क्रमिकाण्येव तज्ज्ञानानि' इत्यभ्युपगमेऽप्येकमपि नीलादिज्ञानं न व्यवतिष्ठेत, नीलाकारेऽपि नीलत्वोपरागात्, एकापलापेऽन्यापलापस्य तुल्यत्वात्। चित्रज्ञानाभ्युपगमे च चित्रार्थोऽप्यनिवारितः, ग्राह्य-ग्राहकभेदस्य सत्यस्य प्रतिभासात्। एतेन 'विवेकेनाऽग्रहणाद् न तद्भेदः सत्यः' इति निरस्तम्, आकारयोरसंभेदेन वेदनस्यैव विवेचनत्वात्; प्रकाश-प्रकाशतयोस्तु मिथोऽनुपरागलक्षणेनाऽसंभेदेन वेदनाभावात्।

[बाह्यार्थग्रहण से अनुविद्ध विज्ञान का स्वसंवेदन—उत्तरपक्ष]

जिस कारण से विज्ञान को स्वसंवेद्य माना गया वह बाह्यार्थग्रहण रूप माना गया है इसीलिए ऐसे विज्ञान के अनुभव में ज्ञानभिन्न बाह्यार्थ का ग्रहण क्यों नहीं उपपन्न हुआ ?

विज्ञान बाह्यार्थ का निश्चायक होते हुये स्वसंवेद्य होता है। क्योंकि 'नीलमहं वेद्मि'=मैं नील को जानता हूं' इस प्रकार ज्ञान से भिन्न नीलादि अर्थ के ग्रहण रूप में विज्ञान की अनुभूति होती है। अतः विज्ञान के इस प्रकार के अनुभव में बाह्यार्थ का भान होना क्यों नहीं उपपन्न होता है ? सच बात तो यह है कि ज्ञान के ऐसे अनुभव में बाह्यार्थ का भान होता ही है, क्योंकि बाह्यार्थ को माने बिना स्वसंवेदीरूप में अभिमत ज्ञान की ही उपपत्ति नहीं हो सकती। व्याख्याकार ने योगाचारमत के खंडन का उपक्रम करते हुये परिहास की सुन्दर शैली में कहा है कि 'सभासद विद्वानों को यह देखना चाहिये कि जैसे खल=हिताऽहित के विवेक को न समझने वाला व्यक्ति, निष्कारण ही द्वेष करने लगता है उसी प्रकार योगाचार ने भी अर्थ के साथ द्वेष प्रदर्शित किया है, और ऐसा लगता है कि उसके अर्थद्वेष को जान कर ही विचार सभा में अब उसके पक्ष में अनर्थ उपस्थित होने जा रहा है। जो इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

योगाचार का यह कहना कि-'ज्ञान से भिन्न वस्तु ज्ञान का विषय नहीं होती अतः ज्ञान का विषयभूत अर्थ ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकता' ठीक नहीं है क्योंकि तद्विषयता का व्यवहार तद्भेदनियत होता है अर्थात् तद्भिन्न में ही तद्विषयता का व्यवहार होता है। योगाचार ने जो दूसरी बात यह कही थी कि-'ग्राह्याकार और ग्राहकाकार में भेद नहीं होता'-वह भी ठीक नहीं है क्योंकि दोनों का स्वरूपभेद प्रत्यक्ष सिद्ध है।

[एक ही ज्ञान अनेकाकार भी हो सकता है]

किन्तु ग्राह्याकार और ग्राहकाकार के भेद में साक्षीरूप से बाह्यार्थवादी बौद्ध का यह कथन कि-'ग्राह्याकार और ग्राहकाकार का स्वरूपभेद प्रत्यक्षसिद्ध है इसलिये नीलाकार अहमाद्याकाररूप नहीं होता है'-ठीक नहीं है क्योंकि अनेक आकारों से युक्त एक विज्ञान स्वीकार न करने पर नील-धवलादि के ग्राहक चित्र ज्ञान की उपपत्ति न हो सकेगी। यदि इसके विरुद्ध बाह्यार्थवादी बौद्धों की ओर से यह कहा जाय कि नील-धवलादि का एक ज्ञान नहीं होता किन्तु क्रम से भिन्न भिन्न ज्ञान उत्पन्न होते हैं-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर नीलादि एकैक अर्थ के ज्ञान की भी उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि नीलादि के ज्ञान में नीलत्वादि का भी भान होता है। अतः नील-धवलादि अनेक अर्थों के ग्राहक एक ज्ञान का अपलाप किया जायगा तो नीलादि और नीलत्वादि के ग्राहक एक ज्ञान का भी अपलाप, समान होने से परिहार्य न हो सकेगा। तो इस प्रकार जब चित्र-ज्ञान मानना आवश्यक है तो जैसे ज्ञान चित्रात्मक होता है वैसे ही अर्थ की चित्रात्मकता=अनेकान्त-रूपता अनिवार्य होगी। क्योंकि ग्राह्य और ग्राहक का भेद सत्य रूप में प्रतिभासित होता है अतः ग्राहक से भिन्न ग्राह्य की सत्ता है और ग्राह्य अनेकान्तरूप है।

योगाचार की ओर से जो यह कहा गया था कि-"ग्राहकाकार और ग्राह्याकार का विभक्त-रूप में ग्रहण न होने से उनका भेद सत्य नहीं है" वह भी निरस्त है। क्योंकि ग्राह्याकार और ग्राहकाकार इन दोनों का असंभेद=परस्परानुपराग रूप से अनुभव होता है अतः वह अनुभव ही दोनों के भेद का साधक है। ग्राह्याकार और ग्राहकाकार के समान जो प्रकाश और प्रकाशता में भेद की प्रसक्ति योगाचार द्वारा आपादित की गई थी वह भी नहीं हो सकती क्योंकि उन दोनों का परस्परानुपरागरूप असंभेद के साथ अनुभव नहीं होता।

यदपि 'सहोपलम्भनियमात्' इत्याद्युक्तम् तदपि न युक्तम् । यतः सहोपलम्भो १. युगपदुपलम्भः, २. क्रमेणोपलम्भाभावः, ३. एकोपलम्भो वाभिप्रेतः ? आद्ये, बुद्धचित्तसन्तानान्तरचित्तानां सहोपलम्भनियमेऽपि तदभेदाभावेन व्यभिचारः । यत्तु–"यो हि ज्ञानोपलम्भ एव ज्ञेयोपलम्भः, ज्ञेयोपलम्भ एव च ज्ञानोपलम्भः स युगपदुलम्भनियमोऽभिधीयते' इति धर्मोत्तरानुसारिणः समाधानम्, बुद्धज्ञाने च नायं नियमः, पृथक् संतानान्तरैः स्वचित्तसंवेदनादिति" तन्न, 'यज्ज्ञेयं यज्ज्ञानोपलम्भनियतसहोपलम्भं तत् तज्ज्ञानाभिन्नम्' इत्यर्थे पारमार्थिकज्ञाने सांवृतज्ञेयाभेदसाधने बाधात्, 'यज्ज्ञेयोपलम्भो यज्ज्ञानोपलम्भसहभावनियतः स तज्ज्ञानाभिन्नः' इत्युक्तौ च पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः, यदीयत्वस्यापि व्याप्तौ निवेशे च बुद्धचित्तस्य संतानान्तरग्राहित्ववद् भेदं विनापि कयाचित् प्रत्यासत्त्या ज्ञेयग्राहित्वोपपत्तावप्रयोजकत्वम्, तदग्राहित्वे च तस्य सार्वज्ञ्यानुपपत्तिः । 'विशुद्धज्ञानत्वेनैव तस्य गलितग्राह्यग्राहकाकारकलंकत्वात् सर्वज्ञत्वम्' इति कश्चित्; तदसत्, सर्वांशे सर्वज्ञतावद्दर्शनेनैवाऽघटमानत्वादिति न किञ्चिदेतत् । द्वितीये, तुच्छस्य तस्य न प्रतीतिः । तृतीये च साध्याऽविशेषः । किञ्च, एकान्तैक्ये सहशब्दार्थानुपपत्तिरिति न किञ्चिदेतत् ।

एवं च 'नीलमहं वेद्मि' इत्यत्र कर्म-कर्तृ-भावप्रत्ययस्याविद्यकत्वं परास्तम्, बाधाभावात्, अन्यथा नीलादिप्रत्ययानामपि तथात्वापत्त्या शून्यतायां पर्यवसानप्रसङ्गात् । न च स्वातन्त्र्योपलम्भो बाधकः' इत्युक्तं युक्तम्, 'नीलमहं वेद्मि' इति परस्परोपरागेणैव प्रतीतेः । न च समकालयोर्भिन्नकालयोर्वा ग्राह्य-ग्राहकभावाऽसंभवात् 'अर्थाऽग्राहि ज्ञानम्' इति युक्तम्, अनुमानोच्छेदप्रसङ्गात्, तत्रापि लिङ्ग-ऽनुमानयोः कार्यकारणभावे उक्तविकल्पदोषानतिवृत्तेः । एतेन 'नीलादि ज्ञानम्, ज्ञानकार्यत्वात्, उत्तरज्ञानवत्' इत्यपि निरस्तम्, अनुमानस्यापि लिङ्गजन्यत्वेनोत्तरलिङ्गक्षणवल्लिङ्गतापत्तेः, उपादान-निमित्तशक्तिस्वभावभेदाभ्यां समाधानस्यापि तुल्यत्वात् ।

एवं च 'यथा प्रत्यासत्त्या ज्ञानं स्वरूपं गोचरयति तथैव चेदर्थम्, तदा तयोरैक्यापत्तिः; अन्यथा चेत्, स्वभावद्वयापत्तिः, तदपि चापरेण स्वभावद्वयेन, तदपि चान्येन तेन ग्राह्यमित्यनवस्था, स्वसंविदितस्याऽसंविदितरूपायोगात्' इत्यपि निरस्तम्, लिङ्गस्य समानक्षणानुमानकरणेऽप्यस्य पर्यनुयोगस्य समानत्वात् । 'लिङ्गं तदुभयकरणैकस्वभावं' चेत् ? 'ज्ञानमपि स्व-परग्रहणैकस्वभावम्' इति स्वीकारे कस्तव कर्णशूलनिवारणोपायः ?

[सहोपलम्भ नियम की तीन विकल्पों से समीक्षा]

'सहोपलम्भ के नियम से ज्ञान और ज्ञेय में ऐक्यसिद्धि' की जो बात कही गयी वह भी युक्ति-

संगत नहीं है, क्योंकि सहोपलम्भ शब्द के जो अर्थ सम्भव हैं उनमें कोई भी दोषमुक्त नहीं हैं। जैसे सहोपलम्भ के तीन अर्थ सम्भाव्य हैं-१. युगपद् (एक साथ)उपलम्भ, २. क्रमिकोपलम्भाभाव तथा ३. एकोपलम्भ (अथवा एकविषयकोपलम्भ)। प्रथम अर्थ को स्वीकार करने पर यह नियम बनेगा कि जिन पदार्थों का युगपदुपलम्भ होता है उनमें अभेद होता है'-किन्तु यह नियम व्यभिचारग्रस्त है क्योंकि बुद्ध को स्वचित्त और सन्तानान्तरवर्त्ती चित्तों का युगपद् उपलम्भ होता है किन्तु दोनों में अभेद नहीं है। इस विषय में 'धर्मोत्तर' के अनुयायिओं का समाधान यह है कि-'युगपदुपलम्भ नियम से ज्ञानोपलम्भ में ज्ञेयोपलम्भ का और ज्ञेयोपलम्भ में ज्ञानोपलम्भ का अभेद अभिमत है। इस नियम के फलस्वरूप ज्ञेय और ज्ञान का ऐक्य सिद्ध होता है। बुद्ध के ज्ञान में यह नियम नहीं है अर्थात् उनके ज्ञानोपलम्भ और ज्ञेयोपलम्भ में अथवा ज्ञेयोपलम्भ और ज्ञानोपलम्भ में अभेद नहीं है। क्योंकि बुद्ध को स्वचित्त और सन्तानान्तरवर्त्तिचित्त का पृथक् संवेदन होता है।'-किन्तु यह समाधान ठीक नहीं है क्योंकि युगपदुपलम्भ नियम का उक्तार्थ में अभिप्राय मानने पर यह व्याप्ति फलित होती है कि-"जो ज्ञेय जिस ज्ञान के उपलम्भ के साथ अवश्यमेव उपलब्ध होता है वह ज्ञेय उस ज्ञान से अभिन्न होता है।"-किन्तु इसमें बाध है, क्योंकि विज्ञानवादी के मत में ज्ञान पारमार्थिक होता है और ज्ञेय सांवृत=आविद्यक-अविद्याकल्पित होता है और दोनों का उपलम्भ नियमेन साथ ही होता है। अतः उक्त व्याप्ति के अनुसार पारमार्थिक ज्ञान में सांवृत=अपारमार्थिक ज्ञेय के अभेद का अनुमान करने में बाध अनिवार्य है। यदि उक्त नियम का पर्यवसान इस व्याप्ति में माना जायगा कि-जो ज्ञेयोपलम्भ जिस ज्ञानोपलम्भ का नियमेन सहभावी होता है वह ज्ञेयोपलम्भ उस ज्ञानोपलम्भ से अभिन्न होता है और इस प्रकार ज्ञेयोपलम्भ और ज्ञानोपलम्भ में ऐक्य सिद्ध कर के एकोपलम्भ-विषयत्व से ज्ञेय-ज्ञान में ऐक्य का साधन माना जायगा तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उसमें पूर्वोक्त दोष-अर्थात् बुद्ध के सन्तानान्तरवर्त्ती चित्तोपलम्भरूप ज्ञेयोपलम्भ में बुद्धचित्तात्मक ज्ञानोपलम्भ का नियत सहभाव होने पर भी उन उपलम्भों में अभेद न होने से पूर्वोक्तव्यभिचार की निवृत्ति नहीं होती।

[व्याप्ति में पुरुषाभेद के प्रवेश करने पर अनिष्ट]

यदि यह कहा जाय कि अनन्तरोक्त व्याप्ति के शरीर में ज्ञेयोपलम्भ और ज्ञानोपलम्भ में यत्पुरुषीयत्व का निवेश कर उसे पुरुषभेद से नियन्त्रित कर देने पर बुद्ध का अन्तर्भाव कर के उक्त व्याप्ति में अब व्यभिचार दोष नहीं हो सकता-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्त व्याप्ति जब बुद्धोपलम्भ साधारण न होगी तो बुद्ध का ज्ञान जैसे अपने से भिन्न सन्तानान्तरवर्तीचित्त का ग्राहक होता है वैसे ही ज्ञान किसी प्रत्यासत्तिविशेष यानी योगजप्रत्यासत्ति से स्वभिन्न ज्ञेय का भी ग्राहक हो सकता है अतः ज्ञान से भिन्न ज्ञेय की सिद्धि अनिवार्य हो जायगी। यदि ज्ञेय का ग्राहक न माना जायगा तो बुद्ध की सर्वज्ञता का भङ्ग होगा। इस पर किसी विद्वान् का यह कहना है कि-"बुद्ध की सर्वज्ञता का अर्थ सर्वविषयक ज्ञान की आश्रयता नहीं है किन्तु 'ग्राह्याकार और ग्राहकाकार ये दोनों वासनामूलकज्ञान के कलङ्क है। इन कलङ्कों से मुक्त विशुद्धज्ञानात्मकता' ही सर्वज्ञता है, अतः ज्ञेय का अग्राहक होना बुद्ध की सर्वज्ञता को अनुकूल ही है।'-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि सभी वस्तुओं का अज्ञान अर्थात् किसी वस्तु का भी ज्ञान रहने पर 'सर्वज्ञ' पद का अर्थ ही नहीं घटित हो सकता, अतः यह कथन नितान्त तुच्छ है।

[क्रमिकोपलम्भाभाव–दूसरे अर्थ की समीक्षा]

सहोपलम्भ का क्रमिकोपलम्भाभावरूप दूसरा अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह अभावात्मक होने से तुच्छ है, अतः उसकी प्रतीति न हो सकने से व्याप्ति आदि का ज्ञान दुर्घट होने के कारण उससे विज्ञानवादी को अभिमतसिद्धि नहीं हो सकती । सहोपलम्भ का तीसरा अर्थ भी युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि एकोपलम्भ का एकविषयकोपलम्भ अर्थ करने पर उस का अर्थ होगा स्वविषयकत्व और स्वभिन्नविषयकत्व-उभय सम्बन्ध से वस्तुशून्योपलम्भ अर्थात् जिस उपलम्भ का परस्पर भिन्न दो विषय न हो । तथा व्याप्ति इस प्रकार बनेगी कि जो विषयता सम्बन्ध से इदृशोपलम्भ से विशिष्ट होता है वह स्वविषयनिष्ठभेदप्रतियोगितासून्यत्व सम्बन्ध से भी इदृशोपलम्भ विशिष्ट होता है। अर्थात् इदृशोपलम्भ के विषय में इदृशोपलम्भ के विषय का भेद नहीं होगा । किन्तु इस में साध्य और हेतु में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि हेतु के शरीर में ज्ञान में भिन्नद्वयाविषयकत्व प्रविष्ट है और यही विज्ञानवादी को सिद्ध करना है। यदि एकोपलम्भ का 'एक उपलम्भ' अर्थ किया जायेगा तो यह व्याप्ति बनेगी कि जो यद्विषयकोपलम्भ का विषय होता है वह उस से अभिन्न होता है तो इस में समूहालम्बन ज्ञान के विषयों में व्यभिचार होगा ।

यह भी ज्ञातव्य है कि ज्ञेयोपलम्भ और ज्ञानोपलम्भ में ऐक्य मानने पर दोनों के बीच सह-शब्दार्थ का प्रयोग भी नहीं हो सकेगा क्योंकि 'चैत्रः मैत्रेण सहागतः' इस व्यवहार की भाँति 'चैत्रः आत्मना सहागतः' यह व्यवहार नहीं होता । अतः सह शब्दार्थ को भेदघटित मानना आवश्यक होता है। इसलिये जिन में सर्वथा ऐक्य होगा उन के मत में सहशब्द का प्रयोग नहीं हो सकता अतः सहोपलम्भ नियम से ज्ञेय और ज्ञान में ऐक्य के साधन का प्रयत्न अकिञ्चित्कर है ।

[कर्मकर्तृभाव की प्रतीति अविद्यामूलक नहीं है]

विज्ञानवादी को ओर से जो यह बात कही गयी थी कि मैं 'नील को जानता हूं' इस प्रकार जो नील और अहमर्थ ज्ञान में कर्म-कर्तृभाव की प्रतीति होती है वह प्राविधक अविद्याकल्पित है–यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि कर्म-कर्तृभाव की प्रतीति का उत्तरकाल में बाध नहीं होता । यदि अबाधित ज्ञान को भी भ्रम माना जायगा तो नील-पीतादि प्रतीतियाँ भी भ्रम हो जायगी और भ्रम से विषय-सिद्धि नहीं होती अतः शून्यता में विज्ञानवाद के पर्यवसान की आपत्ति होगी । 'नील, अहमर्थ, और ग्रहणक्रिया इन का स्वतन्त्र रूप से यानी परस्परासम्बद्धरूप से उपलम्भ कर्म-कर्तृभाव की प्रतीति में बाधक है'- यह भी युक्त नहीं है क्योंकि 'मैं नील को जानता हूं' - इस प्रतीति में उक्त तीनों का परस्परसम्बद्धरूप में भान स्पष्ट है। यह जो बात कही गयी थी कि ज्ञेय और ज्ञान को समकालीन मानने पर विनिगमनाविरह से और भिन्नकालीन मानने पर ग्रहणकाल में ज्ञेय के विद्यमान न होने से ज्ञेय और ज्ञान में ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं हो सकता अतः ज्ञान अर्थ का ग्राहक नहीं हो सकता,-यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ग्राह्यग्राहकभाव के खण्डन की उक्त रीति अपनाने पर अनु-मान के कार्यकारणभाव में भी उक्त विकल्प में होनेवाले दोषों का प्रवेश अनिवार्य है। अर्थात् लिङ्ग और अनुमान को समकालीन मानने पर उन में कौन कारण और कौन कार्य इस में कोई विनिगमना न होगी और भिन्नकालीन मानने पर कार्यकारणभाव इसलिए नहीं होगा कि क्षणिक कारण अपने काल में अविद्यमान का भी जनक होगा तो अन्य भावि कार्यों में भी अविद्यमानत्व समान होने से उन सभी के जनकत्व की आपत्ति होगी ।

[अनुमान में लिंगात्मकता की आपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-'नीलादि में ज्ञान का ऐक्य अनुमानसिद्ध है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है-'नीलादि ज्ञान से अभिन्न है क्योंकि वह ज्ञानका कार्य है, जैसे उत्तरवर्तीज्ञान''-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जो जिस का कार्य हो वह उस से अभिन्न हो ऐसा नियम मानने पर जैसे उत्तरलिंग-क्षण पूर्वलिंगक्षण से अन्य होता है उसी-प्रकार अनुमान भी लिंगजन्य होने से अनुमान में भी लिंगात्मकत्व की आपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि—उपादानशक्ति एवं उपादान स्वभाव से सम्पन्न जिस हेतु से जो जन्य होता है वह उस से अभिन्न होता है-यह व्याप्ति है। अनुमान का जनक लिंग-उपादानस्वभाव सम्पन्न नहीं है किन्तु निमित्तशक्ति एवं निमित्तस्वभावसम्पन्न है अतः लिंगजन्यत्व से अनुमान में लिंगरूपता का आपादन नहीं हो सकता''—तो यह समाधान ज्ञान और ज्ञेय के मध्य भी समान है क्योंकि नीलादि ज्ञेयपदार्थ ज्ञाननिमित्तक है, न कि ज्ञानोपादानक। अतः ज्ञानजन्यत्व से नीलादि में ज्ञानभिन्नत्व का साधन अशक्य है।

[भिन्न प्रत्यासत्ति से अर्थ ग्रहण में आपत्ति की तुल्यता]

ज्ञेय-ज्ञान के ऐक्य पक्ष में यह भी एक युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि-'ज्ञान जिस प्रत्यासत्ति से अपने स्वरूप को ग्रहण करता है उसी प्रत्यासत्ति से यदि अर्थ को भी ग्रहण करेगा तो दोनों में ऐक्य अनिवार्य है क्योंकि स्वरूप के साथ ज्ञान की तादात्म्यप्रत्यासत्ति है। अतः वही प्रत्यासत्ति यदि अर्थ के साथ भी होगी तो अर्थ को ज्ञान से भिन्न मानना या कहना असम्भव होगा। यदि कहेंगे—'अपने स्वरूप के ग्राहक प्रत्यासत्ति से भिन्न प्रत्यासत्ति द्वारा अर्थ का ग्रहण करेगा' तो भिन्न दो प्रत्यासत्ति से ग्रहणकर्तृस्वरूप स्वभावद्वय की आपत्ति होगी। फिर उस स्वभावद्वय को भी दूसरे स्वभावद्वय से ग्रहण करेगा और उस स्वभावद्वय को भी अन्य स्वभावद्वय से ग्रहण करेगा—तो अनन्त स्वभावभेद की कल्पना होने से अनवस्था होगी। इसके साथ यह भी नयी आपत्ति होगी कि ज्ञान स्वसंविदित होता है अत एव उस पदार्थ में ऐसे स्वभाव की कल्पना उचित नहीं हो सकती जो कि स्वसंविदित न हो। अतः भिन्नप्रत्यासत्ति से अपने स्वरूप और अर्थ का ग्रहण मानना सम्भव न होने से दोनों को एक प्रत्यासत्ति से ग्राह्य मानना आवश्यक होगा और इसके कारण उक्त रीति से दोनों में ऐक्य की सिद्धि अनिवार्य होगी-, किन्तु यह युक्ति भी अनादरणीय है क्योंकि उक्त प्रश्न के समान ही लिंग के विषय में भी यह प्रश्न हो सकता है कि वह समानक्षण का और अनुमानक्षण का एकरूप से कारण होता है ? या भिन्नरूप से ? एकरूप से कारण होने पर दोनों में ऐक्यापत्ति होगी और भिन्नरूप से कारण मानने पर लिंग में स्वभावद्वय की आपत्ति होगी। फिर उस स्वभावद्वय से उपेत-लिंग की उत्पत्ति के लिये उस के कारणों में भी स्वभावद्वय की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार पूर्व-पूर्व करणों में स्वभावभेद करने से अनवस्था होगी। यदि यह कहा जाय कि लिंग अपने एक ही स्वभाव से परस्पर भिन्न समानक्षण और अनुमानरूप दो कार्यों का जनक होता है तो फिर ज्ञान भी एक ही स्वभाव से अपने स्वरूप और अर्थ का ग्राहक होता है। इन शब्दों से यदि विज्ञानवादी के कान में पीडा होती है तो इस के प्रतिकार का क्या उपाय है ? कहने का आशय यह है कि—'ज्ञान अपने स्वभाव से ही अपने स्वरूप और अपने से भिन्न अर्थ का ग्राहक होता है'- ऐसा यह मानने में कोई बाधा नहीं है।

एवं ज्ञानाद् ग्रहणक्रियाया अर्थान्तरत्वा-ऽनर्थान्तरत्वपक्षदोषेऽप्यनुमाने लिंगादुत्पत्ते-स्तत्पक्षदोषतौल्यं विभावनीयम् ।

[ग्रहणक्रिया के ऊपर आरोपित दोष का प्रतीकार]

'ज्ञान से ग्रहण क्रिया होती है' इस मान्यता में विज्ञानवादी की ओर से ग्राह्य-ग्राहकभाव के विरुद्ध जो यह दोष प्रदर्शित किया गया था कि-'ज्ञान से होने वाली ग्रहणक्रिया को ज्ञान से अर्थान्तर माने गए यदि उस को स्वतोग्राह्य माना जायगा तो ग्रहणक्रिया का ग्रहणस्वरूपात्मनैव ज्ञान होगा उसमें ज्ञानकर्तृकता का ज्ञान न हो सकेगा । यदि परतः ग्राह्य माना जायगा तो ग्रहणक्रिया को परकर्तृक ग्रहणक्रिया होगी, उस के विषय में भी इसी प्रकार का प्रश्न उठाने पर और उस का इसी प्रकार का समाधान करने पर अनवस्था होगी । और यदि ग्रहणक्रिया को ज्ञान से अर्थान्तर न माना जायगा तो अभिन्न में कर्तृ-क्रिया भाव सम्भव न होने से ग्राहकभाव असिद्ध होगा ।''–किन्तु यह दोष विज्ञानवादी के मत में लिंग और अनुमान के कार्यकारणभाव में भी समान है-जैसे, लिंग-अनुमान के कार्यकारणभाव के सम्बन्ध में भी यह प्रश्न ऊठना स्वाभाविक है कि कार्यकारणभाव को यदि लिंग और अनुमान से भिन्न यानी ज्ञानाऽनात्मक मानने पर विज्ञानवादी की सिद्धान्तहानि होगी । ज्ञानात्मक मानने पर यदि उस का स्वतोग्रहण माना जायगा तो उस के स्वरूपमात्र का ग्रहण होगा, लिंगानुमाननिष्ठतया उस का ज्ञान नहीं हो सकेगा । यदि परतोग्रहण होगा तो वहाँ पर अनुमान ही होगा, अतः वह अनुमान और उस के कारणभूत लिंग के कार्यकारणभाव के सम्बन्ध में भी इसीप्रकार का समाधान करने में अनवस्था चलेगी । अतः लिंग और अनुमान के हेतु-हेतुमद्भाव की निर्दोषता जिस प्रकार विज्ञानवाद में सिद्ध होगी उसीप्रकार ग्राह्य-ग्राहकभाव अर्थात् 'ग्रहण का कर्ता ग्राहक है और ग्रहणक्रिया का आश्रय ग्राह्य है' इस मान्यता को भी निर्दोषता सिद्ध हो सकती है ।

'परमार्थतो लिंगं नानुमानकारणम्, व्यवहाराच्च तथेष्यत' इति चेत् ? अर्थस्यापि तत एव ज्ञानग्राह्यत्वं किं नेष्यते ? 'व्यवहाराऽप्रामाण्याल्लिङ्गमप्यनुमानकारणं तत्त्वतो नेष्यत एव, ग्राह्य-ग्राहकभाववत् कार्यकारणभावस्यापि निषेधात्, समारोपव्यवच्छेदकरणात् त्वनुमानं प्रमाणमिष्यते' इति चेत् ? न, तत्र समारोपव्यवच्छेदस्य त्वन्मते कथमपि कर्तुमशक्यत्वात्, नाशस्य निर्हेतुकत्वाभ्युपगमात्, तत्कारणानां सामर्थ्येऽसामर्थ्ये वा तदुत्पत्तिप्रतिबन्धस्यापि वक्तुमशक्यत्वात्;

"यस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता ।
नित्यत्वादचिकित्स्यस्य कस्तां क्षपयितुं क्षमः ? ।।"

इति स्वयमेवाभ्युपगमात् ।

यदि यह कहा जाय कि 'लिंग परमार्थतः अनुमान का कारण ही नहीं किन्तु व्यवहारवश उसे अनुमान का कारण माना जाता है ।' तब लिंग और अनुमान के हेतु-हेतुमद्भाव के दृष्टान्त से अर्थ और ज्ञान में व्यवहार से ग्राह्य-ग्राहकभाव का उपपादन क्यों नहीं हो सकता ?' क्योंकि जैसे लिंग में व्यवहारवश अनुमानकारणता मानी जाती है उसीप्रकार अर्थ में व्यवहारगत ज्ञानग्राहिता

भी मानी जा सकती है जिससे अर्थग्रहण व ज्ञान में कार्यकारणभाव बन सकता है और इस से बाह्य अर्थ की वास्तविकता भी सुरक्षित रहती है। यदि यह कहा जाय कि-'लिंग में अनुमान कारणता का व्यवहार अप्रामाणिक है अतः लिंग भी वस्तुतः अनुमान का कारण नहीं ही है।' ग्राह्यग्राहकभाव के समान कार्यकारणभाव भी विज्ञानवादी को अमान्य है। फिर भी अनुमान में जो प्रमाणव्यवहार होता है वह भी समारोप के व्यवच्छेद का जनक होने से'।-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि समारोप का व्यवच्छेद समारोप की निवृत्तिरूप है। और निवृत्ति नाश रूप होती है एवं नाश बौद्धमत में निर्हेतुक है। अतः समारोपव्यवच्छेद को अनुमानहेतुक कहना शक्य नहीं है।

[बौद्धमत में अनुमान का असंभव]

इस के अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि समारोपव्यवच्छेद को इसलिये भी अनुमानहेतुक नहीं कहा जा सकता कि अनुमान स्वयं ही सम्भवित नहीं है। पर्वत में वह्नि के समारोप का व्यवच्छेद वह्नि के अनुमान से होगा और वह्नि का अनुमान धूमात्मक लिंग से होगा और उसमें धूम में वह्नि का व्याप्तिज्ञान अपेक्षित है। किन्तु धूम में वह्नि का व्याप्तिज्ञान तादात्म्य से तो सम्भवित नहीं है क्योंकि दोनों में अत्यन्त भेद है। अतः वह्नि से धूम की उत्पत्ति द्वारा ही इस व्याप्ति का ज्ञान होगा, किन्तु यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि धूम में वह्नि से उत्पत्ति होने का निर्णय धूम और वह्नि के कार्यकारणभाव के निर्णय से ही हो सकता है किन्तु वह बौद्धमतानुसार असम्भव है क्योंकि वह्नि को धूम के प्रति वह्नित्वरूप से कारण मानने पर वह्निसामान्य में धूमजनन का सामर्थ्य मानना होगा। जिसके फलस्वरूप आर्द्रइन्धन के असंनिधान में भी वह्नि से धूमोत्पत्ति का प्रसंग होगा, एवं असमर्थ मानने पर आर्द्रेन्धनसंयुक्तवह्नि से भी धूम की उत्पत्ति न हो सकेगी। यदि वह्नि को धूम के प्रति धूमकुर्वद्रूपत्वेन कारण मानेंगे, तो धूम विशेष में वह्निविशेष का ही व्याप्तिज्ञान हो सकेगा किंतु धूम सामान्य में वह्निसामान्य का व्याप्तिज्ञान नहीं होगा। फलतः अनुमान का उदय शक्य न होने से समारोपव्यवच्छेद को अनुमानहेतुक कहना सम्भव नहीं हो सकता। उक्तरीति से व्याप्तिज्ञान की असम्भाव्यता को स्फुट करने के लिये व्याख्याकार ने बौद्धों के ही 'यस्य शक्तिरशक्तिर्वा.......' इत्यादि वचन को उपन्यस्त किया है जिस का अर्थ यह है कि-'जिस वस्तु में कार्य की शक्ति अथवा अशक्ति सहज होती है उस शक्ति अथवा अशक्ति से वह वस्तु सदा अपने पूरे अस्तित्वकाल में संसृष्ट होती है अतः वह वस्तु अचिकित्स्य अर्थात् उस शक्ति अथवा अशक्ति से पृथक् करने के लिये अयोग्य होती है। अतः उस शक्ति अथवा अशक्ति को कौन निवृत्त कर सकता है!' बौद्ध ने स्वयं ही ऐसा माना है।

न चानुमानसहायस्य प्राक्तनसमारोपक्षणस्योत्तरसमारोपक्षणान्तरजननासमर्थक्षणजननाद् द्वितीयक्षणे कारणाभावादेव समारोपानुत्पत्तेरनुमानप्रामाण्यम्, लिङ्गाऽनुमानयोरिव पूर्वोत्तरसमारोपक्षणयोर्हेतुफलभावाभावात्, न्यायस्य समानत्वात्।

[पूर्वोत्तर समारोपक्षण में हेतु-फल भाव का असंभव]

यदि यह कहा जाय कि-"अनुमान-लिङ्गज्ञान सहकृत पूर्वकालिक समारोपक्षण ऐसे क्षण का जनक होता है जो क्षण अपने उत्तरकाल में नये समारोपक्षण को उत्पन्न नहीं कर सकता। आशय यह है कि जब पर्वत में वह्नि अभाव के किसी समारोपक्षण में वह्निव्याप्तिविषयकधूमज्ञान

रूप लिङ्गज्ञान उत्पन्न होता है तो उसके द्वितीयक्षण में वह्नि अभाव का समारोपक्षण और वह्नि अनुमान दोनों का उदय होता है क्योंकि पूर्व में उक्त समारोप का विरोधी वह्नि अनुमान संनिहित नहीं रहता। किन्तु उसके अग्रिमक्षण में वह्नि अभाव के समारोप का जन्म नहीं हो सकता क्योंकि उसका विरोधी वह्नि-अनुमान द्वितीयक्षण में उत्पन्न हो जाता है। अत: द्वितीयक्षण में प्रतिबन्धकाभावविशिष्ट समारोपक्षण रूप कारण का अभाव होने से अग्रिमक्षण में समारोप की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार वह्निअभाव के समारोप का व्यवच्छेद होने से वह्निअनुमान में प्रामाण्य उपपन्न हो सकता है।"—

तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस न्याय से लिङ्ग और अनुमान में कार्यकारणभाव नहीं हो सकता उसी न्याय से पूर्वोत्तरवर्ती समारोपक्षण में भी कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। अत: यह नहीं कह सकते कि-लिङ्गज्ञान-सहकृत पूर्वकालिक समारोपक्षण ऐसे क्षण का जनक होता है जो अपने उत्तरकाल में समारोपक्षण को नहीं उत्पन्न कर सकता।

यदपि 'पूर्वदृष्टैकत्वागतेरयोगाद् नानुभवात् प्रागर्थसिद्धिः' इत्यभिहितम्, तत्रापि न सम्यगवहितम्, प्रत्यभिज्ञयैव तदेकत्वावगतेः। न च –'सोऽयमि'ति नैकं ज्ञानम्– इत्युक्तं युक्तम्, प्रत्यक्षत्वजातिवादिनां तदैक्यासंगतावप्यस्माकं स्वरूप इवेदमंशेऽपि स्पष्टतया प्रत्यक्षत्वेऽपि तदुपयोगसामान्ये विलक्षणक्षयोपशमबलायातप्रत्यभिज्ञात्वाऽविरोधात्, 'इदं पश्यामि' इतिवत् 'तमिमं प्रत्यभिजानामि' इत्यनुभवात्। न चैवं "स्पष्टं प्रत्यक्षम्" [प्र० न० तत्त्व० २–२] इति लक्षणातिव्याप्तिः, बहिर्विषयसामान्ये स्पष्टताया लक्षणघटकत्वात्, *'बहिरर्थग्रहणापेक्षया हि०' इत्याकरस्वारस्याऽविरोधादित्यन्यत्र विस्तरः। यदप्यर्थं विनापि स्वप्नादाविव जाग्रद्दशायां भानमुक्तम्, तदसिद्धमसिद्धेन साधयतः स्वस्य महामोहमग्नतां व्यञ्जयति, न हि स्वप्नादावप्यर्थं विना भानं भवादृशं विना स्वीकुरुतेऽन्यः कश्चित्, अनुभूतस्यैव रथादेस्तदा सन्निहितत्वेन दोषमहिम्ना भानात्, असदाकारस्यैव जनने च वासना शशविषाणमपि किं न जनयेत्? । न ह्यत्र न पर्यनुयोग इति राज्ञामाज्ञा। 'प्रतिनियतशक्तिविशेषश्चार्थधियामेव, न शशविषाणे' इत्यत्र श्रद्धामात्रमेव शरणम्।

[प्रत्यभिज्ञा से पूर्वदृष्ट अर्थ के एकत्व का प्रमाणभूत बोध]

विज्ञानवादी की ओर से जो यह बात कही गयी थी कि–'पूर्वदृष्ट और दृश्यमान अर्थों में एकत्वज्ञान के न होने से वर्तमान अनुभव के पूर्व उसके विषयभूत अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती'– उस कथन में भी उचित ध्यान नहीं दिया गया, क्योंकि पूर्वदृष्ट और दृश्यमान में एकत्व का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा से ही सम्पन्न हो जाता है। इस संदर्भ में जो यह बात कही गयी थी कि–'सोऽयम्'= 'यह उससे अभिन्न है'–यह एक ज्ञान नहीं है किन्तु 'सः' अंश में स्मरण और 'अयं' अंश में प्रत्यक्ष-

* बहिरर्थापेक्षया हि विज्ञानानां प्रत्यक्षपरोक्षव्यपदेशो न तु स्वरूपापेक्षया, स्वरूपे सर्वज्ञानानां स्पष्टप्रतिभासत्वेन प्रत्यक्षतयैव व्यवस्थितत्वात्। [स्या० र० पृ० ३१८]

रूप दो ज्ञान हैं'-वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षत्वजातिवादी नैयायिक के मत में उक्तज्ञान में ऐक्य संगत न होने पर भी जैन मत में उसे एक मानने में कोई बाधा नहीं है। वह ज्ञान जैसे अपने स्वरूप में स्पष्ट होने से प्रत्यक्ष है ऐसे इदमंश में भी स्पष्ट होने से प्रत्यक्ष है, तदंश में अस्पष्ट होने से परोक्ष है। किन्तु उभयांश में वह उपयोगरूप है। अतः उपयोगात्मना उसमें प्रत्यभिज्ञात्व धर्म मानने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि तदंश और इदमंश के ऐक्य के आवरणीय कर्म के विलक्षणक्षयोपशम से उस अंश में प्रत्यभिज्ञात्व निर्बाध है।

[प्रत्यक्ष के लक्षण की प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति नहीं है]

दूसरी बात यह है कि जैसे-'इदं पश्यामि' इस अनुभव से उक्त ज्ञान में इदमंश में प्रत्यक्षत्व सिद्ध होता है उसी प्रकार 'तमिमं प्रत्यभिजानामि=उसी अभिन्न इस को पहचानता हूँ' इस अनुभव से उक्त ज्ञान में तत् और इदं के अभेदांश में प्रत्यभिज्ञात्व भी सिद्ध है। उक्तज्ञान को इदमंश में स्पष्ट मानने पर प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष के लक्षण में बाह्यविषयसामान्य में स्पष्टता का संनिवेश है। अर्थात् जो ज्ञान अपने समस्त बाह्य विषयों में स्पष्ट होता है वह प्रत्यक्ष होता है। उक्त ज्ञान अपने विषयभूत तदंश रूप बाह्य अर्थ में स्पष्ट नहीं है अतः उसमें प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। इस संदर्भ में स्याद्वादरत्नाकर में आये हुए 'बहिरर्थग्रहणापेक्षया ही विज्ञानानां' इस वचन का भी अनुकूल अभिप्राय उल्लेखनीय है कि अपने विषयभूत समस्त बाह्यार्थों में स्पष्ट होने से विज्ञान अपरोक्ष होता है। स्वरूपांश या केवल किसी बाह्यविशेषमात्र में स्पष्ट होने से प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता।

विज्ञानवादी की ओर से जो यह बात कही गयी कि "स्वप्नादि में जैसे अर्थ के बिना भी अर्थाकार का भान होता है उसी प्रकार जाग्रत्काल में अर्थ के बिना भी अर्थाकार का ज्ञान हो सकता है अतः ज्ञान से भिन्न अर्थ की सत्ता नहीं है"-यह कथन तो असिद्ध से ही असिद्ध का साधन जैसा प्रयास करने वाले विज्ञानवादी के महामोह का सूचक है, क्योंकि स्वप्नादि में भी अर्थ के बिना अर्थाकार का भान विज्ञानवादी को छोड अन्य कोई स्वीकार नहीं करता। कारण स्पष्ट है कि स्वप्नावस्था में भी जाग्रत्काल के अनुभूत रथादि का ही दोषवशात् संनिहितरूप में परिज्ञान होता है। क्योंकि स्वप्नादि में वासना यदि असत् रथादि आकार की जनक होगी तो असदाकार शश-विषाण आदि की भी जनक होने की आपत्ति होगी। क्योंकि इस बात में विनिगमक दुष्प्राप्य है कि वासना अमुक असत् का जनक हो और अमुक का न हो। यह जो कहा गया कि—'वासना अथवा अविद्या एवं तन्मूलक कल्पनाओं के सम्बन्ध में कोई विपरीत प्रश्न नहीं हो सकता।' यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है जिसके कारण प्रश्नकर्ता की वाणी पर प्रतिबन्ध लग जाय। यह कहना कि 'वासना में असदाकार ज्ञान के ही जनन की शक्ति होती है शशविषाण की नहीं' यह भी युक्तिहीन होने से श्रद्धामात्र का ही द्योतक है।

यदपि 'प्रागसत्त्वे तु दर्शनमेव मानम्' इति। तदपि न पेशलम्, तद्रूपेणाऽनिश्चयात्, अन्यथा संशयाऽयोगात्। यदपि 'स्व-परदृष्टनीलयोर्भेदाद् न साधारणं नीलं ग्राह्यतयाभिमतं सिद्ध्यति, किन्तु ग्राहकत्वाभिमतमेव तद् युक्तं' इति।' तदप्यसत्, विना साधारणतां पर-

दृष्टे नीलेऽनुमानस्यैवानवतारात् । न हि धूमेऽप्यसाधारणवह्निना समं व्याप्तिग्रहोऽस्ति । न चागृहीतव्याप्तिकमनुमाने विषयीभवितुमर्हतीति ।

[अर्थ की पूर्वकालीन असत्ता में दर्शन समर्थ नहीं है]

जो यह बात कही गयी थी कि 'दर्शन के पूर्व अर्थके असत्त्व में दर्शन ही प्रमाण है ।' वह भी समीचीन नहीं है क्योंकि दर्शन के बाद अर्थ का पूर्वकालअसत्त्वरूप से निश्चय नहीं होता । अतः निश्चित अर्थ में ही दर्शन प्रमाण होने से अर्थ की असत्ता में दर्शनप्रमाण नहीं हो सकता । यदि उसे अर्थ की असत्ता में प्रमाण मान लिया जायगा तो अर्थ में स्थायित्व और क्षणिकत्व का संशय भी न होने से इस विषय का विचार ही न हो सकेगा ।

इस के अतिरिक्त जो यह बात कही गयी थी कि-'स्वदृष्ट और परदृष्ट नील में भेद है, अतः स्वदर्शन और परदर्शन में भासित होनेवाला एक साधारण नील ग्राह्यार्थ के रूप में सिद्ध नहीं हो सकता किन्तु ग्राहक ज्ञान से अभिन्न होकर असाधारणरूप में ही सिद्ध हो सकता है' ।-वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि स्वदृष्ट और परदृष्ट नील को साधारण माने बिना परदृष्ट नील का अनुमान ही नहीं हो सकता । आशय यह है कि हकीकत में स्वसन्तान में नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति को नीलदर्शनपूर्वक देखकर परसन्तान में भी नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति से नीलदर्शन का अनुमान होता है-यह बात पहले कही गयी है, किन्तु यह अनुमान तब हो सकता है जब स्वसन्तानान्तर्गत नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति और नीलदर्शन एवं परसन्तानगत नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति और नीलदर्शन में साधारणता हो और यह साधारणता प्रवृत्ति और दर्शन के विषयभूत नील की साधारणता पर ही निर्भर है । यदि उक्त दोनों प्रवृत्ति और दर्शन में नीलसाधारणताप्रयुक्त साधारणता न मानी जायगी तो अनुमान करने वाले व्यक्ति को अपने संतान को नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति और नीलदर्शन में ही व्याप्यव्यापकभाव का ग्रहण होगा, अतः परसन्तानगत नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति में परसन्तानगतनीलदर्शन का व्याप्तिग्रह न होने से परसन्तान में नीलप्रवृत्ति से नीलदर्शन का अनुमान न हो सकेगा ।

यदि यह कहा जाय कि-'जैसे पर्वतीयधूम में पर्वतीयवह्नि का व्याप्तिग्रह न होने पर भी पाकशाला के धूम में पाकशाला के अग्नि का व्याप्तिग्रह होने से ही पर्वत के धूम से पर्वतीय वह्नि का अनुमान होता है, उसीप्रकार परसन्तान में भी नीलग्रहणार्थप्रवृत्ति से नीलदर्शन का अनुमान हो सकता है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि धूम से वह्नि का अनुमान भी धूमसामान्य और वह्निसामान्य के बीच व्याप्तिज्ञान से ही होता है । यदि धूम और वह्नि में भी सामान्यरूप से व्याप्तिज्ञान न माना जाय तो धूम से भी वह्नि का अनुमान नहीं हो सकेगा, क्योंकि पूर्वदृष्ट वह्निसहचारवाला जो धूम था, वह यहां नहीं है, और यहां जो धूम है उसके सहचारवाला वह्नि पहले व्याप्तिरूप में देखा नहीं है । और जिसकी व्याप्ति गृहीत नहीं होती वह अनुमान का विषय नहीं हो सकता, अन्यथा सब से सब के अनुमान की आपत्ति होगी ।

एतेन—'लिङ्गस्याऽव्यभिचारस्तु धर्मिणोऽन्यत्र गृह्यते ।

तत्र प्रसिद्धं तद्युक्तं धर्मिणं गमयिष्यति ॥ १ ॥

इति वह्निविशिष्टदेश एवानुमेयः' इति दिङ्नागोक्तमपास्तम्, असाधारणेन तेनापि

सम व्याप्त्यग्रहात् । नन्वेवं सुखादिकमपि साधारणं स्यादिति चेत् ? स्यादेव तिर्यक् सामान्येन । 'एवं नीलादिसाधारण्यं न दोषाये'ति चेत् ? न, 'इदं देवदत्तदर्शनविषयः, देवदत्त-प्रवृत्तिविषयत्वात्' इत्यूर्ध्वतासामान्येनापि साधारण्यसिद्धेः, क्षणभङ्गस्य निरस्तत्वात् , निरसिष्य-माणत्वाच्च ।

[वह्निविशिष्ट देश के अनुमान की दिग्नागोक्ति असार]

इस संदर्भ में दिङ्नाग का यह कहना है कि-'लिङ्ग में साध्य का अव्यभिचार यानी साध्य की व्याप्ति का ज्ञान धर्मी भिन्न यानी पक्षभिन्न में होता है तथा पक्षभिन्न में साध्य व्याप्यस्वरूप से निर्णीत लिङ्ग साध्य विशिष्ट धर्मी-पक्ष का अनुमापक होता है । इस प्रकार धूम से वह्नि नहीं किन्तु वह्निविशिष्ट देश अनुमेय होता है । अतः परसन्तानरूप पक्ष से भिन्न स्वसन्तान में नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति में नीलदर्शनपूर्वकत्व के अव्यभिचारज्ञान से नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति द्वारा नीलदर्शनाविशिष्ट परसन्तान का अनुमान हो सकता है"-तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि साध्यविशिष्ट असा-धारण देश के साथ भी लिङ्गविशिष्ट असाधारण देश का व्याप्तिग्रह न होने से साध्यविशिष्ट देश का भी अनुमान नहीं हो सकता । कहने का तात्पर्य यह है कि साध्यविशिष्ट देश के अनुमानार्थ इस प्रकार का व्याप्तिज्ञान आवश्यक है कि 'जो देश लिङ्गविशिष्ट होता है वह साध्यविशिष्ट होता है' । यह व्याप्ति यदि धूमविशिष्ट पाकशाला और वह्निविशिष्ट पाकशाला के मध्य ही गृहीत होगी तो धूमविशिष्ट पर्वत से वह्निविशिष्ट पर्वत का अनुमान नहीं हो सकेगा, अतः उसके लिये भी धूम और वह्नि के साधारणता की और उसके द्वारा धूम वाले देश और वह्नि वाले देश की साधारणता अपेक्षित है ।

इस पर यदि यह शंका की जाय कि-"इस प्रकार विभिन्नदर्शनों में भासमान नीलादि को साधारण मानने पर विभिन्नसन्तानों में भासमान सुखादि भी साधारण हो जायगा"-तो इसका उत्तर है कि विभिन्न सन्तानों में भासमान सुखादि में सुखत्वादि तिर्यक् सामान्यरूप से साधारणता इष्ट ही है । इस पर विज्ञानवादी की ओर से यह कहना उचित नहीं है कि-'नीलत्वादि तिर्यक् सामा-न्यरूप से विभिन्न दर्शनों में भासमान नीलादि को भी साधारण मान लेने से उनके मत में भी कोई दोष नहीं होगा-' क्योंकि अमुक वस्तु देवदत्त की प्रवृत्ति का विषय होने से सिद्ध है कि वह देवदत्त के दर्शन का भी विषय है" इसप्रकार के अनुमान से देवदत्त के दर्शनकाल से प्रवृत्तिकाल तक उस विषय के ऊर्ध्वतासामान्य द्वारा भी साधारणता सिद्ध हो जायगी और यह साधारणता उसे मान्य नहीं हो सकती क्योंकि ऊर्ध्वता सामान्य उस वस्तु का नाम है जो वस्तु द्रव्यरूप में क्रमिकविभिन्न पर्यायों में अनुस्यूत हो-अनुगत हो । यदि यह कहा जाय कि-यतः भावमात्र क्षणिक होता है अतः इसप्रकार का ऊर्ध्वतासामान्य सम्भव न होने से उस रूप से देवदत्त की प्रवृत्ति और दर्शन के विषयों में साधारणता नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि 'भावमात्र क्षणभङ्गुर है' इस मत का निराकरण किया जा चुका है और आगे भी उसका खंडन किये जाने वाला है ।

यदपि 'चिद्रूपत्वस्याऽपरोक्षरूपस्य नीलादिसाधारण्याऽज्ञानवद् न ग्राह्यत्वम्' इति । तदप्यधम्, स्फुरद्रूपत्वेनाऽपरोक्षत्वे वह्न्यादेरपि तथात्वे प्रत्यक्षा-ऽनुमानविभागव्याघातात् ।

'तत्त्वतस्तदविभागाद् न दोष' इति चेत् ? नील-पीताद्याकाराणामपि कथं तत्त्वतो विभागः ? । 'प्रतिभासभेदादिति' चेत् ? प्रत्यक्षा-ऽनुमानयोरपि किं न विशदाऽविशदप्रतिभासभेदः ? । 'नीलाद्याकारव्यतिरेकेण तत्र वैशद्याद्याकारानुभवाद् न तद्भेद' इति चेत् ? न, प्रदीर्घाध्यवसाये तदनुभवस्याऽबाधितत्वात्, क्षणिकाध्यवसाये तु प्रतिनियतैकाकारानुभवस्यापि दुर्घटत्वात् ।

[अपरोक्षत्व ग्राह्यत्वाभाव का प्रयोजक नहीं है]

विज्ञानवादी की ओर से जो यह बात कही गयी थी "चिद्रूपत्व अपरोक्ष का स्वरूप है और वह अपरोक्ष नीलादि में भी विद्यमान होने से ज्ञान के समान नीलादि भी ग्राह्य नहीं हो सकता"– वह भी युक्त नहीं है । क्योंकि नीलादि को यदि, स्फुरणशील विज्ञानस्वरूप मानने से, अपरोक्ष माना जायगा तो अनुमेय वह्नि आदि भी स्फुरणशील अनुमानात्मक ज्ञान से अभिन्न होने के कारण अपरोक्ष हो जायगा । अतः प्रत्यक्ष और अनुमान में विषय की अपरोक्षता और परोक्षता के कारण जो विभाग होता है उसका व्याघात हो जायगा । यदि यह कहा जाय कि–'प्रत्यक्ष और अनुमान में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है ऐसा मान लेने पर यह दोष नहीं हो सकता"–तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार प्रत्यक्षअनुमान में तात्त्विकविभाग अस्वीकार करने पर नीलाकार-पीताकार में भी तात्त्विक विभाग कैसे हो सकेगा ? । यदि नीलप्रतिभास एवं पीतप्रतिभास के भेद से उन में भेद माना जायगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान में भी प्रतिभास के भेद से भेद अपरिहार्य होगा । क्योंकि प्रत्यक्ष का प्रतिभास विशदप्रतिभास के रूप में होता है और अनुमान का प्रतिभास अविशद रूप में होता है ।

यदि यह कहा जाय कि–'प्रतिभास में नीलादि प्रकार से अतिरिक्त वैशद्याद्याकार का अनुभव नहीं होता अतः प्रत्यक्ष और अनुमान की, विशद प्रतिभास और अविशद प्रतिभासरूप में सिद्धि न होने से उन में भेद नहीं हो सकता'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि–दीर्घकाल तक अनुवर्तमान अध्यवसाय में वैशद्य का अनुभव निर्बाधरूप से सम्पन्न हो सकता है । जो अध्यवसाय क्षणिक है-एक क्षण तक ही रहता है उस में तो नीलादि एकैक नियताकार का भी अनुभव नहीं हो सकता । कहने का आशय यह है कि जब किसी अर्थ का अध्यवसाय उत्पन्न होता है तो तत्काल उस में अर्थवैशद्य का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि अर्थवैशद्य, अध्यवसाय उत्पन्न होने पर उसमें सम्पन्न होता है । अतः अर्थ में वैशद्य प्रथमतः न होने से अर्थाध्यवसाय के उदय के साथ उसके वैशद्य का ग्रहण नहीं हो सकता । किन्तु यदि वह अध्यवसाय दीर्घकाल तक उस विषय को ग्रहण करे तो उस विषय में उद्भूत वैशद्य का भी उत्तरक्षणों में ग्रहण हो सकता है । यह घट और प्रदीप के दृष्टान्त से समझा जा सकता है । जैसे घट का प्रदीप से प्रकाश होते ही घट पर प्रथमतः अविद्यमान वस्त्रादि का प्रकाश नहीं होता किन्तु कुछ समय तक घट और प्रदीप का सम्बन्ध रहने पर दूसरे क्षण में घट पर रखे नये वस्त्रादि का भी उसी प्रदीप से प्रकाश होने लगता है, उसीप्रकार प्रदीप-स्थानीय दीर्घकालस्थायी अध्यवसाय से भी अर्थ में अध्यवसाय के उदय के बाद में अर्थ में सम्पन्न होने वाले वैशद्याकार का भी ग्रहण युक्तिसंगत है । किन्तु यदि अध्यवसाय क्षणिक होगा, तब तो वैशद्याकार की बात तो दूर रही किन्तु उस से नीलाद्याकार का भी ग्रहण होना दुर्घट हो जायगा । वह इस प्रकार,-जैसे घट के साथ मेघविद्युत का सम्पर्क होने पर घट के सामान्यस्वरूप का तो ग्रहण हो जाता है किन्तु दूसरे ही क्षण उस आलोक का सम्पर्क छूट जाने पर उस के रूपादि विशेष का ग्रहण नहीं होता है उस

प्रकार क्षणिक अध्यवसाय से उस के स्वरूप का ग्रहण तो हो सकता है किन्तु दूसरे ही क्षण में नीलादि अध्यवसाय टूट जाने से नीलाद्याकार विशेष का ग्रहण नहीं हो सकता।

एवं च 'यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादिकम्' इत्यनुमानमपि निरस्तम्, सुखादीनां सर्वथा ज्ञानाऽभिन्नत्वाभावेन दृष्टान्ताऽसिद्धेश्च। न च 'सुखादयो ज्ञानात्मकाः, ज्ञानाभिन्नहेतुजत्वात्' इत्यतः सुखादीनां ज्ञानात्मकतासिद्धिः, कुम्भादिभङ्गजस्य शब्दस्य कपालखण्डादिना तुल्यहेतुजत्वेऽप्यतद्रूपत्वेन व्यभिचारात्, सुखादीनां विशिष्टादृष्टविपाक-स्रग्-वनितादिनिमित्तजन्यत्वेन सर्वथा ज्ञानाऽभिन्नहेतुजत्वाभावाच्च, अन्यथा विभिन्नस्वभावत्वानुपपत्तेः। न च तदसिद्धिरेव, सुखादेराह्लादनाद्याकारत्वात्, ज्ञानस्य च प्रमेयानुभवस्वभावत्वात्। तदुक्तम्- "सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्" इति। न च ज्ञानक्षणोपादानत्वादुत्तरज्ञानक्षणवत् सुखादीनां ज्ञानाभिन्नत्वम्, आत्मद्रव्योपादानत्वात् तेषाम्। न खलु पर्यायाणां पर्यायान्तरोपत्त्यावुपादानत्वं क्वचिद् दृष्टम्, द्रव्यस्यैवान्तर्बहिर्वोपादानत्वोपपत्तेः। तदुक्तम्-

"व्यक्ताव्यक्तात्मरूपं यत् पौर्वापर्येण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥" इति।

'यदि च सुखादयो ज्ञानात् सर्वथाऽप्यभिन्नाः तर्हि तद्वदेवैषामप्यर्थप्रकाशकत्वं स्यात्, न चात्र तदस्ति, सुखादीनामपि स्वज्ञानप्रकाश्यत्वेन बहिरर्थाविशिष्टत्वात्' इति देवसूरिप्रभृतयः। अन्ये तु-'सुखादीनामहङ्कार-क्रोधादिवदन्तस्सत्त्वेऽपि विभिन्नकर्मजत्वात् ज्ञानभिन्नत्वमित्य' भिमन्यन्ते।

[सुखादि का ज्ञानादि के साथ अत्यन्ताभेद असिद्ध]

इसी प्रकार 'जो अवभासित होता है वह ज्ञानात्मक होता है जैसे सुखादि।' इस अनुमान से भी अवभासमान अर्थ में ज्ञान की अभिन्नता का साधन नहीं हो सकता क्योंकि सुखादि में ज्ञान का अत्यन्त अभेद न होने से दृष्टान्त असिद्ध है। इस दोष के वारणार्थ 'सुखादि ज्ञानात्मक है क्योंकि ज्ञानभिन्नहेतु से अजन्य है'-इस अनुमान से सुखादि में ज्ञानात्मकता की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि 'जो यद्भिन्न हेतु से अजन्य होता है वह तदात्मक होता है' इस व्याप्ति से व्यभिचार है, क्योंकि कुम्भादि के ध्वंस से उत्पन्न होने वाला शब्द कुम्भध्वंस से भिन्न कपालखण्डादिरूप हेतु से अजन्य होते हुये भी कपालखण्डाद्यात्मक नहीं होता। दूसरी बात यह है कि सुखादि में ज्ञान भिन्न हेतुजन्यत्व का अभाव स्वरूपासिद्ध भी है क्योंकि वह विशिष्ट-अदृष्ट के परिपाक और माला-वनिता आदि ज्ञानभिन्न हेतुओं से भी उत्पन्न होता है। यदि सुखादि को ज्ञानभिन्नहेतु से जन्य न मान कर ज्ञानमात्र से ही जन्य माना जायगा तो ज्ञान और सुखादि में भिन्नस्वभावता की अनुपपत्ति हो जायगी। उनमें भिन्नस्वभावत्व असिद्ध है यह नहीं कहा जा सकता-क्योंकि सुखादि आह्लादनादिरूप होता है और ज्ञान अर्थानुभवरूप होता है। जैसा कि कहा गया है कि-'सुख आह्लादनाकार और विज्ञान मेयबोधस्वरूप होता है।'

[सुखादि का उपादान आत्मद्रव्य है]

यह भी नहीं कहा जा सकता कि सुखादि ज्ञानक्षणोपादानक होने से उसी प्रकार ज्ञानाभिन्न है जैसे उत्तरकालिक ज्ञानक्षण ज्ञानक्षणोपादानक होने से ज्ञान से अभिन्न होता है।"-यह ठीक नहीं है क्योंकि सुखादि आत्मद्रव्योपादानक होता है अतः उसमें ज्ञानक्षणोपादानकत्व असिद्ध है। एक पर्याय को पर्यायान्तर की उत्पत्ति में उपादान होता हुआ कहीं भी नहीं देखा गया। सर्वत्र आन्तर और बाह्य सभी अर्थों का उपादान द्रव्य ही होता है जैसा कि एक कारिका में कहा गया है कि- 'अतीत और अनागत पर्यायों के रूप में अव्यक्त, एवं विद्यमान पर्याय के रूप में व्यक्त, जो द्रव्य वर्तमान-भूत-भविष्य तीनों काल में पौर्वापर्यभाव से विद्यमान होता है, वही उपादान होता है।'- इसके अतिरिक्त सुखादि को ज्ञान से सर्वथा अभिन्न मानने में यह भी आपत्ति होगी कि सुखादि यदि ज्ञान से सर्वथा अभिन्न होगा तो उससे भी अर्थप्रकाश की आपत्ति होगी। वास्तविकता यह है कि सुखादि से अर्थ का प्रकाश नहीं होता। अतः सुखादि भी अपने ज्ञान से प्रकाश्य होने के कारण बाह्यार्थों से समान ही है। इस विषय को देवसूरि आदि विद्वानों ने यथास्थान स्पष्ट किया है। कुछ अन्य विद्वानों का यह अभिमत है कि सुखादि यह अहंकार-क्रोध आदि के समान अन्तर्मुख होने पर भी यह ज्ञानभिन्न है, क्योंकि ज्ञानोत्पादक कर्म से भिन्न कर्म द्वारा उसकी उत्पत्ति होती है और कारणभेद होने पर कार्यभेद स्वाभाविक होता है।

यदपि घटादेर्ज्ञानाकारत्वेऽपि 'भूतले न घटः' इत्यादेर्नियताधाराधेयभावकल्पनाबीज-साम्राज्याद् वारणमकारि, **तदप्यसत्**, आधारा-ऽऽधेयाभ्यां कथंचिदपृथग्भूतस्याधाराधेयभाव-स्याबाधितानुभवसिद्धत्वेनाऽकाल्पनिकत्वात्, अन्यथा नीलादावप्यनाश्वासात्। **यदपि** अर्था-भावेऽपि धियामन्तर्बहिर्विभागः स्वरूपभेदादेव' इति भणितम्, **तदपि न** तथ्यम्, व्यक्तिभेद-स्यातिप्रसञ्जित्वात्, जातिभेदस्य चानभ्युपगमात्। न चान्तर्बहिर्विभागो मिथ्या, सुख-नीला-द्यनुभवानामन्तर्बहिर्भावस्यागोपालाङ्गनं प्रसिद्धत्वात्। एतेनाहमिदमाकारभेदव्याख्यानमपि सुप्रत्याख्यातम्, अहमाकारस्य शरीरालम्बनत्वे 'इदं गौरम्' इत्यनुपपत्तेः, निरालम्बनत्वे च भ्रान्तत्वापत्तेः, दानाद्याकारकालेऽहमाकारानुपपत्तेश्च। न चेदंताया अन्यस्या अनुपपत्ते-र्ज्ञानाकारमात्रत्वं युक्तम्, प्रत्यक्षसमानकालीनार्थपर्यायविशेषरूपत्वात् तस्याः। अनन्तधर्मात्म-कत्वस्त्वभ्युपगमे दोषलेशस्याप्यभावादिति न किञ्चिदेतत्।

इत्थं विलक्षीभूतस्य तूष्णीभावमुपेयुषः।
योगाचारस्य योगाय च्छलमद्य विजृम्भते ॥ १२ ॥

[आधार-आधेय भाव कल्पनामूलक नहीं है]

विज्ञानवादी की ओर से घटादि को ज्ञानाकार मानने पर 'भूतले न घटज्ञानं' इस प्रतीति के समान 'भूतले न घटः' इस प्रतीति की आपत्ति का कारण जो वासना को नियत आधाराधेय भाव की कल्पना का बीज बताकर किया गया-वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि आधाराधेयभाव, यह आधार और आधेय से कथञ्चिद्अभिन्न होने के कारण, अबाधित अनुभव द्वारा सिद्ध होने से काल्प-

निक नहीं, किन्तु पारमार्थिक है। अतः उसे वासनामूलक कहना ठीक नहीं है। अन्यथा ज्ञानाकार नीलादि की सत्ता अविश्वसनीय हो जायगी, क्योंकि अबाधित होते हुये भी उसे आधाराधेयभाव के समान ही काल्पनिक कहा जा सकेगा। विज्ञानवादी की ओर से जो यह बात कही गयी कि-'ज्ञान का अन्तर और बाह्यरूप से जो विभाग है वह अर्थ की सत्ता न मानने पर भी स्वरूपभेद प्रयुक्त है'- यह भी ठीक है क्योंकि उक्त विभाग को यदि व्यक्तिभेद-प्रयुक्त माना जायगा तो अतिप्रसंग होगा अर्थात् ज्ञान के दो रूप न होकर अनन्त रूप प्रसक्त होगा और जातिभेद से द्विधा विभाग की उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि जातिभेद विज्ञानवादी को मान्य नहीं है। यह कहना कि-ज्ञान का आन्तर और बाह्य विभाग भी मिथ्या है-वह ठीक नहीं है क्योंकि सुखादि और नीलादि के अनुभव में आन्तर और बाह्य का भेद गोपालक और स्त्री आदि अशिक्षित जनों मे भी प्रसिद्ध है। इसी से ज्ञान के अहमाकार और इदमाकार के विभाग की व्याख्या जो स्वरूपभेद के आधार पर की गयी उसे भी निरस्त प्राय समझना चाहिये।

[अहमाकार शरीरालम्बन या निरालम्बन नहीं है]

दूसरी बात यह है कि अहमाकार को यदि शरीरालम्बन माना जायगा तो 'अहं गौरः' यह प्रतीति तो ठीक, किन्तु 'इदं गौरं' यह प्रतीति नहीं हो सकेगी क्योंकि 'गौर' यह शरीरालम्बनक है अतएव इदमाकार के साथ उसका सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। यदि अहमाकार को निरालम्बन माना जायगा तो शशविषाणादि के समान अहमाकार ज्ञान भ्रमात्मक हो जायगा। दानाद्याकार-काल में अहमाकार की अर्थात् 'अहं ददामि'=मैं दान करता हूं' इस प्रतीति की अनुपपत्ति हो जायगी क्योंकि 'ददामि' यह प्रतीति सालम्बन है अतः अहमाकार प्रतीति के निरालम्बन होने पर उसके साथ उसका सामाधिकरण्य अनुपपन्न होगा। यदि यह कहा जाय कि-'अन्य प्रकार की इदन्ता की उपपत्ति न होने से इदन्ता ज्ञानाकार मात्र ही है। अतः अहमाकार और इदमाकार दोनों के ज्ञानात्मक होने से उन दोनों में वास्तवभेद नहीं'-यह ठीक नहीं है क्योंकि इदन्ता अर्थ का प्रत्यक्ष-समानकालीनपर्यायविशेषरूप है। वह प्रत्यक्षसमानकालीन इसलिये है कि वह अर्थ के प्रत्यक्षकाल में ही अर्थ में व्यवहृत होती है अर्थात् जब किसी अर्थ का प्रत्यक्ष होता है तब उसका 'इदं' शब्द से निर्देश होता है। इदन्ता को अर्थ का पर्यायविशेष मानने में कोई दोष नहीं है क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। अतः ज्ञेय और ज्ञान के ऐक्य के सम्बन्ध में विज्ञानवादी की ओर से जो कुछ कहा गया वह तत्त्वतः कुछ नहीं है, असार है।

व्याख्याकार ने पहले जैसे परिहास की शैली में ज्ञेय और ज्ञान के ऐक्य मत के खण्डन का उपक्रम किया था उसी प्रकार परिहास की ही शैली में एक पद्य द्वारा इस चर्चा का उपसंहार भी किया है। पद्य का अर्थ इस प्रकार है—

उक्तरीति से ज्ञान-ज्ञेय का ऐक्य सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत की गई सब युक्तियों का निरास होने से तथा ज्ञेय और ज्ञान की भिन्नता साधक युक्ति के प्रदर्शन से जब योगाचार लज्जित होकर मौनावलम्बन कर लेता है तो उसका सम्पूर्ण छल जिसका कि वह प्रतिवादी को अभिभूत करने के लिये प्रयोग करना चाहता था वह उसी के साथ संलग्न होने के लिये आतुर हो गया है ॥१२॥

१३वीं कारिका में प्रस्तुत विषय की पुष्टि करने के लिये उसी की भावना का पुनः अनुसन्धान किया गया है—

प्रकृतमेव भावयन्नाह—

मूलम्—घटादिज्ञानमित्यादिसंवित्तेस्तत्प्रवृत्तितः ।
प्राप्तेरर्थक्रियायोगात्स्मृतेः कौतुकभावतः ॥१३॥

घटादिज्ञानमित्यादिसंवित्तेः-'घटमहं जानामि' इत्याद्यन्तर्बहिर्मुखसांशानुभवात्, विमुख-ज्ञानमात्रस्यावेदनात्, अनुभवापलापे निराकारस्यैव दर्शनस्य सिद्धेः, आकारव्यवस्थायाः कल्पनयोपपत्तेरतिप्रसंगात् न ज्ञानमात्रं जगत् । तथा, तत्प्रवृत्तितः=तत्र घटादावेव प्रवृत्तेः, बहिरर्थाभावे तु बहिष्प्रवृत्तिर्न स्यात् । तथा, प्राप्तेः=घटज्ञानात् प्रवृत्तस्य घटोपलम्भात् । एतेन 'घटाकारज्ञानस्य स्वभावतो घटप्रवृत्तिहेतुत्वात् शुक्तौ रजतज्ञानादिव बहिष्प्रवृत्तिः' इति **निरस्तम्**, प्रवृत्तिसंवादाऽसंवादनिर्वाहार्थं प्राप्याऽप्राप्यघटविषयकज्ञानभेदस्वीकारस्यावश्यकत्वात् । अथ प्राप्तिरपि प्रवृत्तस्य सतो घटोपलम्भ एव, तथा च घटप्राप्तौ सत्यघटाकारज्ञानस्य हेतुत्वाद् न दोष इति चेत् ? न, सत्यघटज्ञानोत्तरं घटभंगेऽपि तत्प्राप्तेः प्रसङ्गात्, मम त्वर्थाऽसंनिधानाधीनत्वात् तदप्राप्तेः । न च तत्रापि घटाभावज्ञानात् तदप्राप्तिः, तदज्ञानेऽपि तत्र प्राप्तेरयोगात् । न च घटाकारज्ञानमात्रात् तत्प्राप्तिः, भूतले घटज्ञानात् पर्वते तत्प्राप्तिप्रसंगात् । न च विशिष्टज्ञानं तवास्ति । न चागृहीतासंसर्गकज्ञानद्वयं प्रापकम्, भ्रमादपि प्राप्तिप्रसंगात्, सत्यत्वस्य चार्थाभावेऽव्यवस्थानात् । तथा, अर्थक्रियायोगात्=जलानयनादिसिद्धेः । यदि च ज्ञानाकार एव घटो जलानयनसमर्थः स्यात् तदा घटं बुद्ध्वैव जनो जलमानयेत्, इति हता देवानांप्रियेण कुम्भकारादीनामाजीविका !

[जगत् केवल ज्ञानमात्र नहीं है]

विश्व केवल ज्ञानस्वरूप ही नहीं है किन्तु ज्ञान से पृथक् उसका अस्तित्व है। यह विषय कई युक्तियों से प्रमाणित होता है। जैसे-एक युक्ति है 'घटमहं जानामि' इस प्रकार घटादिज्ञान का संवेदन। अर्थात् घटज्ञान का अन्तर्मुख-यानी आन्तर और बाह्य इन दो अंशों में अनुभव। आशय यह है कि घटज्ञान का जो अनुभव होता है वह 'ज्ञान' इस आन्तर अंश को और 'घट' इस बाह्यांश को विषय करता है। विषयमुक्त ज्ञानमात्र का ग्रहण उससे नहीं होता। अत एव इस अनुभव के अनुरोध से यह मानना आवश्यक है कि अर्थ ज्ञान से भिन्न होता है। अत एव ज्ञान के अनुभव में अर्थ ज्ञान के स्वरूप में ही निमग्न होकर अवभासित नहीं होता किन्तु उससे पृथक् प्रतीत होता है। यदि इस अनुभव का अपलाप कर दिया जायगा-अर्थात् इस अनुभव को बाह्यांश में भ्रमात्मक मान लिया जायगा तो निराकार ही ज्ञान की सिद्धि होगी। जब ज्ञान निराकार होगा तो उसमें आकार की व्यवस्था को कल्पनामूलक मानना होगा जिसका परिणाम यह होगा कि ज्ञान में नियताकारता न होकर सर्वाकारता का अतिप्रसङ्ग होगा क्योंकि स्वभावतः निराकार ज्ञान में नियताकार की ही व्यवस्था हो इसका कोई मूल नहीं हो सकता।

[प्रवृत्ति और प्राप्ति से बाह्यार्थ का अस्तित्व]

दूसरी युक्ति यह है–घटादि अर्थों में प्रवृत्ति । यदि ज्ञान से अतिरिक्त घटादि का बहिर्देश में अस्तित्व न हो तो घटादिज्ञान के बाद घटादि के ग्रहण के लिये बाह्यदेश में मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

तीसरी युक्ति है घटज्ञान के पश्चाद्–'घट को प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त मनुष्य को घट की प्राप्ति । यदि घट यह ज्ञान से भिन्न न हो तो जैसे ज्ञान की बाह्यदेश में प्राप्ति नहीं होती वैसे घट की भी बाह्यदेश में प्राप्ति नहीं होती । इस तीसरी युक्ति से ज्ञान से पृथक् घटादि के अस्तित्व की सिद्धि सम्भव होने से ही दूसरी युक्ति के सम्बन्ध में विज्ञानवादी का यह कथन कि–"बाह्यदेश में घटादि के ग्रहण की प्रवृत्ति के अनुरोध से ज्ञान से पृथक् घटादि की सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि घट के अभाव में भी घटाकारज्ञान से घट ग्रहण की प्रवृत्ति स्वभाविक रीति से उसी प्रकार हो सकती है जैसे शुक्ति रजतस्थल में ज्ञान से भिन्न रजत के न होने पर भी रजतज्ञान से ही रजतग्रहण के लिये बहिर्देश में रजतार्थी की प्रवृत्ति होती है ।" वह निरस्त हो जाता है, क्योंकि घटज्ञानोत्तर होने वाली किसी प्रवृत्ति में प्राप्ति का संवाद और किसी प्रवृत्ति में प्राप्ति का विसंवाद होता है । अत: इसकी उपपत्ति के लिए घटग्रहणार्थ होने वाली प्रवृत्ति के कारणभूत ज्ञानों में प्राप्य-अप्राप्य विषयों के भेद से भेद मानना आवश्यक है ।

[घट की प्राप्ति ज्ञानात्मक नहीं है]

तृतीय युक्ति के विषय में विज्ञानवादी की ओर से यदि यह कहा जाय कि–"घटग्रहण के लिये प्रवृत्त मनुष्य को जो घट की प्राप्ति होती है वह भी घट के उपलम्भरूप ही है । उस उपलम्भ में घटाकार सत्यज्ञान कारण होता है । जिस घटाकार ज्ञान के बाद घटग्रहण के लिये प्रवृत्त मनुष्य को घटोपलम्भरूप घटप्राप्ति नहीं होती वह घटाकारज्ञान असत्य होता है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर सत्यघटज्ञान के पश्चात् घट का विनाश हो जाने पर भी घट प्राप्ति की आपत्ति होगी क्योंकि घट प्राप्ति जब घटोपलम्भरूप है और उपलम्भ ज्ञानात्मक होने से अर्थ सापेक्ष नहीं है तो घट का विनाश उस प्राप्ति के होने में बाधक नहीं हो सकता । जैन मत में यह आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि घट की प्राप्ति घटसंनिधान साध्य है । घटभङ्ग हो जाने पर घट संनिधान न रहने से घट प्राप्ति की आपत्ति नहीं हो सकती है । यहां विज्ञानवादी इस संकट से यह कह कर मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते कि–"घटभङ्ग होने पर घटाभावज्ञान होने से घट की अप्राप्ति होती है"–क्योंकि घटाभाव का ज्ञान न हो तो भी घटभङ्गस्थल में घटप्राप्ति नहीं होती । इसलिये घट की अप्राप्ति को घटाभावज्ञानमूलक नहीं कहा जा सकता ।

[विज्ञानवाद में घट प्राप्ति की अनुपपत्ति]

विज्ञानवाद में दूसरा दोष यह है कि घटप्राप्ति का उपपादन विज्ञानवादी के मत में कथमपि शक्य नहीं है । जैसे, घटाकार ज्ञानमात्र से घटप्राप्ति मानने पर भूतल में घटज्ञान से पर्वत में भी घट प्राप्ति की आपत्ति होगी । यह नहीं कहा जा सकता कि तत्तद्देश में तत्तदर्थ की प्राप्ति के प्रति तत्तदर्थ से विशिष्ट तत्तद्देशज्ञान कारण है, क्योंकि ज्ञान से भिन्न अर्थ का अस्तित्व न होने से घटादिविशिष्ट भूतलादि की अप्रसिद्धि होने के कारण घटादिविशिष्ट भूतलादि ज्ञान दुर्घट है । विज्ञानवादी की ओर से

यह कहना कि-"तत्तद्देश में तत्तदर्थ की प्राप्ति तत्तदर्थ और तत्तद्देश के दो ज्ञानों से उस समय होती है जब तत्तद्देश और तत्तदर्थ में असंसर्ग का अज्ञान होता है। इस प्रकार तत्तद्देश में तत्तदर्थ के असंसर्गज्ञान के अभाव से सहकृत तत्तद्देश और तत्तदर्थ का ज्ञानद्वय तत्तद्देश में तत्तद्देश की प्राप्ति का जनक है"-वह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर भ्रम से भी अर्थप्राप्ति का प्रसंग आता है। जैसे-भ्रमलस्थल में भी आरोप्य और धर्मी के दो ज्ञान होते हैं और आरोप्य और धर्मी के मध्य असंसर्ग का अज्ञान रहता है क्योंकि यह ज्ञान यदि न हो तो भ्रमस्थल में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि 'सत्य अर्थज्ञान से अर्थ की प्राप्ति होती है और असत्यज्ञान से अर्थ प्राप्ति नहीं होती है' यह व्यवस्था भी ज्ञान से भिन्न अर्थ की सत्ता न मानने पर नहीं हो सकती क्योंकि ज्ञान की सत्यता और असत्यता अर्थ की सत्यता और असत्यता पर ही निर्भर है।

[विज्ञानवाद में कुम्हार की आजीविका का भंग]

ज्ञान के भिन्न अर्थसिद्धि में चतुर्थी युक्ति है अर्थक्रियाऽयोग यानी-घटादि ज्ञान से जलानयन आदि कार्यों की सिद्धि। आशय यह है कि घट यदि ज्ञान से भिन्न न हो तो घट से जलानयनादि कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान आन्तरवस्तु है और जलाहरण बाहर होता है। अत एव उस के लिये उस के साधन भूत घट का बाह्यअस्तित्व मानना आवश्यक है, और उस का बाह्य अस्तित्व होने पर आन्तरज्ञान के साथ उस का ऐक्य दुर्घट है। विज्ञानवादी की ओर से यह भी कहना कि "ज्ञानाकार ही घट जलानयन का कारण होता है, वह इसलिये कि जैसे ज्ञानाकार घट की बाह्य सत्ता नहीं है ऐसे जलानयन की भी बाह्य सत्ता नहीं है, वे सब ज्ञानाकार रूप ही है, उस के बाह्य होने की प्रतीति वासनामूलक मिथ्या प्रतीति है"-वह युक्ति संगत नहीं है क्योंकि ज्ञानाकार घट से जलानयन का समर्थन करने पर, घटज्ञानमात्र से ही जलानयन की शक्यता हो जाने से विज्ञानवादी को अज्ञानवश कुम्भकारादि की आजीविका के लोप करने का अपराध प्रसक्त होगा।

'घटप्रवृत्त्याख्यज्ञानं घटानयनाख्यज्ञानजनकम्' इति पुनरर्थे विज्ञप्तिरिति नामान्तरकरणं प्रतारकस्यायुष्मतः। तथा, स्मृतेः=गृहीतस्य घटादेः 'स घटः' इति स्मरणात्, उपलक्षणमेतत् 'सोऽयं घटः' इति प्रत्यभिज्ञायाः, निरूपिततत्त्वमेतत्। कौतुकभावतो=बुभुत्सादिरूपकौतुकयोगात्। न ह्यसत्यर्थे तुरङ्ग-शृङ्गादाविव बुभुत्सादिकमिति ॥ १३ ॥

[अर्थ का नाम बदल देने से सत्य नहीं बदलता]

विज्ञानवादी की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'घट प्रवृत्ति' शब्द से व्यवहृत होने वाला ज्ञान 'घटानयन' शब्द से व्यवहृत होने वाले ज्ञान का जनक है। अतः घट-प्रवृत्ति उसका आनयनादि ज्ञान से भिन्न नहीं है। ऐसा मानने पर कुम्भकार आदि की आजीविका के लोप की आपत्ति नहीं होगी क्योंकि इस प्रकार का ज्ञान कुम्भकार द्वारा घट का उत्पादन-विक्रयादि तथा अन्य मनुष्यों द्वारा घट का क्रयण-आनयन आदि होने पर ही सम्भव है।"-तो यह कथन अर्थ को ही ज्ञान का नामान्तर देने से केवल प्रतारणामात्र है। अतः इस प्रतारणा के लिये यदि विज्ञानवादी जीवित रहना चाहता है तो उसको आयुष्मान होने का आशीर्वाद देने में बाह्यार्थवादी को कुछ संकोच नहीं हो सकता क्योंकि उस की प्रतारणा का यह प्रकार इतना दुर्बल है कि जिससे कोई भी बुद्धिमान मनुष्य धोखे में पड़े ऐसा सम्भव नहीं है।

[स्मृति प्रत्यभिज्ञा और कौतुक से बाह्यार्थ सिद्धि]

अर्थ को ज्ञान से भिन्न सिद्ध करने की पांचवी युक्ति है-स्मृति। आशय यह है कि पूर्व में अनुभूत घटादि का 'स घटः' इस रूप में स्मरण होता है। यदि पूर्वानुभूत घट ज्ञानात्मक होगा तो पूर्वानुभव के साथ ही वह अतीत हो जायगा। अतः कालान्तर में होने वाले स्मरण का वह विषय न हो सकेगा, क्योंकि ज्ञान की विषयता वस्तु का एक धर्म है जो धर्मी के अभाव में उपपन्न नहीं हो सकता। अतः यह मानना आवश्यक है कि पूर्वानुभूत घट यह ज्ञान से भिन्न होता है अतः ज्ञान के साथ सर्वथा अतीत नहीं होता किन्तु किसी रूप में स्मरणकाल में भी विद्यमान होता है।

स्मरणरूप पाँचवी युक्ति अपने तुल्य एक अन्य युक्ति की भी सूचक है, वह है प्रत्यभिज्ञा--'सोऽयं घटः=यह घट उस (पूर्वानुभूत घट) से अभिन्न है'। ज्ञान से भिन्न अर्थ की सत्ता मानने पर ही यह प्रत्यभिज्ञा उपपन्न हो सकती है इस तथ्य का निरूपण पहले कर चुके हैं।

छट्ठी युक्ति है–कौतुक का होना --कौतुक होने का अर्थ है किसी अर्थ को विशेष रूप से ज्ञात करने की आकांक्षा का होना यह कौतुक भी ज्ञान से भिन्न अर्थ का अस्तित्व मानने पर ही सम्भव है। यदि ज्ञान से भिन्न अर्थ असत् होगा तो तुरङ्गशृंग से उसमें कोई अन्तर नहीं होगा क्योंकि तुरङ्ग-शृङ्ग ज्ञानाकार से अतिरिक्त नहीं है उसी प्रकार विज्ञानवादी के मत में घटादि कोई भी अर्थ ज्ञानाकार से भिन्न नहीं हो सकता। अतः जैसे तुरङ्गशृग आदि के विषय में मनुष्य को कोई जिज्ञासा नहीं होती उसी प्रकार अर्थ के विषय में भी जिज्ञासा न होगी ॥ १३ ॥

विपक्ष में प्रदर्शित दोष का १४वीं कारिका में संक्षेप से उपसंहार किया गया है –

उक्तमेव विपक्षे दोषं स्मारयति–

मूलम्—ज्ञानमात्रे तु विज्ञानं ज्ञानमेवेत्यदो भवेत्।
प्रवृत्त्यादि ततो न स्यात्प्रसिद्धं लोक-शास्त्रयोः ॥ १४ ॥

ज्ञानमात्रे तु जगत्यभ्युपगम्यमाने, 'विज्ञानं ज्ञानमेव घटादि' इत्यदो भवेत्=इत्येतत् स्यात्, परिच्छेद्यान्तराभावात्। ततो लोक-शास्त्रयोः प्रसिद्धं प्रवृत्त्यादि=घटार्थि-स्वर्गार्थि-यत्नादि, न स्यात्=उक्तरीत्या नोपपद्येत ॥ १४ ॥

कारिका का अर्थ यह है कि यदि जगत् को केवल ज्ञानात्मक माना जायगा तो घट-पटादि जितने भी पदार्थ विज्ञेय हैं वे सब ज्ञानमात्र स्वरूप हैं यही मनुष्य के हाथ लगेगा, क्योंकि घट-पटादि से भिन्न कोई और परिच्छेद्य=ज्ञेय है नहीं। अतः लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध जो घटादि लौकिक पदार्थ और स्वर्गादि अलौकिक पदार्थ के लिये प्रवृत्ति आदि व्यवहार मनुष्य द्वारा होते हैं उन सब की उपपत्ति न होगी क्योंकि प्रवृत्ति आदि बाह्य अर्थों के लिये होती है। जब उसका ज्ञान से भिन्न यदि कोई अस्तित्व ही नहीं होगा तो बाह्य व्यवहार को उपपन्न करने का कोई अन्य प्रकार हो ही नहीं सकता ॥ १४ ॥

१५वीं कारिका में उक्त दोष के उत्तर में, विज्ञानवादी के इस कथन कि–'बाह्य व्यवहारों की उपपत्ति के लिये ज्ञान से भिन्न घटादि का ज्ञान होना उसे भी मान्य है किन्तु वह ज्ञान भ्रम है अत उससे बाह्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती'- इस कथन का निराकरण किया गया है—

अस्तु तर्हि घटादिग्रहणमित्यत आह—

मूलम्—तदन्यग्रहणे चास्य प्रद्वेषोऽर्थेऽनिबन्धनः ।
ज्ञानान्तरेऽपि सदृशं तदसंवेदनादि यत् ॥ १५ ॥

तदन्यग्रहणे च=ज्ञानान्यघटादिग्रहणे चाभ्युपगम्यमाने, **अस्य**=ज्ञानस्य, **अर्थे प्रद्वेषः**=अनभ्युपगमलक्षणः **अनिबन्धनः**=निर्निमित्तः, **यद्**=यस्मात्, **ज्ञानान्तरेऽपि**=सन्तानान्तरवृत्तिज्ञानेऽपि=**तदसंवेदनादि**=विज्ञानान्तरासंवेदनादपि तत्सत्त्वादि, **तुल्यम्**=अर्थेऽपि तुल्यसमर्थनम्, अनुपलभ्यमानस्याऽसत्त्वे संतानान्तरचित्तस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् ।

'यदुपलभ्यमानं यथा नोपलभ्यते तत् तथा नास्ति, उपलभ्यमानं च नीलादि बाह्यत्वेन नोपलभ्यत इति तथा नास्ती'ति चेत् ? न, एवं हि नीलाद्याकाराणामद्वयत्वेनाननुभूयमानानां तथात्वेनाऽभावप्रसङ्गात् । "गृहीतोऽपि तस्मिन् निरंशत्वादद्वयबोधरूपे भ्रान्तिबीजानुगमनाद् न यथाबोधमध्यवसायो जायत इति गृहितमपि तदगृहीतकल्पम्, इत्यननुभूतिरद्वयस्य न तत्त्वत" इति चेत् ? न, एवं द्वयानुभवमनुभूयमानमपलप्याननुभूयमानाद्वयानुभवसमर्थनेऽतिप्रसङ्गात्, नीलाद्याकारबोधादप्यन्यरूप एव बोधोऽनुभूयते, नीलादिभ्रान्तिबीजानुगमनात्तु न यथाबोधमवसीयत इत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात् । तत्राऽद्वयत्वमनुमास्यत इति तु न पेशलम्, स्व-परदृष्टयोरिव साक्षात्क्रियमाणानुमीयमानयोर्भेदेन तत्राऽद्वयत्वानुमानस्य वक्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा नीलादौ बाह्यत्वानुमानस्यापि सुवचत्वादिति न किञ्चिदेतत् ॥ १५ ॥

यदि बाह्यप्रवृत्ति की उपपत्ति के लिये ज्ञानभिन्न घटादि का ग्रहण विज्ञानवादी को मान्य होगा तो अर्थ के साथ उस का द्वेष यानी ज्ञानभिन्न अर्थ का अस्वीकार अहेतुक होगा ।

[बौद्ध का पूर्वपक्ष–दृष्टाभेद से अर्थ भेद]

यदि ज्ञान से भिन्न अर्थ को स्वीकार न करने में यह युक्ति दी जायगी कि–'एक मनुष्य जिस घट को देखता है उसे अन्य मनुष्य नहीं देखता है, क्योंकि ज्ञान भिन्न रूप में घट को देखने के लिये ज्ञानभेद के प्रतियोगी ज्ञान का ग्रहण आवश्यक है मनुष्य को अपने ही ज्ञान का ग्रहण होने से वह अपने ही ज्ञान से भिन्नरूप में देख सकता है । अतः घट के साथ भेद का स्वरूपसम्बन्ध और भेद के साथ ज्ञान का प्रतियोगितानामक स्वरूपसम्बन्ध होने से घट वस्तुतः ज्ञानात्मक ही होता है । किन्तु ज्ञानभिन्नत्वेन घट का ज्ञान होते समय उस में ज्ञानात्मकता का ग्रहण नहीं होता । इसीलिये उस के सम्बन्ध में बाह्यप्रवृत्ति सम्पन्न होती है अतः उक्त प्रकार से द्रष्टा के ज्ञानात्मक होने से द्रष्टा के भेद से घटादि पदार्थ भिन्न होते हैं । द्रष्टा के भेद से घटादि का भेद शुक्ति स्थल में दृश्यमान रजत के दृष्टान्त से समझा जा सकता है–क्योंकि उस स्थल में द्रष्टा के भेद से दृश्यमान रजत का भेद स्पष्ट

सिद्ध है क्योंकि जब एक समय शुक्ति में अनेक पुरुषों को रजत का दर्शन होता है तब उन में जिस पुरुष को पहले बाधज्ञान हो जाता है उस का दृश्यमान रजत निवृत्त हो जाता है किन्तु उस समय भी अन्य व्यक्तियों को रजत का दर्शन होने से अन्य व्यक्तियों को दृश्यमान रहता है अतः जैसे वहां द्रष्टा के भेद से दृश्य का भेद होता है उसी प्रकार सर्वत्र द्रष्टा के भेद से दृश्य का भेद माना जा सकता है। अतः जैसे एक मनुष्य का ज्ञान दूसरे मनुष्य से गृहीत नहीं होता अतः एक मनुष्य के ज्ञान और उस के विषयभूत घट-दोनों में अन्य मनुष्य की अगृह्यमाणता में कोई अन्तर न होने से ऐसा अनुमान हो सकता है कि एक मनुष्य से गृहीत होने वाला घट उस मनुष्य के ज्ञान से अभिन्न है क्योंकि अन्य मनुष्य को वह अदृश्यमान है-जैसे अन्य मनुष्य से अदृश्यमान पूर्व मनुष्य का ज्ञान। इसलिये ज्ञान और घटादि में अभेद आवश्यक है।"-

[पूर्वचित्तसत्तावत् अर्थसत्ता का समर्थन-उत्तर पक्ष]

तो यह युक्ति भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे अन्य सन्तानवृत्ति ज्ञान-चित्त का अन्य विज्ञान-अन्य सन्तान से संवेदन न होने पर भी जैसे पूर्व चित्त की सत्ता विज्ञानवादी में भी मान्य है उसी प्रकार अर्थ की भी सत्ता का समर्थन हो सकता है। यदि सन्तानान्तर से अनुपलभ्यमान होने के कारण ही एक सन्तान से उपलभ्यमान घटादि को असत् माना जायगा तो सन्तानान्तरवर्ति चित्त के भी असत्त्व की प्रसक्ति होगी। आशय यह है कि-'जो चैत्रेतर मनुष्यों से अदृश्यमान है वह चैत्रेतर मनुष्यों से अदृश्यमान दूसरी वस्तु से भिन्नरूप में असत् है'। इस व्याप्ति पर ही चैत्र से दृश्यमान घटादि की चैत्र के ज्ञान से भिन्न रूप में असत्ता का साधन अवलम्बित है। किन्तु यह व्याप्ति मानने पर विज्ञानवादी को सन्तानान्तरवृत्ति चित्त का भी असत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि चैत्रात्मक चित्तसन्तान चैत्रेतर मनुष्यों से अदृश्यमान है अतः चैत्रेतर मनुष्य से अदृश्यमान चैत्रात्मक-सन्तानवृत्ति चैत्र धर्मों से भिन्न रूप में उसकी सत्ता न हो सकेगी। यदि उक्त व्याप्ति में चैत्रेतर मनुष्यों से अदृश्यमान में चैत्रेतर मनुष्य से अदृश्यमान के विजातीय रूप में असत्त्व का व्यापक विधया प्रवेश करके यह कहा जाय कि-चैत्रात्मक चित्त सन्तान में चैत्रात्मक सन्तानवृत्ति चैत्र के विजातीय रूप में उक्त चित्त की सत्ता न होने से उक्त दोष नहीं हो सकता और चैत्र से दृश्यमान घटादि में चैत्रगत ज्ञान के विजातीयरूप में घट असत्ता सिद्ध होने से बाह्यार्थ के अभाव की सिद्धि हो जायगी तो यह कथन विज्ञानवादी के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि उसके मत में जाति की सत्ता असिद्ध है।

[ज्ञानभिन्नत्वरूप से अनध्यवसित नीलादि असत् होने की शंका का उत्तर]

यदि यह कहा जाय कि-"जो जिस प्रकार से उपलभ्यमान-दृश्यमान होता है, यदि उस प्रकार से वह अनुपलभ्यमान =अनध्यवसित है तो वह उस रूप से असत् होता है-यह व्याप्ति है। इसके अनुसार नीलादि पदार्थ के दर्शन को यदि ज्ञानभिन्न नीलादि का ग्राहक माना जाय तो भी ज्ञान-भिन्नत्वरूप से नीलादि की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञानभिन्नत्वरूप से वह उपलब्ध= अध्यवसित नहीं होता।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर नीलादि आकारों का भी ज्ञानाऽद्वयत्व=ज्ञानाभिन्नत्व रूप से अभाव हो जायगा-क्योंकि ज्ञानभिन्नत्वरूप से उसका अध्यवसाय नहीं होता। इस पर विज्ञानवादी की ओर से यदि यह कहा जाय कि-"नीलादि पदार्थ निरंशत्व रूप अद्वयत्वशाली बोधरूप में दर्शन द्वारा गृहीत होता है अर्थात् नीलादि दर्शन का

विषय होता है और दर्शन निरंश है। इसलिये उस दर्शनात्मक बोध का अद्वयत्व-अभेद उसके विषयभूतनीलादि में है। इस प्रकार नीलादि का ज्ञानाऽद्वयत्व-ज्ञानाऽभिन्नरूप में ही दर्शनात्मक अनुभव होता है। किन्तु नाम जात्यादि द्वारा नीलादि के भ्रमात्मक बोध के वासनात्मक बीज का अनुवर्त्तन होने से बौद्ध दर्शन अनुसार उसका अध्यवसाय नहीं होता है। अतः दर्शन द्वारा गृहीत=अनुभूत होने पर भी अगृहीत अननुभूत के समान हो जाता है इसलिये नीलादि का ज्ञानाऽद्वयरूप से अननुभव कहा जाता है। किन्तु वस्तुतः ज्ञानाद्वयरूप में नीलादि की अननुभूति नहीं है, क्योंकि नीलादि का ज्ञानाभिन्न रूप में जो प्रथम दर्शन होता है वह भी अनुभव है और वही वस्तुतः प्रमाण है। अतः नीलादि का ज्ञानाभिन्नरूप में असत्त्व नहीं हो सकता"– तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि नीलादि के ज्ञानाऽद्वयरूप में अनुभव की प्रतीति नहीं होती है किन्तु ज्ञानद्वयरूप में ही नीलादि का अनुभव प्रतीयमान होता है। क्योंकि 'नीलं पश्यामि' इस प्रकार का अनुभव सर्वमान्य है। यह अनुभव नीलादि और उसके ज्ञान में भेदनियत कर्म-क्रिया भाव का ग्राहक होने से नीलादि का ज्ञानद्वय-ज्ञानभिन्नरूप में अनुभव सिद्ध होता है। फिर इस अनुभवसिद्ध द्वयानुभव का अपलाप कर यदि ज्ञान अगोचर (अप्रतीयमान) अद्वयानुभव का समर्थन किया जायगा तो अन्यत्र भी अतिप्रसङ्ग होगा। जैसे-यह भी कहा जा सकता है कि नीलाद्याकार बोध अनुभूयमान होने पर भी असत् है, किन्तु उससे भिन्न प्रकार का ही बोध दर्शनात्मक अनुभव से गृहीत होता है। किन्तु वह अन्य प्रकार का बोध दर्शनानुसार अध्यवसित नहीं होता, क्योंकि नीलादि बोधात्मना उसके भ्रम का बीज अनुवर्त्तमान रहता है। फलतः नीलाद्याकार बोध की भी सिद्धि न हो सकेगी।

[ज्ञान और अर्थ में अनुमान से अद्वयत्व की सिद्धि अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि-"नीलादि में ज्ञानाऽद्वयत्व अनुमान से सिद्ध होगा-जैसे 'चैत्र से ज्ञायमानघटादि चैत्रीयज्ञान से अभिन्न है क्योंकि चैत्रादि ज्ञान के साथ ही नियम से उपलब्ध होता है अर्थात् चैत्रीयज्ञान को विषय न करने वाले ज्ञान का अविषय है, जैसे चैत्रीयज्ञान का अपना स्वरूप"– तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे विज्ञानवादी ने यह कहा था कि अनुमान से स्वदृष्ट और परदृष्ट नीलादि में अभेद सिद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार साक्षात्क्रियमाण और अनुमीयमान में भेद होने से उनमें अद्वयत्व का अनुमान नहीं हो सकता। अन्यथा नीलादि में ज्ञानभिन्नत्व का और स्वदृष्ट परदृष्ट नीलादि में ऐक्य का अनुमान भी सुवच हो सकेगा। अतः ज्ञान और नीलादि में अनुमान द्वारा अद्वयत्व को सिद्ध करने की चेष्टा अकिञ्चित्कर है ॥ १५ ॥

विज्ञानवादी की ओर से जो यह कहा गया था कि ज्ञानभिन्न अर्थ की सत्ता को सिद्ध करने में युक्ति का अभाव है, १६वीं कारिका में ज्ञान के विषय में भी उसकी तुल्यता का प्रतिपादन किया गया है—

यश्चार्थे युक्त्ययोग *उक्तस्तस्य ज्ञानेऽपि तुल्यतामुपदर्शयन्नाह–

मूलं—युक्त्ययोगश्च योऽर्थस्य गोचरे जातिवादिनः।
ग्राह्यादिभावद्वारेण ज्ञानवादेऽप्यसौ समः ॥१६॥

* 'विज्ञानं यत्स्वसंवेद्यं' इति दशम्या कारिकया।

युक्त्ययोगश्चार्थस्य यः परैर्महता प्रबन्धेन, जातिवादतः–अनुभवविरुद्धवादेन, गोयने-च्छामात्रेण प्रकल्प्यते, असौ-युक्त्ययोगः, ग्राह्यादिभावद्वारेण-वक्ष्यमाणलक्षणेन ग्राह्यादि-भावविकल्पेन ज्ञानवादेऽपि समः, तत्पक्षनिराकरणव्यापाराविशेषात् ॥१६॥

[अर्थ विरोधी युक्तियाँ ज्ञान के विरोध में समान हैं]

'अर्थ की ज्ञानभिन्न सत्ता प्रमाणित करने के लिये कोई उचित युक्ति नहीं है' यह बात जो विज्ञानवादियों की ओर से असद् उत्तररूप में-अनुभवविरुद्धवाद का आश्रय लेकर बड़े विस्तार से अपनी इच्छानुसार कही गयी, यह बात ज्ञान के सम्बन्ध में भी समान है। ज्ञान के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि ज्ञान की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये भी उचित युक्ति का अभाव है क्योंकि उसके पक्ष में भी 'वह ग्राह्यरूप है ? अथवा ग्राहकरूप है ?' ऐसे विकल्पों को उठाकर ज्ञान की सत्ता के निराकरण का भी प्रयत्न उसी प्रकार हो सकता है जैसे ज्ञान भिन्न अर्थ की सत्ता के निराकरण का प्रयास हुआ है ॥१६॥

१७वीं कारिका में पूर्व कारिका में किये गये संकेत अनुसार ज्ञान के सम्बन्ध में सम्भावित विकल्पों की असंगति बताने का उपक्रम किया गया है-

अत्र ज्ञानं हि ग्राह्यमात्रस्वभावम्, ग्राहकमात्रस्वभावम्, उभयस्वभावम् अनुभयस्वभावं वा स्यात् ? इति विकल्प्याह—

मूलं—नैकान्तग्राह्यभावं तद् ग्राहकाभावतो भुवि ।
ग्राहकैकान्तभावं तु ग्राह्याभावादसंगतम् ॥१७॥

नैकान्तग्राह्यभावं तत्=न सर्वथा ग्राह्यस्वभावं ज्ञानम्। कुतः ? इत्याह-**भुवि**=पृथिव्याम्, **ग्राहकाभावतः**=ग्राहकस्वभावस्य कस्याप्यभावात्। संबन्धिशब्दश्चायं न संबन्ध्य-न्तरेण विना प्रवर्तत इति। अत एव **ग्राहकैकान्तभावं तु**–सर्वथा ग्राहकस्वभावं तु, **ग्राह्या-भावादसंगतम्**=अयुक्तमेतत्। न हि ग्राहकस्वभावाज्ज्ञानाद् ग्राह्यं किञ्चिदन्यदस्ति, यदपेक्षया नियतस्वभावतां बिभृयादिदमिति भावः ॥१७॥

[ज्ञान के सम्बन्ध में विकल्पों की समीक्षा]

ज्ञान के सम्बन्ध में ४ विकल्प सम्भावित हैं। (१) एक यह कि ज्ञान केवल ग्राह्यमात्र-स्वभाव है। (२) दूसरा, ज्ञान केवल ग्राहकस्वरूप है। (३) तीसरा ग्राह्यग्राहक उभय स्वभाव है। (४) अनुभय-अग्राह्य-अग्राहक स्वभाव है। इनमें दो विकल्पों का निराकरण प्रस्तुत कारिका में इस प्रकार किया गया है कि–ज्ञान को केवल ग्राह्य स्वभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि विश्व में ग्राहक-स्वभाव ज्ञान से अतिरिक्त किसी पदार्थ में न होने से ज्ञान में ग्राह्यस्वभाव की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक ये दोनों शब्द सम्बन्धी-द्योतक शब्द हैं। एक सम्बन्धि की सम्बन्धिता भिन्न दो पदार्थों के बिना सम्भव नहीं है। इसीलिये ज्ञान को केवल ग्राहकस्वभाव भी मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता क्योंकि ग्राहक के बिना जैसे ग्राह्य की उपपत्ति नहीं हो सकती इसी प्रकार ग्राह्य के बिना

ग्राहक की भी उपपत्ति नहीं हो सकती। अतः यदि ज्ञान को केवल ग्राहक स्वभाव माना जायगा और उससे भिन्न किसी ग्राह्य का अस्तित्व न माना जायगा तो भी ज्ञान का ग्राहक होना दुर्घट होगा, क्योंकि ग्राहकस्वभावता ग्राह्य की अपेक्षा से ही हो सकती है।।१७।।

१८ वीं कारिका में अन्तिम दो विकल्पों को अयुक्त बताया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है —

मूलं—विरोधान्नोभयाकारमन्यथा तदसद्भवेत् ।
निःस्वभावत्वतस्तस्य सत्तैवं युज्यते कथम् ? ।।१८।।

विरोधात्=एकस्य ग्राह्यग्राहकाकारोभयविमिश्रणेन द्वित्वविरोधात्, **नोभयाकारं**= न ग्राह्यग्राहकोभयस्वभावम्। **अन्यथा**=अनुभयस्वभावत्वपक्षे, **तत्**=ज्ञानम्, स्वभावविशेषनिषेधेन **निःस्वभावत्वतः**=स्वभावसामान्याभावात् असद् भवेत्। एवं तस्य शशविषाणस्येव सत्ता कथं युज्यते ?। अत्र केचिद् ताथागताश्चित्रप्रतिभासामेकां बुद्धिं स्वीकुर्वन्तस्तृतीयपक्षे विरोधमाहुः, तदुक्तम्—

"नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक् ।
अशक्यदर्शनस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन् ।।१।।"

अत्र देवेन्द्रव्याख्या—"चित्रज्ञाने हि यो नीलादिः प्रत्यवभासते, ज्ञानोपाधिर्ज्ञानविशेषणोऽनुभवस्वात्मभूत इति यावत्, स एवैकोऽनन्यभाक्=तज्ज्ञानस्वभावत्वादन्यमर्थं ज्ञानवदेव न भजते। तादृशश्च सन्नसौ तच्चित्रदर्शनप्रतिभासी तदन्यपीतादिप्रतिभासविवेकेन न केवलः शक्यते द्रष्टुम्, तस्मिन् प्रतिभासमाने सर्वेषामेव तज्ज्ञानतया तदन्येषामपि नियोगतः प्रतिभासनात्। तस्माद् यदैवमेकं नीलादिकमाकारं तदन्येभ्यः पीतादिभ्यः 'अयं नीलः' इति ज्ञानान्तरेण विवेचयति प्रमाता, तदैव तथा विवेचयन्नसौ न तज्ज्ञानमामृशति, अतद्रूपत्वात्तस्य, किं तर्हि ? अर्थे पतति=अर्थ एव तज्ज्ञानं प्रवृत्तं भवतीत्यर्थः। तस्मादेकस्मिन्नप्याकारे प्रतिभासमाने सर्वमाभाति, न वा किञ्चिदपि, इत्यशक्यो विवेकतो दर्शने नीलादिप्रतिभास इति। न च चित्रताया बहिरर्थधर्मता, नीलादिनामवयविभेदाऽभेदाभ्यामनुपपत्तेः। सुखादीनां च ज्ञानाऽभिन्नहेतुजत्वादपि ज्ञानात्मकत्वम्" इति।

ज्ञान ग्राह्य-ग्राहक उभयाकार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ग्राह्याकार-ग्राहकाकार इन दोनों का यदि एक में समावेश हो जायगा तो एक की ही सत्ता रह जाने से उभयत्व का विरोध होगा, और जब कोई उभय नहीं होगा तो ज्ञान का उभयाकार कहना भी सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार ज्ञान को अन्यथा उक्त तीनों स्वभावों से चौथे प्रकार का अनुभय स्वभाव भी नहीं माना जा सकता क्योंकि वस्तु के दो ही स्वभाव सम्भव है ग्राह्यस्वभाव और ग्राहकस्वभाव। अतः इन

दोनों स्वभाव का निषेध कर देने पर तृतीय सद्भाव का कोई सद्भाव न होने से ज्ञान निःस्वभाव हो जायगा। जिसके परिणामस्वरूप ज्ञान असत् हो जायगा। क्योंकि शशविषाण के समान निःस्वभाव हो जाने पर उसकी सत्ता किसी भी प्रकार सम्भव न हो सकेगी।

ज्ञान के विषय में विज्ञानवादी के उक्त तृतीय विकल्प का जैनों की ओर से यह निराकरण सुनकर विज्ञानवादी कतिपय विद्वानों की ओर से कुछ विरोध उपस्थित किया जा रहा है।

[नियत एकाकार ज्ञान का उपादान चित्राकार एक दर्शन]

उन विद्वानों का मत यह है कि–चित्राकार में प्रतिभासित होने वाली एकमात्र बुद्धि की ही पारमार्थिक सत्ता है। अर्थात् चित्राकार ज्ञान ही परमार्थ सत् है उसी से नियत एकैकाकार ज्ञान का जन्म होने से संसार के विभिन्न व्यवहारों की उपपत्ति होती है। इस मत को उपस्थित करते हुए व्याख्याकार ने यहां एक प्राचीन कारिका का उल्लेख कर उसकी देवेन्द्रकृत व्याख्या को प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है – चित्राकार ज्ञान में जो नीलादि अवभासित होता है वह ज्ञान की उपाधि है अर्थात् ज्ञान का विशेषण है जो ज्ञान का आत्मभूत है। तथा वह अनन्यभाक् है अर्थात् ज्ञान के समान ही ज्ञानस्वभावत्व से अन्य कोई स्वभाव का आश्रय नहीं है। अतः ज्ञानस्वभाव भूत नीलादि जब चित्राकारदर्शन में प्रतिभासित होता है तब अपने से अन्य प्रतिभासमान पीतादि से विविक्त होकर केवल अपने आकार में नहीं देखा जा सकता, क्योंकि चित्राकार ज्ञान में जब वह प्रतिभासित होता है तो पीतादि अन्य सभी आकार के चित्राकार ज्ञानस्वरूप होने से उन आकारों का भी उसी ज्ञान के द्वारा अविविक्तरूप से भान होता है। इसलिये यह मानना आवश्यक होता है कि प्रमाता को नीलेतर पीतादि से नील को विविक्त रूप में ग्रहण करने वाला 'अयंनीलः' इसप्रकार अन्य ज्ञान जब उत्पन्न होता है उसी समय प्रमाता नील को पीतादि से विविक्तरूप में ग्रहण करते हुये चित्राकारज्ञान को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि उक्त विवेचनात्मक ज्ञान चित्राकार ज्ञानस्वरूप नहीं होता। अतः उसमें उसका ग्रहण सम्भव नहीं होता। क्योंकि ज्ञान अपने स्वरूप को तथा अपने नियताकार को ही ग्रहण करता है। उक्त चित्राकार ज्ञान उसका न आकार होता है, न उसका स्वरूप है। अतः वह ज्ञान चित्राकार ज्ञान के ग्रहण में प्रवृत्त न होकर उस ज्ञान के एक अर्थ-आकार-नील के ही ग्रहण में प्रवृत्त होता है। निष्कर्ष यह है कि चित्राकारज्ञान के प्रतिभास के समय एक आकार का प्रतिभास होने पर सब का प्रतिभास होगा अथवा किसी का भी प्रतिभास नहीं होगा। अतः चित्राकार दर्शन में नीलादि का पीतादि विविक्तरूप में प्रतिभास अशक्य है। फलित यह हुआ कि चित्राकार एक ज्ञान में नीलपीतादि नाना आकारों का समावेश होने पर भी नील-पीतादि नियताकार को ग्रहण करने वाले विवेचनात्मक ज्ञानों से नील-पीतादि का नानात्व सुरक्षित रहता है। अतः किसी एक में ग्राह्य-ग्राहक उभय आकार का समावेश होने पर उभयत्व के विरोध का आपादन कर के जो ज्ञान के ग्राह्य-ग्राहक उभयाकारतापक्ष का निराकरण किया गया वह उचित नहीं है। यदि इसके विरुद्ध यह कहा जाय कि–"चित्रता ज्ञान का धर्म नहीं है किन्तु बाह्य अर्थ का धर्म है"–तो वह ठीक नहीं है क्योंकि नील-पीतादि स्वरूप चित्रता की अवयवी के साथ भेद और अभेद दोनों ही रूप में उपपत्ति नहीं हो सकती। आशय यह है कि चित्रता-नीलपीतादि रूपों को एक अवयवी द्रव्य से भिन्न मानने पर एक चित्रात्मक बाह्यार्थ की सिद्धि न हो सकेगी किन्तु नील पीतादि अर्थों का एकत्रित समूह सिद्ध होगा और अवयवी से अभिन्न मानने

पर नील-पीतादि में भी परस्पर अभेद हो जाने से उनकी भिन्नस्वभावता का लोप हो जाने के कारण नीलपीतादि विविध रूपात्मक चित्रता की सिद्धि नहीं होगी ।

इस पर यदि यह शंका की जाय कि- उक्त रीति से चित्रता में बाह्यार्थधर्मता का निषेध करने पर सुख-दुःखादि में भी ज्ञानधर्मता का निषेध हो जायगा, क्योंकि उन्हें एक ज्ञान का धर्म मानने पर उनके स्वभावभेद का लोप हो जायगा, भिन्न ज्ञान का धर्म मानने पर उनमें एकनिष्ठता के व्यवहार की अनुपपत्ति होगी, अतः सुख-दुःखादि में ज्ञानधर्मता सिद्ध न होने से उनमें ज्ञानात्मकता की सिद्धि न हो सकेगी"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सुख-दुःखादि को विभिन्न ज्ञान का धर्म मानकर ज्ञानात्मक सिद्ध किया जा सकता है और सुख-दुःखादि में एकनिष्ठता के व्यवहार की उपपत्ति भी सन्तान की एकता के आधार पर की जा सकती है । दूसरी बात यह है कि सुख-दुःखादि में ज्ञानात्मकता केवल ज्ञानधर्मता से ही नहीं सिद्ध होती अपितु ज्ञान भिन्न हेतु से अजन्य होने के कारण भी उनकी ज्ञानात्मकता सिद्ध होती है ।"—

तदसत्–बाह्यस्यापि द्रव्यस्य चित्रपर्यायात्मकस्याऽशक्यविवेचनत्वेन चित्रैकरूपताया दुरपह्नवत्वात्, अन्तर्विज्ञानात् तदाकाराणामिव बहिष्पुद्गलादेः रूपादीनामशक्यविवेचनत्वात् । "मणिसमूहे 'पद्मरागोऽयम्' 'चन्द्रकान्तोऽयम्' इत्यादिपृथग्बुद्धिरूपं विवेचनमस्त्येवेति" चेत् ? नीलाद्याकारैकज्ञानेऽपि 'नीलाकारोऽयम्' 'पीताकारोऽयम्' इति विवेचनं किं न प्रतीतम् ? । 'चित्रप्रतिभासकाले नेदृग् विवेचनम्, पश्चात्तु नीलाद्याभासानि ज्ञानान्तराण्यविरोधोदयाद् विवेकेन प्रतीयन्त' इति चेत् ? तर्हि मणिराशिप्रतिभासकाले पद्मरागादिविवेचनमपि नास्त्येव, पश्चात्तु तत्प्रतीतिरविरोधोदयादिति शक्यं वक्तुम् । 'मणिराशेर्देशभेदेन विभजनं विवेचनमि'ति चेत् ? न, एकमण्याकारेषु तदभावात् । 'मणेरेकस्य खण्डने तदाकारेषु देशविभजनमस्त्येवे'ति चेत् ? ज्ञानस्याप्येकस्य बुद्ध्या खण्डने तदस्त्येव । 'बुद्ध्यन्तराण्येव तत्खण्डने तानी'ति चेत् ? पराण्येव मणिखण्डने मणिखण्डद्रव्याणि तानीति समानम् । 'चित्रज्ञानं विवेचयदर्थे पततीति तदविवेचनमि'ति चेत् ? एकत्वपरिणतद्रव्याकारान् विवेचयन् नानाद्रव्याकारेषु पततीति तदविवेचनं तुल्यम् ।

[एक चित्र ज्ञान की कल्पना असंगत-उत्तर पक्ष]

इस प्रकार ज्ञान के ग्राह्य-ग्राहक उभयाकारता पक्ष को कतिपय विज्ञानवादियों के मतानुसार उपस्थित कर व्याख्याकार ने उसकी आलोचना करते हुये यह कहा है कि उक्त प्रकार से नील-पीतादि एक नियत आकार में अशक्य विवेचन होने से नील-पीतादि विविधाकार एक चित्र ज्ञान की कल्पना कर ज्ञान के ग्राह्य-ग्राहक उभयाकारता का समर्थन करना असङ्गत है । क्योंकि उक्त प्रकार से चित्र पर्यायात्मक बाह्यद्रव्य का अंगीकार करके अशक्यविवेचन होने से उसकी एक चित्रद्रव्यरूपता का अपलाप दुष्कर होगा । क्योंकि, जैसे चित्राकार आन्तरविज्ञान से उसके प्रतिभास काल में नील पीतादि एक एक आकार का विवेचन अशक्य होता है उसीप्रकार चित्रात्मक द्रव्य से बाह्य पुद्गलादि के रूपादि का भी विवेचन अशक्य होता है ।

आशय यह है कि चित्रात्मक एक द्रव्य का जब प्रतिभास होता है तब उससे पृथक् पुद्गल आदि के रूपादि का प्रतिभास नहीं होता है। यह तब होता है जब मनुष्य की बुद्धि चित्रद्रव्य को प्राधान्येन ग्रहण करने के उन्मुख न होकर किसी पुद्गलद्रव्यविशेष को प्रधानरूप से ग्रहण करने को उन्मुख होती है। यदि यह शंका हो कि "विभिन्न मणिओं की बनी हुई चित्रमालात्मक द्रव्य में 'अमुक पद्मराग मणि है' 'अमुक चन्द्रकान्त मणि है' इस प्रकार उस द्रव्य का पृथग्बुद्धिरूप विवेचन होता ही है। अतः चित्र द्रव्य का अशक्यविवेचनत्व सम्भव नहीं है।"–तो इसके समाधान में चित्राकार ज्ञानवादी से भी यह प्रश्न हो सकता है कि-"उक्त ज्ञान में 'यह नीलाकार है' 'यह पीताकार है' इस प्रकार का विवेचन क्या नहीं प्रतीत होता?-यदि इसका उत्तर विज्ञानवादी की ओर से यह दिया जाय कि चित्राकार ज्ञान के प्रतिभास काल में इस प्रकार का विवेचन नहीं होता, किन्तु बाद में अविद्या[=वासना] के उद्बोध से नीलादि एक-एक नियताकार अन्य ज्ञान का उदय होने पर विवेचन प्रतीत होता है।" तो इस प्रकार का उत्तर चित्रद्रव्यवादी की ओर से भी दिया जा सकता है कि विभिन्न मणिओं से बने हुये मालात्मक द्रव्य के प्रतिभासकाल में पद्मरागादि एक एक मणि का विवेचन ही नहीं होता। अपितु बाद में अविद्या स्थानीय-नयज्ञान के उदय होने से पद्मरागादि के विवेचन की प्रतीति होती है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य की दृष्टि जब मुख्यरूप से अखण्ड मालाद्रव्य को ग्रहण करती है, तो उस समय मणिओं का एक मालामात्र का भान होता है। किन्तु जब मनुष्य उसके एक एक खण्ड कर विशेषरूप से दृष्टिनिक्षेप करता है तब उसे एक एक मणि का पृथक् विवेचन[=बोध] होता है। अतः चित्रज्ञान और चित्रद्रव्य की कल्पना में एक अवस्था में उसकी अशक्य विवेचनता और अन्य अवस्था में उसका विवेचन समान है। अतः चित्र द्रव्य की कल्पना की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस पर चित्र ज्ञानवादी की ओर से यदि यह कहा जाय कि-"मालात्मक मणिसमूह से एक एक मणि आदि देशभेद द्वारा विभाजनरूप विवेचन होता है। किन्तु चित्रज्ञान से नीलादि एक एक आकार का ऐसा विवेचन नहीं होता है। इसलिये दोनों के अशक्यविवेचनत्व में समानता न होने से उक्त चित्रज्ञान के दृष्टान्त से चित्रद्रव्य की कल्पना नहीं की जा सकती।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि विविध वर्णात्मक एक मणि के आकारों में देशभेद से एक एक वर्णाकार का विभाजनरूप विवेचन नहीं होता। अतः उसका अशक्य विवेचनत्व चित्रज्ञान के अशक्यविवेचनत्व के समान है। अतः विविधवर्णात्मक एकमणि रूप चित्रद्रव्य चित्रज्ञान के दृष्टान्त से माना जा सकता है। यदि इसके विरोध में चित्रज्ञानवादी की ओर से यह कहा जाय कि-विविधवर्णात्मक एकमणि का भी खण्ड करने पर उसके विभिन्न आकारों में देशभेद मूलक विभाजन होता ही है-"तो यह ठीक नहीं है क्योंकि चित्रज्ञान के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि एकचित्रज्ञान का बुद्धि द्वारा खण्डन-विश्लेषण करने पर उसके आकारों का भी दैशिक विभाजनरूप विवेचन होता ही है।

यदि इसके उत्तर में चित्रज्ञानवादी की ओर से यह कहा जाय कि-"एक चित्रज्ञान का बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जो नील-पीतादि एक एक नियताकार ज्ञान प्रतीत होता है वह उस चित्रज्ञान से भिन्न ज्ञान है।"-तो चित्रद्रव्यवादी की ओर से भी इसके समान यह कहा जा सकता है कि विविध-वर्णाकार एक मणि का खण्डन करने पर जो मणिखण्डात्मक द्रव्य प्रतीत होते हैं वे भी नानावर्णाकार एकमणिद्रव्य से खण्डदृष्टचा भिन्न ही है। यदि चित्रज्ञानवादी की ओर से चित्रज्ञान की अशक्य

विवेचनता का यह रूप बताया जाय कि चित्रज्ञान का विवेचन करने वाली बुद्धि चित्रज्ञान को ग्रहण न कर उसके अर्थ-आकार विशेष को ही ग्रहण करती है। इस प्रकार नीलादि एक-एक आकार के ग्रहण के समय चित्रज्ञान का पूर्णतया ग्रहण न होना ही उसका अविवेचन है"-तो इस प्रकार का अविवेचन चित्रद्रव्य के सम्बन्ध में भी समान है। अर्थात् चित्रद्रव्यवादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि जब एकत्व में परिणत चित्रद्रव्य को विवेचन करने वाला बोध उदित होता है तो वह द्रव्य के विभिन्न आकारों को ही ग्रहण करता है। चित्रद्रव्य को पूर्णतया ग्रहण नहीं करता। तो इस प्रकार द्रव्य के एक-एक आकार के ग्रहणकाल में पूर्णरूप से चित्रद्रव्य का अग्रहण ही उसका अविवेचन है। अतः यह स्पष्ट है कि चित्रज्ञान और चित्रद्रव्य के अशक्यविवेचनत्व में कोई अन्तर नहीं है।

एतेन 'ग्राहकैकस्वरूपस्य नानाग्राह्याकारकृतवास्तवैकत्वाविघातोऽविवेचनम्' इत्यपि निरस्तम्, वस्तुत एकस्य बाह्यस्य नानाधर्मकृतैकत्वाविघाततौल्यात्, शब्दपरावृत्तिमात्रत्वात्। एतेन विविच्यमानस्यावास्तवानेकत्वपरिग्रहोऽपि व्याख्यातः।

[एकत्व के अविघातरूप अविवेचन उभयपक्ष में समान]

चित्रज्ञानवादी की ओर से यदि उसके अविवेचन की यह व्याख्या की जाय कि-"ज्ञान एकमात्रग्राहकस्वरूप है, उसका एकत्व वास्तविक है, जिसका विघात नीलपीतादि विभिन्न बाह्याकारों से नहीं हो सकता। इस प्रकार ग्राहकस्वरूप चित्रज्ञान के नीलपीतादि विभिन्न आकारों से वास्तव एकत्व का अविघात ही अविवेचन है"-तो इससे भी चित्रज्ञान के अविवेचन में चित्रद्रव्य के अविवेचन के वैषम्य स्थापन का प्रयास निष्फल हो जाता है। क्योंकि चित्रद्रव्य के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि चित्रद्रव्य वस्तुतः ज्ञान से भिन्न है और एक है। उसके विभिन्न धर्मों से उसके एकत्व का विघात नहीं हो सकता अतः एक चित्रद्रव्य के वास्तव एकत्व का उस के धर्मों से विघात न होना ही उसका अविवेचन है। फलतः अर्थ में कोई भेद नहीं होता है। केवल अविवेचन के व्याख्यात्मक शब्दों में परिवर्तनमात्र हो जाता है। इसीलिये अविवेचन की-'विविच्यमान के अनेकत्व का अवास्तव होना ही विविच्यमान चित्र ज्ञान का अविवेचन है' ऐसी व्याख्या करके चित्रज्ञान के अविवेचन में चित्रद्रव्य के अविवेचन का भेद-वैषम्य नहीं बताया जा सकता, क्योंकि चित्रद्रव्य के अविवेचन की भी यही व्याख्या हो सकती है। अतः अविवेचन की इस व्याख्या में भी मात्र शब्दों का ही परिवर्तन है, अर्थ का नहीं।

'बाह्यस्य विवेच्यमानस्यानुपपद्यमानत्वाज्ज्ञानस्यैव चित्ररूपते' ति चेत् ? न, बाह्यस्यात्यन्तानुपलभ्यस्य* स्वभावस्य तथात्वासंभवात्, ज्ञानस्यैवोपलम्भयोग्यस्य तथात्वसंभवात्, 'ज्ञानाकारस्य बाह्यत्वेनाभिमतस्य दृश्यत्वाद् विवेचनोपपत्तिरि'ति चेत् ? तद्विवेचनात् तस्यैवानुपपत्तिः, अन्यस्य वा ?। आद्ये, ज्ञानस्य नीलाद्याकारत्वायोगाच्चित्रैकरूपताव्याघातः। द्वितीये, अतिप्रसङ्गः, अन्यविवेचनादन्यानुपपत्तौ त्रैलोक्यस्याप्यभावप्रसङ्गात्।

* 'भ्यस्य' इति प्रत्यन्तरे।

[ज्ञान का अस्तित्व विलुप्त हो जाने की आपत्ति]

यदि चित्रज्ञानवादी की ओर से यह कहा जाय कि–"विवेचन से ज्ञानभिन्न वस्तु की अनुपपत्ति होती है। अत एव ज्ञान ही चित्ररूप हो सकता है, ज्ञानभिन्न अर्थ नहीं। जैसे किसी एक शकट का उसके चक्र-धुरी-आरे आदि का विवेचन करने पर शकट का कोई अलग अस्तित्व नहीं रहता और एक-एक खण्ड का भी उसके घटक भागों में विवेचन करने पर उसका भी कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानभिन्न वस्तु विवेचन की स्थिति में अस्तित्व युक्त स्वीकार नहीं की जा सकती। इसलिये ज्ञान ही चित्रात्मक हो सकता है, ज्ञानभिन्न नहीं।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानभिन्न वस्तु जब विज्ञानवादी की दृष्टि में अत्यन्त अनुपलभ्य है तब उसके स्वभाव के विषय में यह कल्पना सम्भव नहीं है कि विवेचन से अनुपपद्यमान स्वभाव होने के कारण उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अपितु उस मत में ज्ञान ही उपलम्भयोग्य है। अत एव उसीके सम्बन्ध में यह कल्पना हो सकती है कि विवेचन से उसका स्वभाव उपपन्न न हो सकने के कारण वह स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि नील-पीतादि विविधाकार जो एक ज्ञान उपलब्ध होता है। उसका नियत एक एक आकार ज्ञान के रूप में विवेचन करने पर विविधाकार एक ज्ञान का अस्तित्व नहीं सिद्ध हो सकता।

[चित्रज्ञानवादी को सर्वशून्यता की आपत्ति]

यदि चित्रज्ञानवादी की ओर से यह कहा जाय कि–"बाह्यरूप से अभिमत ज्ञानाकार दृश्य है और वास्तव ज्ञानाकार द्रष्टा ग्राहक है। इस प्रकार एक एक आकार वाले ज्ञान से नानाकार ज्ञान का विवेचन हो सकता है। किन्तु इस प्रकार एकचित्र द्रव्य विवेचन से उपपन्न नहीं हो सकता" तो इस कथन के सम्बन्ध में चित्रज्ञानवादी से यह प्रश्न होगा कि विवेचन से एक चित्रद्रव्य की अनुपपत्ति के आपादन का आधार क्या है ? (१) क्या यह नियम आधार है कि 'जिसका विवेचन होता है–विवेचन से उसी की अनुपपत्ति होती है ?' अथवा (२) यह नियम कि-'जिसका विवेचन होता है–विवेचन करने पर उससे अन्य की अनुपपत्ति होती है ? इन में प्रथम पक्ष मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि चित्राकार ज्ञान का नीलादि एक एक नियताकाररूप से विवेचन करने पर उसमें नील-पीतादि विविध आकारत्व न होने से उसकी एक चित्रात्मकता का ही व्याघात होगा। इसी प्रकार दूसरा पक्ष भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि उस पक्ष को अवलम्बन कर यह आशा नहीं की जा सकती कि ज्ञान का विवेचन करने से ज्ञानभिन्न अर्थ की अनुपपत्ति होगी और ज्ञान सुरक्षित रह जायगा क्योंकि उस पक्ष में अतिप्रसङ्ग होगा, अर्थात् एक के विवेचन से अन्य की अनुपपत्ति मानने पर परस्पर के विवेचन से परस्पर की अनुपपत्ति हो जाने से फलतः त्रैलोक्य अन्तर्गत वस्तुमात्र का अभाव ही जायगा। आशय यह है कि जब एक चित्र ज्ञान का विवेचन होगा तब अन्य में दूसरे चित्रज्ञान भी आ जायेंगे और जब इस चित्रज्ञान का विवेचन होगा तो उससे अन्य में पहला चित्रज्ञान भी आ जायगा। तो इस प्रकार चित्रज्ञान भी सिद्ध न हो सकेगा। अतः यह पक्ष सर्वशून्यता में पर्यवसित होगा।

किञ्च, बाह्यस्य विवेचनं ज्ञानम्, इति कथं तेन तदसत्त्वव्यवस्था, अतिप्रसंगात् ?। 'भ्रान्तं तदि'ति चेत् ? न, तस्याऽप्रमाणत्वात्। 'भ्रान्तिरप्यर्थसंबन्धतः प्रमे'ति चेत् ? न, असता सह संबन्धाभावात्। 'असंबन्धेऽपि दोषमहिम्ना तज्ज्ञानसंभवाद् न दोष' इति चेत् ? तथापि

भ्रान्तं ज्ञानं भ्रान्तत्वेन प्रतिसंधीयमानमर्थासत्त्वव्यवस्थापकम्, अन्यथा शुक्तौ रजतज्ञानं प्रागेव रजताऽसत्त्वं व्यवस्थापयेत्; तच्चप्रतिसंधानं नाऽसदर्थाकारत्वप्रतिसंधानेन तच्च तदसत्त्व-व्यवस्थेत्यन्योन्याश्रयः ।

[बाह्यार्थ विवेचनरूप ज्ञान से बाह्यार्थ का असत्त्व कैसे ?]

इस संदर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि विवेचन से बाह्यार्थ का असत्त्व कैसे होगा ? क्योंकि विवेचन ज्ञानस्वरूप होता है और ज्ञान से वस्तु की व्यवस्था होती है । अतः ज्ञान से बाह्य अर्थ के असत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि ज्ञान से बाह्य वस्तु के असत्त्व की सिद्धि मानने पर अति-प्रसंग होगा । अर्थात् ज्ञान की विषयभूत कोई भी वस्तु सत् न हो सकेगी । एवं अज्ञात की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है । फलतः सर्वाऽसत्त्व की प्रसक्ति होगी । यदि यह कहा जाय कि-'बाह्यार्थ का ज्ञान भ्रम है इसलिये बाह्यार्थ की असत्ता सिद्ध होती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि बाह्यार्थ का ज्ञान जब भ्रम है तो वह प्रमाण नहीं है, अतः उससे बाह्यार्थ की असत्ता सिद्ध नहीं हो सकती । क्योंकि सत्ता या असत्ता किसी की भी सिद्धि प्रमाणाधीन ही होती है । यदि उसके उत्तर में यह कहा जाय कि-'बाह्यार्थ का ज्ञान असत् अर्थसम्बन्धी होने से भ्रमरूप होने पर भी स्वरूपतः प्रमा है । अतः उससे अर्थ के असत्त्व की सिद्धि हो सकती है ।'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ असत् होने पर ज्ञान के साथ उसका सम्बन्ध होने से अर्थसम्बन्ध से उसको भ्रम कहना असम्भव है । यदि यह कहा जाय कि-'ज्ञान के साथ अर्थ का सम्बन्ध न होने पर भी दोषवश ज्ञान के साथ अर्थ का सम्बन्ध भासमान हो सकता है, अतः उक्त दोष नहीं है-' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भ्रमात्मक ज्ञान भ्रमत्वरूप से ज्ञात होने पर ही अर्थ के असत्त्व का व्यवस्थापक होता है, भ्रमत्वज्ञान के पूर्व नहीं । अन्यथा शुक्ति में रजतज्ञान भ्रमत्वज्ञान के पहले ही रजत के असत्त्व का साधक हो जायगा तो भ्रम से रजतार्थी की प्रवृत्ति कभी न हो सकेगी । यदि बाह्यार्थ ज्ञान में भ्रमत्व का ज्ञान होने पर उससे बाह्यार्थ के असत्त्व की सिद्धि मानी जायगी तो अन्योन्याश्रय होगा । क्योंकि अर्थ का असत्त्व सिद्ध हो जाने पर असदर्था-कारत्व के ज्ञान से भ्रमत्व का ज्ञान हो सकेगा और ज्ञान में भ्रमत्व का ज्ञान हो जाने पर ज्ञान के विषयभूत अर्थ में असत्त्व की सिद्धि हो सकेगी-इस प्रकार अन्योन्याश्रय स्पष्ट है ।

किञ्च, नीलादेरवयविनोऽवयविबुद्ध्या विवेच्यमानस्याऽसत्त्वम्, अवयवबुद्ध्या वा ? । नाद्यः, तद्बुद्ध्या तत्सत्त्वस्यैव ग्रहात् । न द्वितीयः, अवयवबुद्धेरवयविनः सत्त्वं विधातुं निषेद्धुं वाऽसमर्थत्वात् ।

[असत्त्व अवयविबुद्धि से या अवयवबुद्धि से ?]

यह भी ज्ञातव्य है कि-(१) नील-पीतादि विविधाकार चित्रद्रव्य का, यथा अवयवीरूप में होने वाली बुद्धि से विवेचन करने पर उसका असत्त्व होगा ? या (२) अवयवरूप में होने वाली उसकी बुद्धि से उसका विवेचन करने पर उसका असत्त्व होगा ? इसमें प्रथम पक्ष युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जिस विषय की जो बुद्धि होती है उससे उसकी सत्ता ही सिद्ध होती है न कि असत्ता । दूसरा पक्ष भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि अवयवरूप में होने वाली बुद्धि अवयवी को विषय नहीं करती अतः वह अवयवी की सत्ता के साधन अथवा निषेध दोनों में असमर्थ है, क्योंकि अन्य वस्तु की

बुद्धि अन्य वस्तु की सत्ता या असत्ता के प्रति तटस्थ होती है, क्योंकि वह अन्य वस्तु को जब ग्रहण ही नहीं कर सकती तो उसका कोई स्वरूपधर्म जैसे कि सत्त्व अथवा असत्त्व कैसे बता सकती है ? क्योंकि धर्मी का ग्रहण हुये विना धर्म का ग्रहण नहीं हो सकता ।

यापि नीलादेरवयविभेदा-ऽभेदाभ्यामनुपपत्तिरुक्ता, साऽप्ययुक्ता कथञ्चिद् वैरूप्यस्वीकारे दोषाभावात्; अन्यथा तवाप्येतद्दोषानतिवृत्तेः, एकज्ञानस्यैव नानाकारतादात्म्ये प्रत्याकारं भेद-प्रसंगात्, नानाकाराणां चैकज्ञानतादात्म्ये नानात्वव्याहतेः । सुखादीनां ज्ञानात्मकत्वं तु प्रागेव पराहतमिति नेदानीं प्रयास इति ॥१८॥

इस संदर्भ में प्रतीत होने वाले नीलपीतादि की अवयवी से भेद - अभेद दोनों पक्ष में जो अनुपपत्ति बतायी गयी थी वह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उसमें कथञ्चित् अवयवों का भेद-अभेद विविधरूप स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है । यदि वस्तु में कथञ्चिद् वैविध्य नहीं स्वीकार किया जायगा तो विज्ञानवादी के पक्ष में इस दोष की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि एक चित्रज्ञान का नील-पीतादि अनेक आकारों के साथ अभेद मानने पर आकारभेद से उसका भेद हो जायगा । विभिन्न आकारों का एक ज्ञान के साथ तादात्म्य मानने पर उन आकारों के अनेकत्व का व्याघात होगा । उक्त विचारों के निष्कर्ष स्वरूप बाह्यरूप से प्रतीत होने वाले अर्थों में ज्ञानाऽभेद की सिद्धि असम्भव हो हो जाती है, किन्तु उल्लेखनीय यह है कि सुखदुःखादि आन्तरवस्तु में भी ज्ञानात्मकता नहीं सिद्ध हो सकती । क्योंकि ज्ञानभिन्न हेतु से अजन्य होने के कारण ही सुखादि को ज्ञानात्मक कहा जा सकता है किन्तु सुखादि में माला-चन्दन-वनितादि ज्ञानभिन्न वस्तुओं से उत्पत्ति बताकर उक्त हेतु की असिद्धि होने से सुखादि की ज्ञानात्मकता का निरास पहले ही कर दिया गया है, अतः इस समय उसके लिये अधिक प्रयास आवश्यक नहीं है ॥१८॥

१९वीं कारिका में इस सम्बन्ध में विज्ञानवादी का एक अन्य अभिप्राय प्रदर्शित किया गया है-

परः स्वाभिप्रायमाह—

मूलम्—प्रकाशैकस्वभावं हि विज्ञानं तत्त्वतो मतम् ।
अकर्मकं तथा चैतत्स्वयमेव प्रकाशते ॥ १९ ॥

प्रकाशैकस्वभावं हि=गगनतलवर्त्यालोककल्पम् **मतम्**=इष्टम्, **तत्त्वतः**=परमार्थतः **अकर्मकम्**=विचाराक्षमत्वेन ग्राह्यस्याभावात् तदपेक्षाप्रकल्पितग्राहकत्वाभावात् कर्तृ-कर्म-भावोपरागरहितम् । तदुक्तम्—"परस्परापेक्षया तयोर्व्यवस्थानात्" इति । **तथा च**=ग्राह्य-ग्राहकाकारासंस्पर्शं च **एतत्**=विज्ञानम्, **स्वयमेव**=स्वसंविदितमेव प्रकाशते । तदुक्तम्—

[अकर्मक होने से विज्ञान का ग्राह्य कोई नहीं है—पूर्वपक्ष]

विज्ञानवादी का आशय यह है कि विज्ञान आकाशतल में विद्यमान आलोक के समान केवल प्रकाशस्वभाव है । अतः वह परमार्थतः अकर्मक है क्योंकि विचार करने पर ग्राह्य नहीं सिद्ध होता । ग्राह्य की अपेक्षा से ही ग्राहकत्व होता है अतः ग्राह्य का अभाव होने से ग्राहक भी नहीं हो सकता । अतः वह कर्तृ-कर्मभाव के सम्बन्ध से शून्य है—न वह ग्रहण का कर्ता है न वह ग्रहण का कर्म है ।

यह बात 'ग्राह्य और ग्राहक की सिद्धि एक दूसरे की अपेक्षा से होती है'-कह कर बतायी गई है। इस प्रकार ग्राह्याकार और ग्राहकाकार से शून्य होने के कारण विज्ञान स्वसंविदित होकर ही प्रकाशित होता है, जैसा कि 'नीलपीतादि०' इन दो कारिकाओं से कहा गया है। जिन का अर्थ इस प्रकार है-

"नील-पीतादि यज्ज्ञानाद् बहिर्वदवभासते ।
तद् न सत्यमतो नास्ति विज्ञानं तत्वतो बहिः ॥ १ ॥
तदपेक्षा च संवित्तेर्मता या कर्तृरूपता ।
साप्यतत्त्वमतः संविदद्वयेति विभाव्यते ॥ २ ॥ इति ॥ १९ ॥

[देखिये- अने० जय० भाग-२ पृ० ८२]

नील-पीतादि जो अर्थ ज्ञानभिन्न के समान अवभासित होता है वह सत्य नहीं है अत एव विज्ञान ही बाह्यरूप में प्रतीत होता है, अलबत्ता परमार्थतः वह बाह्य नहीं है। इस प्रकार जब नील-पीतादि ग्राह्य का अभाव है तो उसकी अपेक्षा से ही संवित्ति-विज्ञान में सम्भव होने वाली ग्रहणकर्तृता अतात्त्विक हो जाती है, इसलिये अद्वितीय संवित् ही पारमार्थिक वस्तु रूप में सिद्ध होती है।

अकर्मकज्ञान की मान्यता के सम्बन्ध में यह प्रश्न कि यदि विज्ञान अकर्मक है तो विज्ञान-बोधक क्रियापद का अकर्मक प्रयोग क्यों नहीं देखा जाता? उत्तर २०वीं कारिका में प्रदर्शित किया गया है--

नन्वकर्मको न कश्चित् प्रयोगो दृष्ट इत्यत आह—

मूलम्—यथास्ते शेत इत्यादौ विना कर्म स एव हि ।
तथोच्यते जगत्यस्मिंस्तथा ज्ञानमपीष्यताम् ॥ २० ॥

यथा 'आस्ते' 'शेते' इत्यादौ प्रयोगे विना कर्म स एव=आसनादिक्रियोपरक्तो देवदत्तः तथा=कर्मानुपरागेण उच्यते, न तु 'कटं करोति' इत्यादाविव कर्मोपरागेण, उपवेशनादिक्रियाणामकर्मकत्वात्; तथा अस्मिन्=जगति, ज्ञानमप्यकर्मकमिष्यताम्, क्रियात्वात्। न चैवं तद्वदेवाऽकर्मकप्रयोगप्रसङ्गः [1]अप्रयोगादेवाप्रयोगात्, शब्दानां विकल्पयोनित्वेन वासनासामर्थ्यात् कर्मोपसंदानेनैव 'जानाति' इत्यादिप्रयोगात् ॥ २० ॥

[ज्ञान क्रिया का अकर्मक प्रयोग क्यों नहीं होता ?]

जैसे 'आस्ते' 'शेते'-'बैठता है' 'सोता है' इत्यादि प्रयोग में कर्म न होने पर भी आसन-शयनादि क्रियाओं से युक्त देवदत्त की कर्मसम्बन्ध के बिना प्रतीति होती है, किन्तु 'कटं करोति' इत्यादि प्रयोगों में कर्म सम्बन्ध से कृतियुक्त क्रिया से युक्त देवदत्त आदि के समान नहीं होती क्योंकि आसन शयन आदि क्रिया अकर्मक होती है। उसी प्रकार जगत् में ज्ञान को भी अकर्मक माना जा सकता है

१. लोके तस्याकर्मकत्वेन प्रयोगाभावादेवाकर्मकत्वेनाप्रयुज्यमानत्वादिति हृदयम् ।

क्योंकि वह क्रिया है। आशय यह है कि यह नियम नहीं है कि जो क्रिया हो वह सकर्मक अवश्य हो। अत: आसनादि क्रियाओं के समान ज्ञान क्रिया को भी अकर्मक माना जा सकता है। इस पर यह शंका कि यदि वह आसनादि क्रिया के समान अकर्मक है तो जैसे कर्म के बिना आसनादि क्रियापदों का प्रयोग होता है वैसे उसका भी प्रयोग क्यों नहीं होता'-इसका उत्तर यह है कि यत: ज्ञानक्रिया के बोधक पदों का कर्म बोधक पद के बिना अनादि काल से ही प्रयोग नहीं होता आया है इसीलिये उसका अकर्मक क्रिया जैसा प्रयोग नहीं होता है, बल्कि शब्द विकल्पयोनि=विकल्पजन्य होते हैं इसलिये वासना के बल से कर्म बोधक पद के साथ ही 'जानाति' इत्यादि ज्ञानार्थक क्रियापदों का प्रयोग होता है ॥ २० ॥

२१ वीं कारिका में बौद्ध के उक्त अभिप्राय का उत्तर दिया गया है—

अत्रोत्तरम्—

मूलं—उच्यते सांप्रतमदः स्वयमेव विचिन्त्यताम् ।
प्रमाणाभावतस्तत्र यथैतदुपपद्यते ॥ २१ ॥

उच्यते सांप्रतम् अदः=एतत्, अभिनिवेशत्यागेन स्वयमेव विचिन्त्यताम्=आलोच्यताम्, प्रमाणाभावतः तत्र=अविशिष्टप्रकाशमात्रे विज्ञाने, यथैतत्=एवं तत्त्वव्यवस्थापनमुपपद्यते ।२१।

[ज्ञान अकर्मक होने की बात में प्रमाणाभाव-उत्तरपक्ष]

ग्रन्थकार का कहना है कि विज्ञानवादी बौद्ध को आग्रह त्याग कर प्रशान्तचित्त से यह सोचना चाहिये कि प्रमाण के अभाव में ग्राह्य-ग्राहक आकार से मुक्त केवल प्रकाशात्मक विज्ञान की तात्त्विकता का अवधारण क्या उपपन्न हो सकता है ? ॥ २१ ॥

२२ वीं कारिका में विज्ञानवादी को सम्मत विज्ञानस्वरूप की अनुपपद्यमानता स्पष्ट की गई है—

कथं नोपपद्यते ? इत्याह—

मूलं—एवं न यत्तदात्मानमपि हन्त ! प्रकाशयेत् ।
अतस्तदित्थं नो युक्तमन्यथा न व्यवस्थितिः ॥२२॥

एवं=गगनतलवर्त्यालोककल्पतायां प्रकाशैकमात्रस्वभावत्वात् निर्विषयं तदात्मानमपि=तत्स्वरूपमपि न प्रकाशयेत् । अत इत्थं तत्=प्रकाशमात्रं न युक्तम्, अबुध्यमानस्य बोधरूपत्वायोगात्, अन्यथा=प्रकाशैकमात्रत्वे तस्य न व्यवस्थितिरकर्मकस्वरूपस्य ॥ २२ ॥

विज्ञान यदि आकाशतल में विद्यमान आलोक के समान ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व उभय से मुक्त होगा तो केवल प्रकाशात्मक स्वभाव होने से सर्वथा निर्विषयक होगा फलत: वह अपने स्वरूपमात्र का भी प्रकाशक न हो सकेगा। अत: उसे प्रकाश मात्र बताना अयुक्त है क्योंकि जब वह अबोद्धा-किसी का बोधक नहीं है तो वह बोधरूप नहीं हो सकता। यदि वह एक मात्र प्रकाशस्वरूप होगा तो उस के अकर्मकस्वरूप-कर्महीनस्वरूप की उपपत्ति न हो सकेगी। २२ ॥

२३ वीं कारिका में प्रकाश के अकर्मकस्वरूप की अनुपपत्ति का समर्थन किया गया है—

एतदेव समर्थयति—

मूलं—व्यवस्थितौ[1] च तत्त्वस्य तथाभावप्रकाशकम् ।
ध्रुवं यतस्ततोऽकर्मकत्वमस्य कथं भवेत् ? ॥ २३ ॥

व्यवस्थितौ तत्त्वस्य=तत्तथाभावस्य, ध्रुवं=निश्चितम्, तद्=विज्ञानम्, तथाभावप्रकाशकं=व्यवस्थाप्यज्ञानस्याकर्मकप्रकाशमात्रत्वद्योतकम् यतः=यस्मात्; ततोऽस्य=ज्ञानस्य, अकर्मकत्वं कथं भवेत् ? सविषयकत्वस्यैव सकर्मकत्वात् ? । न हि शाब्दं सकर्मकत्वमत्र विचार्यत इति ॥ २३ ॥

[सविषयकत्वरूप सकर्मकत्व ज्ञान में अपरिहार्य]

यदि विज्ञान का अकर्मकत्वस्वरूप व्यवस्थित होगा तो निश्चय वह विज्ञान ही अपने अकर्मक प्रकाशमात्ररूपता का ग्राहक होगा । इसप्रकार अकर्मक प्रकाशमात्ररूपता और ज्ञान स्वयं उस विज्ञान का विषय हो जाता है ऐसी स्थिति में वह अकर्मक कैसे हो सकता है क्योंकि ज्ञान का सकर्मकत्व सविषयकत्वरूप ही होता है ।

यदि यह कहा जाय कि सकर्मक वही क्रिया होती है जो फलविशिष्टव्यापारवाचकशब्द से गम्य होती है-जैसे गतिक्रिया संयोगरूपफल से विशिष्ट स्पन्दरूप व्यापारवाचक गम् धातु से बोधित होती है । किन्तु 'ज्ञानक्रिया तो फल से अविशिष्ट शुद्ध ज्ञान के बोधक शब्द से बोधित होती है अत: वह सकर्मक नहीं हो सकती'-तो इसका उत्तर यह है कि यह सकर्मकत्व शाब्द सकर्मकत्व है उसका विचार प्रकृत में नहीं है क्योंकि यदि शाब्दसकर्मकत्व की दृष्टि से उसे अकर्मक कहना हो तो उसमें किसी की विमति नहीं हो सकती । विमति केवल उसके सविषयकत्वरूप सकर्मकत्व के सद्भाव और अभाव के सम्बन्ध में है । उपर्युक्त युक्ति से उसमें सविषयकत्व की सिद्धि अपरिहार्य हो जाती है । अत एव उसके अकर्मकत्व स्वरूप की व्यवस्था नहीं हो सकती ।। २३ ।।

२८ वीं कारिका में पुनः बौद्ध के अभिप्राय को शङ्कारूप में प्रस्तुत कर उसका परिहार किया गया है–

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

मूलं—व्यवस्थापकमस्यैवं भ्रान्तं चैतत्तु भावतः ।
तथेत्यभ्रान्तमत्रापि ननु मानं न विद्यते ॥२४॥

अस्य=व्यवस्थाप्यस्य एवं व्यवस्थापकम्=प्रकाशमात्रत्वद्योतकं ज्ञानान्तरमस्ति, एतत्तु भावतः=परमार्थतः, तथेति=सविषयकमिति भ्रान्तम् । व्यवस्थाप्यं तु स्वतः स्फुरद्रूपत्वाद् ग्राह्यग्राहकभावविनिर्मुक्तत्वात् प्रमाणम्, स्वाविषयकत्वेऽपि परानपेक्षस्फूर्तिकत्वेन स्वसंविदित-

१ सर्वत्र मूलादर्शे 'तौ च त' इति पाठेऽपि, टीकाकाराभिप्रायेण 'तौ तत् त' इति युज्यते, 'तद्-विज्ञानम्' इत्यस्य टीकापाठस्यान्यथानुपपद्यमानत्वात् ।

स्याऽव्याहतेः । 'ज्ञानाकारं वा तद् नीलाद्याकारं वे'ति चेत् ? नीलादिस्वलक्षणाकारमेव, न तु सामान्याकारमिति । नन्वेवमत्रापि=अकर्मकप्रकाशमात्रत्वेऽपि अभ्रान्तं मानं न विद्यते, सविषयकत्वेनास्यापि भ्रान्तत्वादित्यर्थः ॥२४॥

[अकर्मक प्रकाशमात्रता के बौद्ध समर्थन का प्रतिक्षेप]

प्रकाशमात्रात्मकरूप में जिस विज्ञान को व्यवस्थित करना है उसकी प्रकाशमात्रता का ग्राहक वह स्वयं नहीं है किन्तु ज्ञानान्तर है अतः व्यवस्थाप्य विज्ञान को सविषयक समझना भ्रम है । क्योंकि वह परमार्थतः निर्विषयक है और वह स्वतः स्फुरणशील है-ग्राह्य-ग्राहकभाव से सर्वथा मुक्त है । अत एव कल्पना से असंसृष्ट होने के कारण प्रमाण है । एवं स्वविषयक न होने पर भी अपनी स्फुतिस्वरूप भान में अन्यनिरपेक्ष होने के कारण स्वसंविदित है । प्रकाशमात्रात्मक विज्ञान के सम्बन्ध में यदि यह प्रश्न किया जाय कि वह सामान्यरूप से ज्ञानाकार है अथवा नीलाद्याकार है ? यदि ज्ञानाकार होगा तो नीलादि व्यवहार को उपपत्ति न होगी । क्योंकि व्यवहार और व्यवहार निर्वर्तक ज्ञान में समानाकारत्व का नियम है । यदि नीलाद्याकार होगा तो नीलादि का ग्राहक हो जायगा । अतः उसको ग्राह्य-ग्राहक आकारमुक्त प्रकाशस्वरूपता नहीं उपपन्न हो सकती है । विज्ञानवादी की ओर से इस प्रश्न का उत्तर यह है कि-'वह सामान्यतः ज्ञानाकार नहीं है किन्तु नीलाद्याकार ही है और नीलादि आकार विज्ञान का स्वलक्षणस्वरूप ही है-उससे भिन्न नहीं है अतः उसके द्वारा उसमें ग्राहकता की प्रसक्ति नहीं हो सकती ।' ग्रन्थकार ने इस अभिप्राय का प्रतिकार कारिका के चौथे पाद में करते हुये कहा है कि ज्ञान की अकर्मक प्रकाशमात्रता में भी कोई अभ्रान्त प्रमाण नहीं है, क्योंकि जिस ज्ञान से विज्ञान में अकर्मक प्रकाशमात्रत्व का अवधारण होगा वह भी सविषयक होने से भ्रमरूप ही है ॥२४॥

ज्ञान को अकर्मक प्रकाशमात्रता में अभ्रान्त प्रमाण न होने से विज्ञानवादी को सम्भावित हानि का प्रदर्शन २५ वीं कारिका में किया गया है-

यदि नामैवं ततः किम् ? इत्याह—

मूलं—भ्रान्ताद्याऽभ्रान्तिरूपा न युक्तियुक्ता व्यवस्थितिः ।
'दृष्टा तैमिरिकादीनामक्षादावि'ति चेन्न तत् ॥२५॥

भ्रान्ताद्=व्यवस्थापकात् अभ्रान्तरूपा व्यवस्थितिरधिकृता न **युक्तियुक्ता**=न न्यायोपपन्ना । पर आह-ननु नायं नियमो यत् 'भ्रान्तादभ्रान्तव्यवस्थितिर्न' इति, यतस्तै**मिरिकादीनां**=तिमिरादिदोषवताम्, तज्जनितद्विचन्द्रादिज्ञानाद् भ्रान्तादपि **अक्षादौ**=तिमिराद्यक्षदोषादौ अभ्रान्तव्यवस्थितिर्दृष्टेति चेत् ? अत्रोत्तरम्-**न तत्**=नैतदेवम् ॥२५॥

व्यवस्थापक के भ्रान्त होने पर व्यवस्थिति की अभ्रान्तता युक्तिसंगत नहीं हो सकती । यदि इसके विरुद्ध विज्ञानवादी की ओर से कहा जाय कि-'भ्रान्तव्यवस्थापक से अभ्रान्त व्यवस्था नहीं होती है'-यह नियम नहीं है क्योंकि तिमिररोगग्रस्त चक्षुवाले मनुष्यों को उस दोष से जो चन्द्रद्वय का

ज्ञान होता है वह भ्रान्त है फिर भी उससे तिमिरादिरूप नेत्र दोष की अभ्रान्त व्यवस्था देखी जाती है अतः भ्रान्त ज्ञान से भी विज्ञान में प्रकाशमात्रता की अभ्रान्त व्यवस्था हो सकती है'-तो यह कथन भी ग्रन्थकार की दृष्टि से समीचीन नहीं है ॥२५॥

२६ वीं कारिका में ग्रन्थकार के उक्त कथन का उपपादन है-

कथम् ? इत्याह—

मूलं—**नाक्षादिदोषविज्ञानं तदन्यभ्रान्तिवद्यतः ।**
भ्रान्तं तस्य तथाभावे भ्रान्तस्याऽभ्रान्तता भवेत् ॥२६॥

यतः=यस्मात् **तदन्यभ्रान्तिवत्**=द्विचन्द्रादिभ्रमवत्, **अक्षादिदोषविज्ञानं**=तिमिरादिदोषविज्ञानम् **न भ्रान्तं**=किन्त्वभ्रान्तमेव, कार्यलिङ्गकानुमानादिप्रभवत्वात् । विपक्षे बाधकमाह—**तस्य**=अक्षादिदोषविज्ञानस्य, **तथाभावे**=भ्रान्तत्वे, भावतोऽक्षादीनां दोषाऽनुपप्लुतत्वात्, **भ्रान्तस्य**=द्विचन्द्रादिज्ञानस्य अभ्रान्तता भवेत्, निर्दोषहेतुजन्यत्वादिति भावः ॥२६॥

अक्ष आदि में जो दोष का ज्ञान होता है वह चन्द्रद्वयादि के अन्य भ्रमों के समान भ्रमरूप नहीं है-किन्तु अभ्रान्त है क्योंकि वह चन्द्रद्वयज्ञानरूप कार्यलिंगक समीचीन अनुमान से उत्पन्न है। यदि नेत्रगत दोषज्ञान को भी भ्रम माना जायगा तो नेत्र वस्तुतः निर्दोष हो जायगा क्योंकि भ्रम का विषय असत् होता है । अतः चन्द्रद्वय का ज्ञान जो भ्रम माना जाता है वह निर्दोष हेतुजन्य होने से अभ्रान्त हो जायगा ॥२६॥

२७ वीं कारिका में उक्त विज्ञानवादी के मत में एक और दोष का प्रतिपादन किया गया है—

दोषान्तरमाह—

मूलम्—**न च प्रकाशमात्रं तु लोके क्वचिदकर्मकम् ।**
दोपादौ युज्यते न्यायादतश्चैतदपार्थकम् ॥ २७ ॥

न च प्रकाशमात्रं तु=सर्वथैकस्वभावमेव लोके **क्वचित्**=अनवलम्बनदीपादौ न्यायाद् रूपं युज्यते, प्रकाशकत्वेनोपलब्धेः । अतश्चैतत्-विज्ञानाऽकर्मत्वकल्पनम् **अपार्थकम्**=निष्प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

लोक में कोई भी प्रकाश सर्वथा प्रकाशमात्रैकस्वभाव नहीं देखा गया है । जैसे प्रदीप-एक लोकप्रसिद्ध प्रकाश है किन्तु वह भी अवलम्बन-प्रकाश्य-विषय से मुक्त होकर शुद्ध प्रकाश के रूप में नहीं सिद्ध होता है किन्तु किसी वस्तु के प्रकाशकत्व रूप से ही उसकी सिद्धि होती है । तो इसप्रकार जब प्रकाश प्रकाशकत्व के रूप से सिद्ध होता है तो विज्ञानात्मकप्रकाश में अकर्मकत्व की कल्पना निष्प्रयोजन है ॥२७॥

२८वीं कारिका में आसन-शयनादि अकर्मक क्रियाओं के समान अकर्मक ज्ञान को सिद्ध करने के पूर्वकृत प्रयास का निराकरण किया गया है—

'यथास्ते' [का. २०] इत्यादावाह—

मूलम्—दृष्टान्तमात्रतः सिद्धिस्तदत्यन्तविधर्मिणः ।
न च साध्यस्य यत्तेन शब्दमात्रमसावपि ॥२८॥

दृष्टान्तमात्रात् परपरिभाषितात् 'आस्ते' 'शेते' इत्यादेस्तत्र तत्क्रियाकर्तुः अत्यन्तविधर्मिणः=नानाधर्मानुविद्धात्, न च साध्यस्य=बोधमात्रस्य सिद्धिः, यत् तेनासावपि=उक्तदृष्टान्तोऽपि शब्दमात्रं-न तु लक्षणयुक्त इति यत्किञ्चिदेतत् ॥ २८ ॥

विज्ञानवादी की ओर से दृष्टान्त शब्द से अभिहित आसनशयन आदि क्रिया के कर्त्ता देवदत्त के सादृश्य से शुद्ध अकर्मक बोधमात्र की सिद्धि की जो बात कही गयी वह उचित नहीं है क्योंकि उक्त क्रियाओं का कर्त्ता अनेक धर्मों से अनुविद्ध होने के कारण निर्धर्मक बोधरूप साध्य से अत्यन्त विसदृश है । अतः उससे अभिमत बोध की सिद्धि विज्ञानवादी के लिये सम्भव नहीं है । जो विज्ञानवादी की ओर से आसनादि क्रिया के कर्त्ता को दृष्टान्त कहा गया है वह भी शब्दमात्र ही है, दृष्टान्त के लक्षण से वह युक्त नहीं है । क्योंकि दृष्टान्त ऐसा होता है जिसमें हेतु-साध्य दोनों वादी-प्रतिवादी उभय सम्मत हो । प्रकृत में बोध में निर्धर्मकत्व साध्यभूत है जो दृष्टान्तरूप में कहे गये उक्त क्रिया के कर्त्ता में नहीं है । अतः विज्ञानवादी का उक्त कथन अकिञ्चित्कर है ।। २८ ।।

२९वीं कारिका में विज्ञानवाद में जो सब से प्रधान दोष कहा जाता है उसका प्रदर्शन किया गया है—

अत्रैव प्रधानदोषमाह—

मूलम्—किञ्च विज्ञानमात्रत्वे न संसाराऽपवर्गयोः ।
विशेषो विद्यते कश्चिचत्तथाचैतद् वृथोदितम् ॥२९॥

किञ्च, विज्ञानमात्रत्वे=ज्ञानाऽद्वयत्वे जगतोऽभ्युपगम्यमाने, संसाराऽपवर्गयोर्विशेषः कश्चिद् न विद्यते, ज्ञानमात्रस्योभयदशयोरविशेषात्, अधिकस्यापवर्गे प्राप्यस्याभावात्, भावे चाऽद्वैतव्याघातात् । तथा चैतद् वृथोदितं भवतामागमे- ।। २९ ।।

जगत को अद्वितीय ज्ञानरूप मानने पर संसार और मोक्ष में कोई भेद नहीं हो सकता है । क्योंकि दोनों ही दशा में केवल ज्ञान ही विद्यमान है और उस ज्ञान में दोनों दशा में कोई अन्तर नहीं है । फलतः अपवर्ग [=मुक्ति] में संसार की अपेक्षा कुछ अधिक प्राप्तव्य नहीं रह जाता । यदि ज्ञान से अतिरिक्त किसी प्राप्य का अभ्युपगम किया जायगा तो ज्ञानाद्वयवाद का व्याघात होगा । निष्कर्ष यह है कि एकमात्र ज्ञान की ही सत्ता मानने पर बौद्ध आगम में मोक्ष के विषय में जो कुछ कहा गया है वह असंगत हो जायगा ।। २९ ।।

३० वीं कारिका में मोक्ष के विषय में बौद्धागम में क्या कहा गया है-इस बात का प्रदर्शन किया गया है—

किम् ? इत्याह—

मूलम्—"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥ ३० ॥"

रागादिक्लेशवासितं चित्तमेव हि संसारः, तैर्विनिर्मुक्तं च तदेव=चित्तमेव 'भवान्तः' इति कथ्यते='मोक्ष' इत्युपदिश्यत इति ॥ ३० ॥

[मन ही संसार है–मन ही मोक्ष है]

बौद्ध आगम में ऐसा कहा जाता है कि रागादि क्लेशों से वासित चित्त ही संसार है और उन क्लेशों से नितान्तनिर्मुक्त चित्त ही भवान्त-यानी संसार का उपरम अर्थात् मोक्ष है। मोक्ष के विषय में बौद्धागम का उक्त कथन किस प्रकार वृथा=असङ्गत होता है-इसका प्रतिपादन ३१ वीं कारिका में किया गया है—

कथमेतद् वृथा ? इत्याह–

मूलं—रागादिक्लेशवर्गो यन्न विज्ञानात्पृथग्मतः ।
एकान्तैकस्वभावे च तस्मिन्किं केन वासितम् ? ॥३१॥

यद्=यस्मात् रागादिक्लेशवर्गो विज्ञानात् पृथग्=भिन्नः न मतः, द्वैतापत्तेः। एकान्तैकस्वभावे च तस्मिन्=विज्ञाने, किं केन वासितम् ? वासकाभावात् ॥३१॥

विज्ञानवाद में रागादि क्लेशों का समूह विज्ञान से भिन्न नहीं माना गया है क्योंकि विज्ञान से भिन्न किसी भी वस्तु का अभ्युपगम करने पर द्वैत की यानी ज्ञानभिन्न अर्थ की सत्ता की आपत्ति होगी। यदि सब कुछ एकान्ततः एक विज्ञानस्वभाव ही है तो फिर वासक के अभाव में क्या एवं किस से वासित होगा ? ॥३१॥

३२ वीं कारिका में विज्ञानवाद की ओर से चित्त के वासक को बता कर उसका निराकरण किया गया है–

पर आह–

मूलं—क्लिष्टं विज्ञानमेवासौ, क्लिष्टता तत्र यद्वशात् ।
नील्यादिवदसौ वस्तु तद्वदेव प्रसज्यते ॥३२॥

असौ=रागादिक्लेशवर्गः क्लिष्टं विज्ञानमेव, न तु ततो भिन्नः। एवं चाऽक्लिष्टत्वं क्लिष्टभिन्नत्वं, न तु पृथग्भूतक्लेशादिराहित्यमिति न दोषः, अक्लिष्टस्य प्राप्यस्य सत्त्वाच्च नापवर्गप्रवृत्त्यनुपपत्तिरित्याशयः। अत्राह–तत्र=संसारिचित्ते यद्वशात् क्लिष्टता नील्यादिवत्=नीलीद्रव्याद्युपरागात् पटादिक्लिष्टतावत्, असौ=चित्तक्लिष्टतापादकः, तद्वदेव=ज्ञानवदेव वस्तु प्रसज्यते=पृथग् वस्त्वापद्यते, क्लिष्टताया उभयजनितत्वादिति भावः ॥३२॥ तथा,

[क्लिष्टता के हेतु ज्ञान से अभिन्न नहीं है]

'रागादि क्लेशों का धर्म क्लिष्ट विज्ञानस्वरूप ही है उससे भिन्न नहीं है। अक्लिष्टविज्ञान जो मुमुक्षु को अभीष्ट है उसकी अक्लिष्टता क्लिष्टभिन्नतारूप है न कि विज्ञान से पृथक् क्लेशादि का अभावरूप है। अतः उक्त दोष नहीं हो सकता, क्योंकि अक्लिष्टविज्ञान एक ऐसी प्राप्य वस्तु है जो संसारदशा में नहीं है–अतः अपवर्ग के लिये प्रवृत्ति की अनुपपत्ति नहीं हो सकती।' इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने यह कहा है कि संसारी चित्त में जिस कारण से क्लिष्टता होती है उस कारण को ज्ञान के समान ही पृथक् वस्तु मानना होगा। यह ठीक उसी प्रकार जैसे पटादि में नीलाद्यात्मक क्लिष्टता का जनक=उपरञ्जक नीलीद्रव्य की पटादि से पृथक् सत्ता होती है, क्योंकि क्लिष्टता क्लेश के आश्रय और आश्रय से भिन्न कारण उभय से जन्य होती है ॥३२॥

३३वीं कारिका में इसी विषय को स्पष्ट किया गया है—

मूलम्—मुक्तौ च तस्य भेदेन भावः स्यात्पटशुद्धिवत् ।
ततो बाह्यार्थतासिद्धिरनिष्टा संप्रसज्यते ॥ ३३ ॥

मुक्तौ च तस्य=क्लिष्टतापादकस्य, भेदेन=पृथग्भावेन भावः स्यात्=स्वरूपाविर्भावलक्षणा शुद्धिः स्यात्। किंवत् ? इत्याह–पटशुद्धिवत्=यथा पटादेर्नील्यादिद्रव्यसंसर्गापगमे प्राक्तनस्वरूपाविर्भावस्तद्वदित्यर्थः। यत एवम् ततो बाह्यार्थतासिद्धिः अनिष्टा=भवदनभिमता संप्रसज्यते। तेनाऽक्लिष्टत्वं क्लेशराहित्यं क्लिष्टभिन्नत्वं वोच्यताम्, नोभयथापि विशेषः, प्रतियोगिनस्तदवच्छेदकस्य वा पृथग्भावावश्यकत्वेऽद्वैतासाम्राज्यात्। 'बाह्यार्थता' इत्यत्र तलः 'तत्स्वभावत्वम्' इत्यादाविव प्रकृत्यर्थमात्रे निरूढलक्षणायामपि तस्याः प्रयोगविशेषनियन्त्रितत्वादत्रासंभवप्रसरत्वेऽपि 'सत्पदप्ररूपणता' इत्यादाविवार्षत्वाद् न दोषः। वस्तुतो यथाश्रुतार्थेऽपि नानुपपत्तिः, बाह्यत्वसमानाधिकरणार्थतापादनेऽर्थतायाः बाह्यत्वसामानाधिकरण्यमात्रस्य फलत आपादनादिति ध्येयम् ॥ ३३ ॥

[क्लिष्टता हेतु के अपगम से शुद्धि का आविर्भाव]

मोक्ष में यह मानना होगा कि जैसे उक्त रीति से संसारीचित्त में चित्त से अतिरिक्त क्लिष्टता के जनक वस्तु का मानना आवश्यक प्रतीत होता है उसी प्रकार मोक्ष में क्लिष्टता के जनक का चित्त से पृथक् भाव मानना भी आवश्यक होगा जिस से शुद्धस्वरूप के आविर्भाव रूप चित्तशुद्धि सम्भव हो। यह उसी प्रकार मानना होगा जैसे पट से नीली आदि द्रव्य के सम्बन्ध की निवृत्ति होने पर पट के पूर्ववर्त्ति शुद्धस्वरूप का आविर्भाव होता है और इस प्रकार जब संसारदशा में चित्त में क्लिष्टता के अतिरिक्त कारण का सम्बन्ध और मोक्ष दशा में चित्त से उसकी निवृत्ति मानना आवश्यक है तो बाह्यार्थ की सिद्धि जो विज्ञानवादी को अनिष्ट है उसकी प्रसक्ति अनिवार्य होगी। विज्ञानवादी की ओर से अक्लिष्टता का क्लेशराहित्य अर्थ त्याग कर क्लिष्टभिन्नता अर्थ स्वीकार करना भी निरर्थक ही है क्योंकि अक्लिष्टता चाहे क्लेशराहित्यरूप हो चाहे क्लिष्टभिन्नतारूप हो-दोनों ही स्थितियों में कोई अन्तर नहीं होता। क्योंकि यदि अक्लिष्टता क्लेशराहित्यरूप

होगी तो क्लेश उसका प्रतियोगी होगा। यदि क्लिष्टभिन्नता रूप होगी तो क्लेश उसका प्रतियोगितावच्छेदक होगा। दोनों ही दशा में विज्ञान से उसका पृथग्भाव आवश्यक होने से ज्ञानाद्वैत के साम्राज्य का उच्छेद हो जायगा।

['बाह्यार्थता' शब्द के औचित्य की उपपत्ति]

व्याख्याकार ने कारिका में आये 'बाह्यार्थता' शब्द के सम्बन्ध में एक विचार करते हुये यह कहा है कि उक्त शब्द में 'तल्' प्रत्यय की, प्रकृतिभूत 'बाह्यार्थ' शब्द के अर्थमात्र में उसी प्रकार निरूढलक्षणा है जैसे तत्त्वभावत्व शब्द में 'त्व' प्रत्यय की 'तत्त्वभाव' रूप प्रकृत्यर्थ में निरूढलक्षणा होती है। यद्यपि निरूढलक्षणा मानने पर यह बाधा हो सकती है कि 'निरूढलक्षणा तो विशेष प्रयोगों में नियन्त्रित होती है। 'बाह्यार्थता' शब्द ऐसा कोई प्रयोगविशेष नहीं है, अतः उस में निरूढलक्षणा का प्रसार सम्भव नहीं है' किन्तु इस का उत्तर यह है कि प्रयोगविशेष में निरूढलक्षणा के नियन्त्रण का नियम लौकिक प्रयोगों तक ही सीमित है-'बाह्यार्थता' शब्द 'सत्पदप्ररूपणता' के समान आर्ष है अत एव जैसे वहाँ 'तल्' प्रत्यय प्रकृत्यर्थ मात्र में निरूढलाक्षणिक है उसी प्रकार बाह्यार्थता शब्द भी आर्ष होने से उसमें भी 'तल्' प्रत्यय को निरूढलाक्षणिक मानने में दोष नहीं हो सकता। सच बात तो यह है कि निरूढलक्षणा न मानकर यदि 'बाह्यार्थता' शब्द का यथाश्रुत अर्थ ही लिया जाय तो भी कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसका यथाश्रुत अर्थ है 'बाह्यत्वसमानाधिकरण-अर्थता'। यदि बाह्यत्वसमानाधिकरण अर्थता का आपादान किया जाता है तो उसका भी फलतः पर्यवसान अर्थता में बाह्यत्वसामानाधिकरण्य के आपादन में ही होता है क्योंकि जहाँ विशिष्ट आपाद्य होता है वहाँ विशेष्य उभय सम्मत होने पर विशेषण ही आपाद्य होता है ॥ ३३ ॥

३४वीं कारिका में चित्त की क्लिष्टता को पटादि क्लिष्टता से विलक्षण बताते हुए उससे उसके कारणभूत बाह्यार्थ की सिद्धि की असम्भाव्यता की शंका उठा कर उसका निराकरण किया गया है—

ननु पटादेः क्लिष्टतावद् न चित्तक्लिष्टता येन तज्जनकबाह्यार्थसिद्धिः स्यात्, किन्त्वन्यथा, इत्याशङ्कते—

मूलम्—प्रकृत्यैव तथाभूतं तदेव क्लिष्टनेति चेत् ?
तदन्यूनातिरिक्तत्वे केन मुक्तिर्विचिन्त्यताम् ॥ ३४ ॥

प्रकृत्यैव=स्वभावेनैव, तथाभूतं=क्लिष्टं चित्तं, तदेव क्लिष्टता नातिरिक्तेति न दोषः। अत्रोत्तरम्-तदन्यूनातिरिक्तत्वे=बोधाद् न्यूनस्याधिकस्य वाऽभावे चित्तमात्राश्चित्तभावे सति केन मुक्तिः ? क्लिष्टस्य चित्तस्य स्वभावतस्तथाभूतस्य प्रवाहविच्छेदायोगादिति भावः ॥३४॥

[चित्त की क्लिष्टता सहज होने पर मुक्ति का अयोग]

विज्ञानवादी का यह कहना है कि-विज्ञान की क्लिष्टता प्राकृतिक=सहज है। अर्थात् चित्त की क्लिष्टता क्लिष्टचित्त से भिन्न नहीं है अत एव चित्त के समान उसकी क्लिष्टता भी सहज ही है। अतः उससे उसके कारण का अनुमान नहीं किया जा सकता। अत एव उसके कारण रूप

में बाह्यार्थ सिद्धि की आपत्ति रूप दोष नहीं हो सकता।'-ग्रन्थकार ने इसका उत्तर देते हुये कहा है कि यदि क्लिष्टचित्त को चित्त से अन्यूनअनतिरिक्त माना जायगा तो क्लिष्टचित्त भी चित्त के समान सतत अविच्छिन्न प्रवाहशाली होगा। अत एव क्लिष्टचित के प्रवाह का विच्छेद सम्भव न होने से मुक्ति का विचार किस प्रकार हो सकता है ? ॥३४॥

३५ वीं कारिका में मुक्ति के उपर्युक्त आक्षेप के ऊपर इस प्रकार की शंका प्रदर्शित की गई है कि कोई द्रव्य जैसे स्वभावत: क्लिष्ट-मलीन होता है यथा नीलीद्रव्य और कोई स्वभावत: निर्मल होता है जैसे प्रदीप, उसी प्रकार कोई चित्त स्वभावत: क्लिष्ट होता है और कोई चित्त स्वभावत: अक्लिष्ट होता है, अक्लिष्ट चित्त ही मोक्ष है-

ननु स्वभावादपि किञ्चिदेव नील्यादिवत् क्लिष्टं, किञ्चिदेव च प्रदीपादिवदक्लिष्टं चित्तं भविष्यतीत्याशङ्कते—

मूलं—असत्यपि च या बाह्ये ग्राह्ये ग्राहकलक्षणे ।
द्विचन्द्रभ्रान्तिवद् भ्रान्तिरियं नः क्लिष्टतेति चेत् ? ॥३५॥

असत्यपि बाह्ये ग्राह्ये ग्राहकलक्षणे च परस्परापेक्षप्रकल्पिता ग्राह्य-ग्राहक-भावावगाहिनी 'नीलमहं वेद्मि' इत्याद्याकारा या द्विचन्द्रभ्रान्तिवद् भ्रान्तिः, इयं=अनुभवसिद्धा नः=अस्माकं क्लिष्टता। अत्रोत्तरम्-इति चेत्-यद्येवमुपगम्यते। ३५ ॥

ग्राह्य और ग्राहक इन दोनों की परस्पर अपेक्षा से ही सम्भव होता है। किन्तु विज्ञानवादी के मत में ज्ञानभिन्नग्राह्य और उसका ग्राहक दोनों के असत् होने पर भी ग्राह्य-ग्राहकभाव के रूप में विज्ञान की चन्द्रद्वय की भ्रान्ति के समान 'नीलमहं वेद्मि' इस प्रकार भ्रान्तिरूप अनुभूति होती है। विज्ञान का ग्राह्यग्राहकभाव रूप में यह अनुभव ही उसकी क्लिष्टता है और यह क्लिष्टता सम्पूर्ण चित्रात्मक विज्ञानों में न होकर कतिपय चित्रात्मक विज्ञानों में ही होती है। अतः उक्तरूप में अनुभूयमान विज्ञानरूप क्लिष्टचित्त ही बद्धचित्त है और उक्त रूप से अननुभूयमान विज्ञान अक्लिष्टचित्तरूप है। वही मोक्ष है।

विज्ञानवादी की इस शङ्का के उत्तर का संकेत कारिका के 'इति चेत्' शब्द से किया गया है—

३६ वीं कारिका में पूर्व कारिका में किये गये संकेत अनुसार उत्तर का प्रतिपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

मूलं—अस्त्वेतत्किन्तु तद्धेतुभिन्नहेत्वन्तरोद्भवा ।
इयं स्यात्तिमिराभावे न हीन्दुद्वयदर्शनम् ॥ ३६ ॥

अस्त्वेतदापाततः, किन्त्वियं=क्लिष्टता तद्धेतुभिन्नहेत्वन्तरोद्भवा=अक्लिष्टचित्तहेत्वतिरिक्तहेत्वपेक्षा स्यात्। हि=यतः, तिमिराभाव इन्दुद्वयदर्शनम् न दृष्टम्, शङ्खपीतिमादिदर्शनहेतु-कामलाद्युपलक्षणमेतत्। इत्थं च यथा तिमिरादि एकचन्द्रादिबोधहेतुभ्योऽधिकम्, तथा सत्य-बोधहेतोर्बोधमात्रादधिकेन क्लिष्टबोधहेतुना भवितव्यमित्यैदंपर्यम् ॥३६॥

[चित्त क्लिष्टता अकारण नहीं हो सकती]

विज्ञानवादी का उक्त कथन आपाततः ठीक मान लेने पर भी यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि-चित्त की क्लिष्टता यानी ग्राह्य-ग्राहकभाव के अभाव में भी तद्रूप से विज्ञान की भ्रमात्मक अनुभूति को अक्लिष्टचित्त =चित्तसामान्यशब्दोल्लेखी चित्तानुभव के हेतु से अतिरिक्त हेतु से अवश्य उत्पन्न होने वाली है क्योंकि तिमिर के अभाव में इन्दुद्वय का दर्शन एवं कामलादि के अभाव में शंख के पीलेपन आदि का दर्शन नहीं देखा जाता। अतः यह नियम सिद्ध होता है कि किसी अर्थ के सामान्यशब्दोल्लेखी अनुभव से अतिरिक्त जो उस अर्थ का अनुभव होता है वह सामान्यशब्दोल्लेखी अनुभव के कारण से अतिरिक्त कारण से उत्पन्न होता है। अतः जैसे 'एकः चन्द्रः' इस सामान्य शब्द से उल्लिख्यमान एकचन्द्र दर्शन से भिन्न 'द्वौ चन्द्रौ' इन शब्दों से उल्लिख्यमान चन्द्रद्वयदर्शन, सामान्य-चन्द्रशब्द से उल्लिख्यमान चन्द्रदर्शन के कारणभूत नेत्रादि से भिन्न तिमिरदोषरूप कारण से अन्य होता है, उसी प्रकार क्लिष्टबोध का भी, अक्लिष्टबोध चित्तसामान्य के कारणभूत चित्तमात्र से अतिरिक्त कारण मानना आवश्यक है। अतः चित्त की क्लिष्टता को स्वाभाविक-अकारणक बताना अयुक्त है ॥ ३६ ॥

उपर्युक्त के प्रतिकार में विज्ञानवादी की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'जैसे चन्द्रद्वय के ज्ञान में उपप्लववासना यानी-अपने उत्पाद्य बोध के समीपवर्त्तिकाल में ही विलीन होने वाली वासना कारण होती है उसी प्रकार विज्ञान में सकर्मकत्व की भ्रान्ति में अनादि वासना कारण होती है'-तो वह कथन उस वासना के सत्त्व पक्ष में द्वैतापत्ति से अयुक्त होने पर भी उसके असत्त्व पक्ष में भी इस कथन की अयुक्तता है, यह २७ वीं कारिका में बतायी जा रही है—

ननु द्विचन्द्रादिज्ञान उपप्लववासनावत् सकर्मकत्वभ्रान्तावप्यनादिवासना हेतुभूतोक्तैवेति चेत् ? सा किं सती, असती वा ? । आद्ये द्वैतापत्तिः । अन्त्ये त्वाह—

मूलम्—न चासदेव तद्धेतुर्बोधमात्रं न चापि तत् ।
सदैव क्लिष्टतापत्तेरिति मुक्तिर्न युज्यते ॥ २७ ॥

न चासदेव=तुच्छमेव तद्धेतुः, शशविषाणादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् । अथ सदिवासदपि किञ्चिदेव कस्यचिज्जनकम्, एवं चानाद्यविद्याख्यवासनैव क्लिष्टचित्तजननी, निवर्तते च साऽद्वयतत्त्वज्ञानात्, असतो ज्ञाननिवर्त्यत्वनियमात्, असत्यरजताकारे शुक्तितत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्व-दर्शनात् । अत एव प्रकाशमात्रमपि संसारदशायामविद्याशक्तिप्राबल्यादन्यथा प्रकाशते । तदाह धर्मोत्तरः—"तस्मादविद्याशक्तियुक्तं ज्ञानमसत्यरूपमादर्शयति, इत्यविद्यावशात् प्रकाशत इत्युच्यते" इत्यनवद्यमिति चेत् ? न, अविद्याया इव तन्निवृत्तेरप्यसत्त्वे तन्निवृत्त्या मुक्तस्य पुनः संसारितापत्तेः, सत्त्वे च द्वैतापत्तेः, ज्ञानरूपत्वे च ज्ञानमात्रस्य सर्वदा सत्त्वेन सदा मुक्त्यापत्तेः ।

'अस्तु तर्हि प्राच्यः क्लिष्टचित्तक्षण एवोत्तरक्लिष्टचित्तहेतुरि'त्यत्राह-न चापि बोधमात्रं

तदिति तद्धेतुः, सदैव क्लिष्टतापत्तेः, मुक्तिप्राच्यक्षणस्यापि क्लिष्टत्वेनोत्तरक्लिष्टक्षणजननस्वभावत्वात्, इति हेतोः, मुक्तिर्न युज्यते भवताम्। अथ संसारोपान्त्यक्षणेनोत्तरक्लिष्टचित्तक्षणजननाऽसमर्थस्यैवान्त्यक्षणस्य जननाद् न दोष इति चेत्? । कुत एतत्? । स्वभावादिति चेत्? न, मुक्तेः स्वभावत उपपत्तौ तदर्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। भ्रमात् प्रवृत्तौ च तदर्थशास्त्रप्रणयनानुपपत्तेः। तस्मात् काल्पनिकीयं मुक्तिः, न तु परमानन्दादिमयीति न किञ्चिदेतत् ॥३७॥

यदि विज्ञान में सकर्मकत्वभ्रान्तिरूप क्लिष्टता के कारणभूत वासना को असत् माना जायगा अर्थात् यदि असत् भी वासना क्लिष्टता का कारण है तो असत् वासना के समान शशविषाणादि में भी कारणत्व की आपत्ति होगी।

[प्रत्येक असत् कार्यजनक नहीं होता—बौद्ध]

यदि इसके उत्तर में विज्ञानवादी की ओर से यह कहा जाय कि-"जैसे सत्कारणपक्ष में भी सभी सत् कार्य का जनक नहीं होता किन्तु कोई सत् किसी कार्य का ही जनक होता है, जैसे न्यायमत में अणुपरिमाणादि, अद्वैतवेदान्त में तुरीय ब्रह्म, सांख्य मत में पुरुष सत् होते हुये भी कार्य का जनक नहीं होता तथा जो सत् जनक भी होता है वह भी सब कार्यों का जनक नहीं होता। उसी प्रकार असत् कारणपक्ष में भी यह बात कही जा सकती है कि सब असद्वस्तु कार्य की जनक नहीं होती है-जैसे शशविषाणादि, एवं जो असत् जनक होता है वह भी सब कार्यों का जनक नहीं होता किन्तु कार्यविशेष का ही जनक होता है। इसलिये यह कथन सर्वथा न्यायतः उपपन्न है कि अविद्या शब्द से व्यपदिष्ट होने वाली अनादि वासना ही क्लिष्टचित्त को उत्पन्न करने वाला अतिरिक्त कारण है और उसकी निवृत्ति ज्ञानाऽद्वय रूप तत्त्वज्ञान से होती है क्योंकि असत् की ज्ञान से निवृत्ति नियमप्राप्त है। यथा: शुक्ति के तत्त्वज्ञान से असत् रजत की निवृत्ति देखी जाती है। अतः यह पूर्णतया युक्तिसंगत है कि प्रकाशमात्रात्मकज्ञान भी संसारावस्था में अविद्याशक्ति की प्रबलता से अन्य प्रकार अर्थात् सकर्मकरूप में प्रकाशित होता है। जैसा कि धर्मोत्तर ने कहा है कि—"अविद्याशक्ति के सहयोग से ज्ञान असत्य अर्थ का ग्राहक होता है और अविद्यावश ही ग्राह्य-ग्राहकभाव से गृहीत होता है। अतः विज्ञानवाद नितान्त निर्दोष है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अविद्या की निवृत्ति को असत् यानी असत्य मानने पर अविद्या के समान ही उसकी भी निवृत्ति होने से मुक्त पुरुष में पुनः संसारित्व की आपत्ति होगी और सत् मानने पर द्वैतापत्ति होने से ज्ञानाद्वैतवाद का भंग होगा। यदि अविद्यानिवृत्ति को ज्ञानरूप ही माना जायगा तो ज्ञान के संसारदशा में मुक्ति के भी सद्भाव की आपत्ति होगी।

[पूर्ववर्ती क्लिष्टचित्तक्षण अतिरिक्त हेतु नहीं बन सकता]

यदि उक्त आपत्ति के परिहार के लिये विज्ञानवादी की ओर से यह कहा जाय कि 'पूर्ववृत्ति क्लिष्टचित्तक्षण ही उत्तरवर्ती क्लिष्टचित्त का चित्तसामान्य के हेतु से अतिरिक्त हेतु है।' तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि पूर्ववर्ती चित्तक्षण बोधात्मक होने से ही उत्तरकाल में क्लिष्टचित्त का हेतु होगा तो सदा अर्थात् मुक्तिकाल में भी चित्त में क्लिष्टता की आपत्ति होगी अर्थात् मुक्तिकाल में चित्त अक्लिष्ट न हो सकेगा क्योंकि मुक्त का पूर्ववर्ती चित्तक्षण भी क्लिष्ट होने से उत्तरकाल

में स्वभावतः क्लिष्ट चित्तक्षण का ही उत्पादक होगा। अतः विज्ञानवादी के मत में मुक्ति उपपन्न न हो सकेगी। यदि इसके उत्तर में विज्ञानवादी की ओर से यह कहा जाय कि–"संसार काल का उपान्त्यक्षण मुक्ति का पूर्व तृतीयक्षण ऐसे अन्त्यक्षण का जनक होता है जो उत्तर काल में क्लिष्टचित्तक्षण के जनन में असमर्थ होता है अतः उक्त रीति से मुक्ति की अनुपपत्ति नहीं हो सकती"– तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस मान्यता के सम्बन्ध में यह प्रश्न हो सकता है कि मुक्ति का पूर्वतृतीयक्षण क्लिष्टचित्त के उत्पादन में असमर्थ अन्त्यक्षण को कैसे उत्पन्न करता है ? यदि इस उत्पत्ति को स्वाभाविक मानी जायगी तो मुक्ति की भी स्वभाव से ही उत्पत्ति सम्भव होने से मुक्ति के लिये प्रवृत्त्यादि का उपपादन असम्भव हो जायगा। यदि प्रवृत्ति का उपपादन भ्रम द्वारा किया भी जाय तो मुक्ति के उपाय का प्रतिपादन करने के लिये शास्त्र का प्रणयन असङ्गत होगा। अतः विज्ञानवादी की मुक्ति केवल कल्पना पर आधारित है, वह आनन्दमयी नहीं हो सकती। अतः मुक्ति के सम्बन्ध में यह सब कथन अकिञ्चित्कर है।। ३७ ।।

३८ वीं कारिका में इसी बात की पुष्टि की गई है--

इदमेवाह—

मूलम्—मुक्त्यभावे च सर्वैव ननु चिंता निरर्थिका ।
भावेऽपि सर्वदा तस्याः सम्यगेतद्विचिन्त्यताम् ॥३८॥

मुक्त्यभावे च तपस्विनां सर्वैव चिंता=तत्त्वविचारणा निरर्थिका, सर्वस्या एव तस्यास्तदेकपरमप्रयोजनत्वात्। बोधरूपायास्तस्या मुक्तेः सर्वदा भावेऽपि निरर्थिका चिन्ता, साध्यस्य सिद्धत्वात्। एतत् सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥ ३८ ॥

[मुक्ति के अभाव में तत्त्वचिन्ता व्यर्थ]

उक्त रीति से मुक्ति की सिद्धि न होने पर तपस्वीओं की सारी चिन्ता-तत्त्वचिन्तन का सम्पूर्ण प्रयास निरर्थक हो जायगा। क्योंकि सारी तत्त्वचिन्ता का एकमात्र मुक्ति ही परम प्रयोजन होती है। अतः उस के अभाव में निष्प्रयोजन होने से तत्त्वचिन्ता की निरर्थकता अनिवार्य है। यदि मुक्ति को बोधरूप स्वीकार कर लिया जाय तो बोध के सार्वदिक होने से मुक्ति भी सार्वदिक होगी। अतः इस पक्ष में भी तत्त्वचिन्ता निरर्थक होगी। क्योंकि तत्त्वचिन्ता से जो साध्य है वह पहले से ही सिद्ध है। इन सब बातों का विज्ञानवादी को आग्रहमुक्त होकर विचार करना आवश्यक है ।। ३८ ।।

३९ वीं कारिका में विज्ञानवाद के विषय में किये गये सम्पूर्ण विचारों का उपसंहार किया गया है—

उपसंहरन्नाह --

मूलम्—विज्ञानमात्रवादोऽयं नेत्थं युक्त्योपपद्यते ।
प्राज्ञस्यापि निवेशो न तस्मादत्रापि युज्यते ॥ ३९ ॥

विज्ञानमात्रवादो यद्=यस्मात् इत्थम्-उक्तरीत्या युक्त्या-न्यायेन विचार्यमाणः नोप-

पद्यते, तस्मादत्रापि-विज्ञानवादेऽपि, प्राज्ञस्यापि=कल्पनानिपुणस्यापि पुंसः, निवेशः=कदाग्रहो न युज्यते ॥ ३९ ॥

हंसः किं सद्मपद्मं श्रयति परिगलत्पर्णमर्णः पिबेद्वा ?
चाण्डालानां पिपासाकुलितमतिरपि श्रोत्रियः किं कदाचिद् ? ।
दुष्टानां हन्त ! गोष्ठीमनुसरति रसात् सज्जनः किं वृथार्थां ।
त्याज्यस्तज्जैनतर्कैरयमिह निहतो विज्ञ ! विज्ञप्तिवादः ॥ १ ॥

अभिप्रायः सूरेरिह हि गहनो दर्शनततिनिरस्या दुर्धर्षा निजमतसमाधानविधिना ।
तथाप्यन्तः श्रीमन्नयविजयविज्ञाह्रिभजने न भग्ना चेद् भक्तिर्न नियतमसाध्यं किमपि मे ॥ २ ॥

यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयाः प्राज्ञाः प्रकृष्टाशया
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदर-
स्तेन न्यायविशारदेन रचितस्तर्कोऽयमभ्यस्यताम् ॥ ३ ॥

॥ इति पण्डित श्रीपद्मविजयसोदरन्यायविशारदपण्डितयशोविजयविरचितायां स्याद्वादकल्पलताभिधानायां शास्त्रवार्त्तासमुच्चयटीकायां पञ्चमः स्तबकः ॥

'जगत् केवल विज्ञानमात्रात्मक है-विज्ञान से अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं है' यह वाद उक्तरीति से विचार करने पर उपपन्न नहीं होता । अतः कल्पना में अत्यन्त निपुण-चतुर पुरुष को विज्ञानवाद में कदाग्रह करना उचित नहीं है ॥३९॥

व्याख्याकार ने प्रस्तुत स्तबक की व्याख्या समाप्त करते हुए एक उपसंहार श्लोक प्रस्तुत किया है जिस का अर्थ इस प्रकार है –

हंस उस पद्मसदन-सरोवर का आश्रय नहीं लेता जिसमें कमल के पत्ते गिरने लगते हैं। वेदज्ञपुरुष प्यास से अत्यन्त पीडित होने पर भी चाण्डाल का पानी कभी नहीं पीता । जब पक्षी लेकर एक वेदज्ञ विद्वान तक के व्यवहार की यह स्थिति है तो कोई भी सज्जन पुरुष दुर्जनों की निरर्थक गोष्ठी का प्रीतिपूर्वक अनुसरण कैसे कर सकता है ? अतः विज्ञजनों को इस विज्ञप्तिवाद का पूर्ण त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि इस ग्रन्थ में जैन सिद्धान्त के अकाट्य तर्कों से इस विज्ञप्तिवाद का पूर्णरूप से निराकरण किया गया है ।

['अभिप्रायः'० इत्यादि दो श्लोक का अर्थ प्रथम स्तबक में बताया गया है]

॥ स्तबक–५ समाप्त ॥

॥ अर्हम् ॥

❁ षष्ठः स्तबकः ❁

[व्याख्याकार मंगलाचरण]

दृप्यद्यन्नखदर्पणप्रतिफलद्वक्त्रेण वृत्रद्रुहा,
शोभा कापि दशावतारसुभगा लब्धाऽनुजस्पर्धिनी ।
मुक्तिद्वारकपाटपाटनपटू दौर्गत्यदुःखच्छिदौ,
तावेंही शरणं भजे भगवतो वीरस्य विश्वेशितुः ॥१॥
यत्स्नात्रनीरेण नारायणस्य जरा भटानां न पराभवाय ।
जाग्रत्प्रभावं भगवन्तमेतं शङ्खेश्वराधीश्वरमाश्रयामः ॥२॥

[वीर भगवान् के चरण शरण की भावना]

जिन चरणों के देदीप्यमान नखदर्पण में अपना मुख प्रतिबिम्बित होने से वृत्रद्रोही-इन्द्र को अपने अनुज विष्णु की स्पर्धा करने वाली, दश अवतारों के सौभाग्य से सम्पन्न अनिर्वचनीय शोभा प्राप्त हुई थी, वैसे विश्व के शासक स्वामी भगवान् महावीर के दो चरण मुक्ति नगरी के प्रवेशमार्ग पर लगे हुए किवाड को तोडने में कुशल है और दुर्गति=दुष्टयोनि-दुष्टकुलोत्पत्ति-प्रयुक्त दुःखों को नष्ट करने वाले होते हैं-उन चरणों की मैं शरण ग्रहण करता हूं ॥ १ ॥

जिसके अभिषेक जल से नारायण=विष्णु की सेना के सुभटों को जरासंध-प्रयुक्त जराविद्या पराभूत नहीं कर पायी अर्थात् जराविद्या से निष्पन्न पराभव यानी मूर्च्छा नहीं टिक सकी ऐसे उत्कण प्रभाव से सम्पन्न शङ्खेश्वर तीर्थाधिपति भगवान पार्श्वनाथ का हम आश्रय करते हैं ॥ २ ॥

[भगवान के चरण की उपासना क्यों ?]

इस प्रकार व्याख्याकार ने प्रथम पद्य में भगवान महावीर को विश्वेशिता कहकर विश्व का मार्गदर्शक बताया और उनके चरणों को शरण रूप से आश्रयणीय बताया। चरणों की महिमा यह कह कर व्यक्त की है कि भगवान ने सर्वज्ञता प्राप्त कर जब प्रथम धर्मदेशना की उस समय सभी देवताओं के साथ देवराज इन्द्र भी उपस्थित थे। उन्होंने भगवान के सन्मुख उन चरणों पर विनम्र भाव से जब शिर झुकाया तब चरणों के चमकते हुये निर्मल दशों नखदर्पण में उनका मुख प्रतिबिम्बित हो उठा। फलतः एक ही इन्द्र दशावतारी हो गया और उन दशावतारों में देवराज की शोभा भगवान के चरणों के नखदर्पण की चमक से अनेकगुण हो उठी थी। अत एव वह शोभा

उनके अनुज विष्णु को स्पर्धा करने वाली थी, क्योंकि विष्णु के भी दश अवतार हैं किन्तु उन में चार मनुष्येतर योनि में थे जैसे मत्स्य, कच्छप, वराह और नृसिंह। एवं छः नर योनि में हुये, जैसे-वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्की। मानवेतर योनि के कारण इन सभी अवतारों में विष्णु की शोभा सुभग नहीं है। किन्तु इन्द्र के उक्त प्रतिबिम्बमूलक दश अवतारों की शोभा सुभग है। इस कथन से भगवान के चरणों की महिमा परिस्फुट होती है। भगवान के चरणों की महिमा बताने के लिये व्याख्याकार ने दो और बातें कही हैं, एक यह कि भगवान के चरणों का ध्यान करने से मुक्ति के द्वार पर लगा हुआ कर्मबन्ध का सुदृढ कपाट [illegible] विना [illegible] छूट जाता है और दूसरी बात यह है कि दुष्टयोनि और दुष्टकुलस्वरूप दुर्गति में उत्पन्न होने से जीव को जो अनेक प्रकार के दुःख होते हैं उन दुर्गति व दुःख का भी विध्वंस–विष्कम्भण हो जाता है। क्योंकि जिन कर्मों के उदय से जीव को दुर्गति में जाना पड़ता है-भगवान के चरणों के ध्यान से उन कर्मों का ही उन्मूलन हो जाता है।

[शंखेश्वर पार्श्वनाथ की अजीब महिमा]

दूसरे पद्य में व्याख्याकार ने इस घटना का स्मरण कराया है कि जब श्रीकृष्ण का जरासंध के साथ युद्ध हो रहा था तब जरासंघ ने कृष्ण के सैनिकों में मूर्च्छा उत्पन्न करने वाली जरा-विद्या का प्रयोग किया था जिससे उनके सैनिक मूर्च्छित होकर पराभव की स्थिति में पहुंच रहे थे। उस समय श्रीकृष्ण के चचेरे भाई श्री नेमनाथ ने श्रीकृष्ण को यह सूचित किया कि "वे पाताल लोक की पद्मावती देवी से भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्राप्त कर उसका अभिषेक करें और उस अभिषेक जल से सैनिकों को सिंचित करें। इस प्रयोग से श्रीकृष्ण के सैनिकों पर जरा का आक्रमण दूर हो जायगा।" श्रीकृष्ण ने श्री नेमनाथ के निर्देशानुसार वह प्रयोग (विधान) किया और उससे जरा-विद्या वहाँ से भाग जाने पर उनके सैनिक सभान हो गए और जराविद्या से अभिप्रेत पराभव से बच गये। इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ का प्रभाव अत्यन्त जागरूक है। और वे भगवान शङ्खेश्वर तीर्थ के अधीश्वर हैं। 'शंखेश्वर' शब्द से इस प्रसंग की सूचना है कि पार्श्वनाथ भगवान के स्नात्र जल का सेना ऊपर सिंचन करने के बाद श्रीकृष्ण ने जोरों से शंखनाद बजा कर सेना में युद्ध के लिये उत्साह को संचारित किया था। जिस स्थल पर यह शंख बजाया गया था वह विशेष स्थल-शंखेश्वर तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है। यतः उनके नाम से ही वह तीर्थ व्यवहृत होता है अत एव भगवान को शंखेश्वर तीर्थ का अधीश्वर कहा जाता है। शंखेश्वर के अधीश्वर को आश्रयणीय बताकर यह संकेत किया गया है कि जिस प्रकार शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान के प्रभाव से जराविद्या-निष्पन्न भयंकर द्रव्यमूर्च्छा नष्ट हो गई उसी प्रकार भगवान पार्श्वनाथ का आश्रय लेने से अविद्या-मोह-अज्ञान से निष्पन्न भयंकर भावमूर्च्छा उन अविद्यादि के साथ नष्ट हो सकती है।

प्रथम कारिका में चौथे स्तबक की अन्तिम कारिका में जिसका निर्देश किया गया था उसका प्रतिपादन किया गया है—

'सर्वमेतेन०' [४-१३७] इत्याद्यतिदिष्टमभिधित्सुराह—

मूलम्- [illegible]क्तं पूर्वमत्रैव क्षणिकत्वप्रसाधकम्।
[illegible]र्हेतोरयोगादि तदिदानीं परीक्ष्यते ॥ १ ॥

यच्च=पूर्वमेव=सुगतसुतवार्तायामेव, नाशहेतोरयोगादि क्षणिकत्वप्रसाधकं "तथाहुः क्षणिकं सर्वम्" [४-२] इत्यादिकारिकयोक्तं पूर्वपक्षिणा, तदिदानीमवसरप्राप्ततया परीक्ष्यते ।१।

बौद्धमत की चर्चा के संदर्भ में चतुर्थ स्तबक की दूसरी कारिका में पूर्वपक्षी ने क्षणिकत्व के साधक 'नाशहेतु के अयोग यानी सम्बन्धअसंभव' हेतु का उपन्यास किया है-※अवसर संगति से अब उसका परीक्षण किया जायगा ।।१।।

क्षणिकत्व साधनार्थ उक्त हेतुओं में प्रथम हेतु है नाशहेतु का अयोग-उसकी परीक्षा के लिये दूसरी कारिका में इसका अभिप्राय प्रकट किया गया है--

तत्र प्रथमहेतुं परीक्षितुं तदाशयमाविष्करोति—

मूलम्—हेतोः स्यान्नश्वरो भावोऽनश्वरो वा विकल्पयन् ।
नाशहेतोरयोगित्वमुच्यते तन्न युक्तिमत् ॥ २ ॥

'हेतोः सकाशाद् नश्वरो भावः स्यात् ? अनश्वरो वा ?' इति **विकल्पयन्**=विकल्पयुगलमुत्थापयन्, नाशहेतोरयोगित्वं क्षणिकत्वप्रसाधकमुच्यते परेण । **आद्ये, स्वतो नश्वरे नाशहेतूनामकिञ्चित्करत्वात्**, अन्त्येऽपि स्वभावस्य पराकर्तुमशक्यत्वेन तथात्वात् ।

[नाशहेतु का अयोग कहने में बौद्ध का आशय]

नाशहेतु की अयोगिता दो विकल्पों द्वारा कही जाती है । पहला विकल्प है-अपने उत्पादक हेतु से नश्वरभाव का उत्पन्न होना । और दूसरा विकल्प है उत्पादक हेतु से अनश्वरभाव का उत्पन्न होना । इन दोनों ही विकल्पों में नाशहेतु की अयोगिता सिद्ध होती है । जैसे प्रथम विकल्प में नाश का हेतु इसलिये अकिञ्चित्कर होता है कि भाव-स्वभावतः नश्वर होने से स्वयं ही नष्ट हो जाता है तो नाशहेतु ने ज्यादा क्या किया ? तथा दूसरे विकल्प में नाश का हेतु इसलिये अकिञ्चित्कर होता है कि-दूसरे विकल्प के अनुसार भाव अनश्वरस्वभाव होता है अत एव नाशहेतु से भी उसके अनश्वरत्व-स्वभाव का निराकरण नहीं हो सकता । फलतः भाव के नश्वर और अनश्वर उभयविध स्वभाव के पक्ष में नाश हेतु नाश के लिए असमर्थ होता है । अत एव भावनाश में हेतु की अपेक्षा न होने से हेतु के विलम्ब से नाश होने में विलम्ब की सम्भावना न होने के कारण भाव अपनी उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में ही नष्ट हो जाता है । इस प्रकार नाश के निर्हेतुकत्व से भाव की क्षणिकता सिद्ध होती है । भाव अनश्वरस्वभाव होता है इस द्वितीय विकल्प में यह प्रश्न ऊठना स्वाभाविक है कि इस विकल्प में नाश हेतु के अकिञ्चित्कर होने पर भी भाव के स्वभावतः अनश्वर होने से उसका नाश नहीं हो सकता, अतः इस विकल्प में नाश हेतु की अकिञ्चित्करता से भाव की क्षणिकता कैसे सिद्ध होगी ? इसका उत्तर यह है कि भाव का नाश यतः सर्व सम्मत है अतः उसमें अनश्वरस्वभावता की कल्पना ही नहीं हो सकती । अतः इस विकल्प का प्रदर्शन क्षणिकत्व के साधन में उपयोगी होने से नहीं किया गया है किन्तु नाशहेतु की अकिञ्चित्करता बताने के लिये ही किया गया है ।

※ विरोधीजिज्ञासानिवृत्त्युत्तरकालिकावश्यवक्तव्यत्वम् = अवसरसंगतिः ।

न च उत्पादेऽप्ययं पर्यनुयोगः-स्वभावतो ह्युत्पत्तिस्वभावे उत्पत्तिहेतुव्यापारवैयर्थ्यात्, अनुत्पत्तिस्वभावस्य च कर्तुमशक्यत्वादिति वाच्यम्; उत्पत्तिस्वभाव इत्यस्याऽभूत्वा-भवनलक्षणोत्पत्तिरेव स्वभावो यस्येत्यर्थेऽभूतस्य भवनाऽयोगेनोक्तदोषानिवृत्तावपि, उत्पत्तौ=सत्तायां स्वभावः=आभिमुख्यलक्षणो यस्य नियतहेत्वनन्तरभाविन इत्यर्थे दोषाऽभावात्, तथैव तद्व्यपदेशोपपत्तेः, द्वितीयविकल्पस्य चानभ्युपगमादेव, अनुत्पत्तिस्वभावस्य सर्वसामर्थ्याभावलक्षणस्यानुत्पाद्यत्वादेव ।

[नाशवत् उत्पत्तिहेतुअयोग प्रसंग का प्रतीकार]

यदि यह कहा जाय कि नाश के सम्बन्ध में उक्त प्रकार के प्रश्न के दृष्टान्त से भाव की उत्पत्ति पक्ष में भी यह प्रश्न उठ सकता है कि भाव स्वभावतः उत्पत्तिस्वभाव होता है अथवा अनुत्पत्तिस्वभाव होता है ? उसमें भी भावोत्पत्ति सर्वसम्मत होने से दूसरे स्वभाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रथम स्वभाव मानने पर स्वभावतः उत्पत्तिस्वभाव वाले पदार्थ के प्रति उत्पादक हेतु के व्यापार की निरर्थकता अनिवार्य है।"-तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि-उत्पत्तिस्वभाव का अर्थ यदि यह किया जाय कि उत्पत्ति का अर्थ है-अभवनपूर्वक भवन वही जिसका स्वभाव हो वह है उत्पत्तिस्वभाव । तो उत्पादकहेतु के व्यापार की निरर्थकता रूप दोष की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उत्पादक हेतुओं से अभवनस्वभाव वाले पदार्थ के भवन का सम्पादन नहीं हो सकता। किन्तु, यदि उत्पत्तिस्वभाव का यह अर्थ किया जाय कि उत्पत्ति का अर्थ है सत्ता और स्वभाव का अर्थ है आभिमुख्य। इस प्रकार नियत हेतु के प्रयोग के अनन्तर जिसका सत्ता के प्रति आभिमुख्य हो वह है उत्पत्तिस्वभाव, तो उक्त दोष नहीं हो सकता क्योंकि नियत हेतु के अनन्तर हो जो सत्ताप्राप्ति के उन्मुख होता है, उसीमें उत्पत्तिस्वभावता का व्यवहार होता है।

दूसरा विकल्प अस्वीकार्य होने के कारण ही विचारणीय नहीं है। क्योंकि जो अनुत्पत्तिस्वभाव है उसमें सर्वविधसामर्थ्य का अभाव है इसलिये वह तो उत्पन्न होने में भी असमर्थ है। अत एव द्वितीयविकल्प को लेकर उत्पादक हेतु के व्यापार की निरर्थकता का आपादन नहीं हो सकता।

न ह्युत्पत्तिहेतवोऽभावं भावीकुर्वन्तीत्यभ्युपगम्यते, 'असदुत्पद्यते इत्यस्य उत्पद्यमानं प्राग् नास्ति' इत्येवार्थात्। प्राग्नास्तितायां च न भावाश्रयाणां विकल्पानां शशविषाण इव तीक्ष्णतादिगोचराणां संभवः न च 'भावधर्मत्वाऽविशेषाद् नाशवदुत्पत्तेरपि किं न निर्हेतुकत्वम् ?' इति शङ्कनीयम्, उदयापवर्गिणो भावाद् व्यतिरिक्तस्य नाशस्याभावात्, तस्य च स्वहेतोरेव तथाभूतस्योत्पन्नत्वेन (उत्पत्तिस्वरूप) तद्धर्मस्याऽनिमित्तत्वाभावात्; केवलं तमस्य स्वभावं न विवेचयति मन्दधीः, दर्शनपाटवाभावात्, विसदृशकपालादिक्षणोत्पत्तावेव भ्रान्तिकारणविगमेन प्रत्यक्षनिबन्धनतन्निश्चयोत्पादात्, विषयरूपदर्शनेऽप्यतत्कारिपदार्थसाधर्म्यविप्रलब्धस्य प्राक्कारणशक्त्यविवेचनेऽपि विकारदर्शनानन्तरं तन्निश्चयवदिति। अत्रोत्तरम्-तद् न युक्तिमत्=एतदुक्तं न युक्तम् ॥ २ ॥

[अभाव भाव बन जाता है–इस में असम्मति]

'उत्पत्ति के हेतु अभाव को भाव बना देते हैं' यह मान्य नहीं है क्योंकि 'असत् उत्पन्न होता है' इसका अर्थ यथाश्रुत न होकर इतना ही होता है कि 'उत्पन्न होने वाली वस्तु उत्पत्ति के पहले नहीं होती है।' जब उत्पत्ति के पहले अस्तित्व शून्य होती है तब उस के सम्बन्ध में वे विकल्प, जो भावमात्र में ही सम्भव होते हैं, वे उसी प्रकार नहीं हो सकते जैसे तीक्ष्णता-मृदुता आदि के विकल्प शशविषाण में नहीं हो सकते। यदि यह कहा जाय कि–'नाश और उत्पत्ति दोनों ही भाव के धर्म हैं। दोनों की भावधर्मता में कुछ अन्तर नहीं है। अतः यह शंका स्वाभाविक है कि-जैसे नाशरूप भावधर्म निर्हेतुक होता है, उसी प्रकार उत्पत्तिरूप भावधर्म भी निर्हेतुक होना चाहिये'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उत्पत्ति और विनाशधर्मों उत्तरभाव से भिन्न पूर्वभाव का नाश प्रसिद्ध है और उत्तरभाव अपने हेतु से ही उत्पत्तिविनाशधर्मा उत्पन्न होता है। अतः उत्पत्तिस्वरूप भावधर्म निनिमित्त नहीं होता। किन्तु बुद्धि की मन्दता से मनुष्य उत्तरक्षण में पूर्वक्षण के नाश का स्वभाव-पूर्वक्षण-नाशात्मकता का निश्चय नहीं कर पाता क्योंकि पूर्वक्षणनाशात्मना ही उत्तरक्षणभाव के दर्शन की पटुता नहीं होती। किन्तु जब घट क्षण से विलक्षण कपालक्षण की उत्पत्ति होती है उसी समय उत्तरक्षण में पूर्वक्षण की ऐक्य की भ्रान्ति के सादृश्यज्ञानरूप कारण की निवृत्ति होने पर घट-नाश का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हो कर घटनाश के निश्चय की उत्पत्ति होती है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे सदृश विषाक्त और निर्विष क्षीररूप दो विषयों का दर्शन होने पर विकार के अजनक निर्विषक्षीर के साधर्म्यज्ञान से विकारोत्पत्ति के पूर्व विषाक्त क्षीर में विकार जनन शक्ति का निश्चय न होने पर भी विकारदर्शन के अनन्तर विकारजननशक्ति का निश्चय होता है। इस प्रकार बौद्धों का अभिमत यह है कि उत्तरभाव ही पूर्वभाव का विनाश है और वह अपने हेतु से उत्पत्तिविनाशधर्मी रूप में उत्पन्न होता है। उत्तरभाव से अतिरिक्त पूर्वभाव का कोई विनाश सिद्ध नहीं है जिसके लिये हेतु की अपेक्षा हो। इस प्रकार विनाश की निर्हेतुकता का अर्थ है-उत्तरभावउत्पादकहेतु भिन्न हेतुराहित्य। किन्तु बौद्ध का यह कथन ग्रन्थकार की दृष्टि में युक्तिशून्य है ॥ २ ॥

तीसरी कारिका में उक्त कथन की युक्तिशून्यता का उपपादन किया गया है—

कुतः ? इत्याह—

मूलम्—हेतुं प्रतीत्य यदसौ तथानश्वर इष्यते ।
यथैव भवतो हेतुर्विशिष्टफलसाधकः ॥३॥

हेतुं–मुद्गरादिकम् प्रतीत्य, यदसौ–भावः, तथानश्वरः=प्रायोगिकादिनाशापेक्षया नश्वरस्वभावः इष्यते। निदर्शनमाह–यथैव भवतः=सुगतसुतस्य हेतुः=घटादिः विशिष्ट-फलसाधकः=मुद्गरादिकं प्रतीत्य विजातीयकपालादिक्षणजननस्वभाव इष्टः। एतेन–

"स्वभावोऽपि स तस्येत्थं येनापेक्ष्य निवर्त्यते ।
विरोधिनं यथान्येषां प्रवाहो मुद्गरादिकम् ॥"

इति समाधानं न युक्तम्, यतो नास्माभिर्विशरारुक्षणव्यतिरिक्तोऽपरः प्रवाहोऽभ्युप-

गम्यते यः स्वनिवृत्तावकिञ्चित्करं मुद्गरादिकमपेक्षते, किन्तु परस्परव्यतिरिक्ताः पूर्वापरक्षणा एव, ते च स्वरसत एव विरुध्यन्त इति न कश्चिदकिञ्चित्करापेक्षनिवृत्तिः' इत्युक्तावपि न क्षतिः, विलक्षणहेतुं प्रतीत्य नश्वरस्वभावस्य तस्य तं प्रतीत्य विलक्षणजननस्वभावत्वाभ्युपगमतुल्य-समाधानत्वात् ॥ ३ ॥

[उत्पत्तिवत् नाश में सहेतुकता की उपपत्ति]

घटादिस्वरूप भाव को मुद्गरादि का संनिधान होने पर उसका प्रायोगिक नाश होता है, नाश दो प्रकार के हैं-प्रायोगिकनाश व विस्रसानाश, विस्रसानाश है-विशिष्टकारण प्रयोग के बिना होने वाला नाश। मुद्गरप्रहारादि विशिष्टकारणप्रयोग से जनित नाश यह प्रायोगिक नाश है। और उसकी अपेक्षा वह नश्वर स्वभाव कहा जाता है। यह ठीक उसी प्रकार युक्तियुक्त होता है जैसे बौद्ध मत में घट को मुद्गरादि का सन्निधान प्राप्त होने पर विजातीय कपालक्षण की उत्पत्ति होती है और उस उत्पत्ति की अपेक्षा घट विजातीय कपालक्षणजनन स्वभाव होता है। इस संदर्भ में, बौद्धों ने नाश की निर्हेतुकता पक्ष के इस समाधान को कि-'जैसे घटक्षण का प्रवाह विरोधी मुद्गरादि के प्राप्त होने पर निवृत्त होता है उसी प्रकार घटादि भाव का यह स्वभाव होता है जिस स्वभाव के कारण वह विरोधी मुद्गरादि को प्राप्त कर निवृत्त होता है।' युक्तिहीन बताया है और कहा है कि बौद्धमत में प्रतिक्षण नश्वर क्षणों से भिन्न कोई प्रवाह मान्य नहीं है। जिसे अपनी निवृत्ति में अकिञ्चित्कर मुद्गरादि की अपेक्षा हो। किन्तु परस्पर भिन्न पूर्वोत्तर भावी क्षण ही प्रवाह है। वे स्वभावतः परस्पर विरुद्ध हैं। अतः किसी भी क्षण की निवृत्ति को अकिञ्चित्कर मुद्गरादि की अपेक्षा नहीं होती। अतः नाश का निर्हेतुकत्वपक्ष अक्षुण्ण है।" किन्तु बौद्ध के इस कथन से भी नाश के सहेतुकत्वपक्ष में क्षति नहीं हो सकती क्योंकि घटक्षण जैसे मुद्गरादि को प्राप्त कर कपालादिरूप विलक्षण क्षण के जनन स्वभाव से सम्पन्न होता है उसी प्रकार से घटक्षण का नश्वर स्वभाव भी मुद्गरादिरूप विलक्षण हेतु की प्राप्ति से सम्पन्न होता है। इस प्रकार दोनों पक्ष में समाधान तुल्य है ॥३॥

चौथी कारिका में तृतीय कारिका में उक्त तथ्य की पुष्टि की गई है -

एतदेव भावयन्नाह—

मूलम्—तथास्वभाव एवासौ स्वहेतोरेव जायते ।
सहकारिणमासाद्य यस्तथाविधकार्यकृत् ॥४॥

तथास्वभाव एवासौ घटादिः स्वहेतोरेव सकाशाज्जायते यः **सहकारिणं**=मुद्गरादिकम् आसाद्य **तथाविधकार्यकृत्**=विजातीयकपालादिकार्यकारी। तदपेक्षस्यैव हि घटक्षणस्य समानक्षणान्तरोत्पादनासमर्थाऽसमर्थतरा-ऽसमर्थतमादिक्षणान्तरोत्पादनप्रक्रमेण घटसंततिनिवृत्तौ कपालादिक्षणोत्पत्तेरभ्युपगमात् ॥ ४ ॥

घटादि अपने कारण से ही ऐसे स्वभाव से युक्त हो कर ही उत्पन्न होता है जिससे वह सह-कारी मुद्गरादि को प्राप्त कर कपालादिरूप विजातीय कार्य का जनक होता है। क्योंकि घटक्षण

क्रमशः समान क्षणान्तर को उत्पन्न करने में असमर्थ-असमर्थतर एवं असमर्थतम क्षणान्तर को उत्पन्न करते हुये मुद्गरादि सापेक्ष होकर ही घटसन्तान की निवृत्ति होने पर कपालादिक्षण का उत्पादक होता है ।। ४ ।।

५ वीं कारिका में उपर्युक्त का ही समर्थन किया गया है —

उपचयमाह—

मूलम्—न पुनः क्रियते किञ्चित्तेनास्य सहकारिणा ।
समानकालभावित्वात्तथाचोक्तमिदं तव ।।५।।

न पुनस्तेन=मुद्गरादिना सहकारिणा तस्य=घटस्य क्रियते किञ्चित्=अतिशयाधानम् । कुतः ? इत्याह—द्वयोः सहकार्य-सहकारिणोः समानकालभावित्वात्=एककालोत्पत्तिकत्वात्, अतिशयस्य च सहकार्यगतस्य तत्स्वरूपत्वात्, कार्यकारणभावस्य च पौर्वापर्यनियतत्वात् । संवादमाह—तथाचोक्तमिदं=वक्ष्यमाणं तव स्वशास्त्रे ।। ५ ।।

मुद्गरादिरूप सहकारी से घट में किसी अतिशय का आधान नहीं किया जाता । क्योंकि सहकार्य घट और सहकारी मुद्गर दोनों एककाल में उत्पन्न होते हैं । सहकार्य घट में होने वाला अतिशय भी सहकार्यस्वरूप होने से सहकारी का समानकालिक है । अत एव वह उसका कार्य नहीं हो सकता क्योंकि कार्यकारण भाव पौर्वापर्य का व्याप्य है । अतः जिसमें पौर्वापर्यरूप व्यापक नहीं है उसमें कार्यकारणभावरूप व्याप्य नहीं हो सकता । यह बात बौद्ध के अपने शास्त्र में भी कही गयी है ।। ५ ।।

छट्ठी कारिका में समानकालिक पदार्थों में कार्यकारण भाव नहीं होता इस विषय में बौद्ध-शास्त्र का संवाद प्रस्तुत किया गया है—

मूलम्—'उपकारी विरोधी च, सहकारी च यो मतः ।
प्रबन्धापेक्षया सर्वो नैककाले कथंचन ।। ६ ।।'

उपकारी क्षीरादिर्बालादेः, विरोधी-नकुलादिः सर्पादेः, सहकारी-मुद्गरादिः कपालादेः यो मतः=इष्टः, स प्रबन्धापेक्षया=सन्तानापेक्षया सर्वः=निरवशेषः, नैककाले कथंचन, बालादिसत्ताया एव बालाद्युपकारत्वात् । स्वसभागक्षणोत्पत्तिर्हि उपकारः, स्वविसभागक्षणोत्पत्तिश्च विरोधः, स्वोत्पत्तिरेव च सहकार इति ।। ६ ।।

[एककालीन पदार्थों में कार्यकारणता का असंभव]

जैसे बालक आदि का उपकारी दुग्धादि खाद्यपदार्थ है तथा सर्पादि का विरोधी जैसे नकुलादि है और कपालादि का सहकारी जैसे मुद्गरादि है, इस प्रकार जो कोई किसी का उपकारी विरोधी अथवा सहकारी माना जाता है वह सब सन्तान की अपेक्षा माना जाता है । एक काल में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति की अपेक्षा कथमपि नहीं माना जाता । क्योंकि बालक आदि की सत्ता ही बालकादि का उपकार है और बालक आदि की सत्ता बालकादिक्षणों का सन्तानरूप है क्योंकि

बालक की उत्पत्ति से बालक के मरण तक बालक की सत्ता मानी जाती है-इतनी लम्बी अवधि में बौद्ध के मत से एक बालक क्षण का होना सम्भव नहीं है। अतः बालक क्षण का सन्तान ही बालक की सत्ता है। यह सन्तान बालकादि को क्षीरादि खाद्यपदार्थों के सुलभ होने से सम्पन्न होता है। अतः स्पष्ट है कि जो बालकक्षण जिस दुग्धादि को ग्रहण करता है वह दुग्धादि और बालकक्षण समानकालिक है अतः उन दुग्धक्षण और बालक्षण में ही बालक्षण को उपकार्य और दुग्धक्षण को उपकारक नहीं माना जा सकता किन्तु बालक्षण और दुग्धक्षण के समान काल में होने से अग्रिमक्षण में बालक्षण की सत्ता सम्भव होती है। इस प्रकार दुग्धक्षण बालक्षण के सन्तान के सद्भाव में उपयोगी होने से सन्तान की अपेक्षा बालक का उपकारक होता है।

बालकादि की सत्ता ही बालकादि का उपकार है यह जो बात कही गयी है उसका आधार उपकार की यह परिभाषा है कि सदृशक्षण की उत्पत्ति ही उपकार है। इस प्रकार पूर्व बालक्षण से उत्तर बालक्षण की जो उत्पत्ति होती है वही बाल क्षण का उपकार है और उसमें बालक द्वारा गृह्यमाण दुग्धक्षण हेतु होने से दुग्धक्षण बालक का उपकारक है। इसी प्रकार विसभाग-विसदृशक्षण की उत्पत्ति विरोध है। नकुल द्वारा सर्प का खण्ड होने पर जीवित सर्प से विसदृश मृतसर्पक्षण की उत्पत्ति होती है-यही नकुल द्वारा सर्प का विरोध है। इस विसदृश उत्पत्ति का हेतु होने से नकुल सर्प का विरोधी होता है। यह विरोध भी सन्तान की अपेक्षा है क्योंकि नकुल से जीवित सर्प के सन्तान का उच्छेद हो जाता है। इसीप्रकार कपालादि की उत्पत्ति ही कपालादि का सहकार है। उस उत्पत्ति का हेतु अर्थात् कपालसन्तान का प्रवर्त्तक होने से मुद्गरादि कपालादि का सहकारी है। आशय यह है कि यदि मुद्गर का सन्निधान न होता तो कपालक्षण की उत्पत्ति न होती और कपालक्षण की उत्पत्ति न होने पर कपालक्षण का सन्तान प्रवृत्त नहीं होता। अतः कपालक्षण सन्तान का प्रवर्त्तक होने से मुद्गरादि कपालादि का सहकारी है ॥ ६ ॥

७वीं कारिका में एक अन्य भी बौद्ध शास्त्र के संवाद का उल्लेख किया गया है–

तथैव चोक्तमन्यत्—

मूलम्—'सहकारिकृतो हेतोर्विशेषो नास्ति यद्यपि ।
फलस्य तु विशेषोऽस्ति तत्कृतातिशयाश्रितः ॥७॥'

सहकारिकृतो हेतोः=घटादेः विशेषो नास्ति यद्यपि समानकालत्वाद् द्वयोः, तथापि **फलस्य तु**=कपालादेः **तत्कृतातिशयाश्रितः**=सहकारिकृतातिशयाप्तेर्विलक्षणक्षणाऽभिन्नायाः **विशेषोऽस्ति**=विद्यत एव, तदपेक्षयैव घटक्षणमुद्गरक्षणयोः सहकार्यसहकारिभावादिव्यवहारात् ॥७॥

[सहकारिकृत विशेषता फल में होती है, हेतु में नहीं]

अन्त्य घटक्षणरूप हेतु में मुद्गररूप सहकारी द्वारा किसी विशेष का अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि दोनों समानकालिक है। किन्तु कपालादिरूप फल में मुद्गररूप सहकारी द्वारा अतिशय की प्राप्ति होती है। अर्थात् मुद्गर के सहयोग से अन्त्यघटक्षण से कपालरूप विलक्षण क्षण की उत्पत्ति होती है इस प्रकार अन्त्यघटक्षणरूप हेतु में विशेष न होने पर भी उसके कपालरूप फल

में विशेष होता ही है। उसकी अपेक्षा से ही घटक्षण और मुद्गरक्षण में सहकार्य और सहकारीभाव का व्यवहार होता है ॥ ७ ॥

८वीं कारिका में यह बात बतायी गयी है कि घटादि भाव का उक्त स्वभाव अर्थात् मुद्गरादि को प्राप्त करके ही घटादि कपालादि का जननस्वभाव होता है यह माने बिना उक्त का अर्थात् मुद्गरादि का संनिधान होने पर घटक्षण से कपालादिक्षण की उत्पत्ति का निर्वाह नहीं हो सकता--

इदं चोक्तं यथोक्तस्वभावाभ्युपगमं विना न निर्वहेदित्याह---

मूलम्—**न चास्याऽतत्स्वभावत्वे स फलस्यापि युज्यते।**
सभागक्षणजन्माप्तेस्तथाविधतदन्यवत् ॥ ८ ॥

न चास्य हेतोः=घटादेः, **अतत्स्वभावत्वे**=मुद्गरादिकमप्राप्य कपालादिजननाऽस्वभावत्वे सः=विशेषो विलक्षणक्षणात्मा फलस्यापि कपालादेः युज्यते। कुतः ? इत्याह-- **सभागक्षणजन्माप्तेः**=घटादिक्षणोत्पत्तिप्रसङ्गात्। किंवत् ? इत्याह--**तथाविधतदन्यवत्**= घटादिजननस्वभावतद्घटादिवत्। यद्यप्यत्र 'अन्त्यघटक्षणः कपालादिजननाऽस्वभावः स्याद् घटक्षणजनकः स्यात्' इति नापादनं संभवति, पटादौ व्यभिचारात्; तथाप्यन्यक्षणजननहेत्वभावादर्थात् तदापत्तिः, असमर्थत्वादन्त्यघटक्षणो नाग्रिमसमानक्षणारम्भक इति 'मुद्गराद्यभावे समानक्षणान्तरोत्पादकापरसमर्थजननं तत्संनिधाने त्वसमर्थक्षणान्तरजननमि'ति व्यवस्थाया मुद्गरादिना तत्सामर्थ्यविघातं विना वक्तुमशक्यत्वात्; अन्यथा तत्रापि समर्थक्षणान्तरजननस्वभावस्य कारणपरम्परायास्तस्यानपायात्, स्वहेतुतोऽसमर्थजननस्वभावस्यैव तस्योत्पत्तौ च प्रथमत एव संतत्युच्छेदप्रसङ्गात्।

[सहकारिसांनिध्य को अकिंचित्कर मानने में आपत्ति]

घटादि को अतत्स्वभाव मुद्गरादि को प्राप्त करके कपालादि का जनन स्वभाव न मानने पर कपालादिरूप फल का भी घट से विलक्षण क्षणरूप विशेष नहीं उपपन्न हो सकता क्योंकि उसी स्थिति में अन्त्य घटक्षण से भी सदृशक्षण अर्थात् घटक्षण की ही उत्पत्ति का ठीक उसी प्रकार प्रसंग होगा जैसे घटादिजननस्वभावयुक्त पूर्व घटादिक्षण से उत्तर घटादिक्षण की ही उत्पत्ति होती है। इस प्रकार घट में अतत्स्वभावता मानने पर अन्त्य घटक्षण से भी घटक्षण की उत्पत्ति का प्रसंग अनिवार्य है।

इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि घटादि को अतत्स्वभाव मानने पर इस प्रकार आपादन नहीं हो सकता कि 'अन्तिम घटक्षण यदि कपालादिजननस्वभाव से शून्य होगा तो घटक्षण का जनक होगा' क्योंकि कपालादि जननस्वभावशून्यता तो पटादि में भी है, किन्तु वहां घटक्षणजनकता नहीं है इसलिए आपादन का नियम व्यभिचारी है। किन्तु ऐसा आपादन होगा कि 'अन्त्यघटक्षण यदि कपालादिजननस्वभावशून्य होगा तो घट क्षण का जनक होगा, क्योंकि घटक्षण से अन्यक्षण के जनन का वह हेतु नहीं है, अतः अर्थतः घटक्षणजनकत्व की आपत्ति होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्त्यक्षण

कपालादि से भिन्नक्षण के जनन का हेतु नहीं ही होता और यदि वह कपालादि के भी जनन का हेतु नहीं होगा तो अर्थतः घटक्षण का हेतु होगा। क्योंकि पूर्व के घटक्षण अन्यक्षण के जनन का हेतु न होने से और कपालादिजननस्वभाव से शून्य होने से घटादि क्षण के जनक होते हैं। अतः इस रूप में आपादन हो सकता है कि अन्त्य घटक्षण यदि कपालादिजननस्वभाव से शून्य होगा तो घटक्षण से अन्य क्षण के जनन के प्रति अहेतु होगा और जब घटक्षण से अन्य क्षण के जनन के प्रति अहेतु होगा तो घटक्षण का जनक होगा, जैसे प्रथमादिघटक्षण। इसलिये यह व्यवस्था कि-'अन्तिम घटक्षण, घटक्षणजनन में असमर्थ होने से अपने द्वितीयक्षण में घटक्षण का आरम्भक नहीं होता। अतः मुद्गरादि के अभाव में तृतीयक्षण में स्वसदृश क्षण को उत्पन्न करने वाले समर्थक्षण को द्वितीय क्षण में उत्पन्न करेगा और मुद्गरादि के संनिधान में द्वितीयक्षण में ऐसे क्षणान्तर का जनन करेगा जो घटक्षण के जनन में असमर्थ होता है।'-यह व्यवस्था मुद्गरादि से अन्त्यघटक्षण में घटक्षण-जनन के सामर्थ्य का विघात माने बिना उपपन्न नहीं हो सकती। अतः मुद्गरादि को घटक्षण के नाश का हेतु मानना आवश्यक है। यदि ऐसा न माना जायगा तो अपनी कारणपरम्परा से घटक्षण के जनन में समर्थ घटक्षण की ही उत्पत्ति अक्षुण्ण होने से घटसन्तान का उच्छेद न होगा। यदि अपने हेतु से ही घटक्षण के जनन में असमर्थ स्वभाव घटक्षण की उत्पत्ति मानी जायगी तो प्रारम्भ में ही घट-संतति का उच्छेद हो जायगा।

अथ स्वत एव निवर्तमाना घटक्षणजननी शक्तिः, प्रवर्तमाना वा कपालक्षणजननी शक्तिरवर्जनीयसंनिधिकं मुद्गरादिकं नापेक्षत इति चेत् ? साधु बुद्धं बुद्धदर्शनम्, येनैवं नियतान्वय--व्यतिरेकदर्शनाऽगणनादग्न्यादौ पाकार्थिनामपि नियमतः प्रवृत्तिमपोहितुं व्यवसितोऽसि। तस्माद् मुद्गरादिना घटसामर्थ्याऽव्याहतावयं तर्कः-अन्त्यघटक्षणो यद्यव्याहत-घटजननस्वभावः स्यात् समानक्षणोपहितः स्यादिति।

[पाकार्थी की अग्नि में नियत प्रवृत्ति के अपलाप का साहस]

यदि बौद्धों की ओर से यह कहा जाय कि-"घटक्षण की उत्पादिका शक्ति स्वतः निवृत्त होती है और कपालक्षणजनिका शक्ति स्वयं प्रवृत्त होती है। घटक्षण की निवृत्ति के पूर्व तथा कपालक्षण की प्रवृत्ति के पूर्व मुद्गरादि का संनिधान अवर्जनीय होने से सम्पन्न होता है, न कि घटक्षणजनक-शक्ति की निवृत्ति में और कपालक्षणजनकशक्ति की प्रवृत्ति में मुद्गरादि की अपेक्षा होती है"-तो इस कथन पर व्यङ्ग करते हुये व्याख्याकार ने कहा कि-यह कथन बुद्धदर्शन की अच्छी जानकारी का सूचक है। जिसके फलस्वरूप अग्नि आदि में पाकार्थी की नियत प्रवृत्ति का परित्याग प्रसक्त होता है क्योंकि नियत अन्वय-व्यतिरेक के निश्चय की अवगणना करने पर अग्नि आदि में पाकादि की भी कारणता का निश्चय नहीं हो सकता।

इसलिये मुद्गरादि से घटसामर्थ्य अर्थात् घटक्षण के जनन के सामर्थ्य का व्याघात न मानने पर यह आपत्ति अनिवार्य होगी कि अन्तिम घटक्षण के घटजननस्वभाव का यदि व्याघात न होगा तो उसमें घटक्षणउपहितत्व यानी समान सन्तान में घटक्षणाऽव्यवहितपूर्वत्व होगा। अर्थात् उपान्त्य क्षण के समान अन्त्यक्षण के बाद भी घटक्षण की ही आपत्ति होगी।

अथ घटाऽकुर्वद्रूपत्वादेवान्त्यघटक्षणो घटं न कुरुते, कपालकुर्वद्रूपत्वात् तु कपालं कुरुत इति चेत् ? तथापि मुद्गरादिसंनिधावेव तत्कुर्वद्रूपमिति "तद्धेतु०" इति न्यायात् स्थिरोऽपि तत्संनिहित एव कपालादिजननस्वभावो नश्वरस्वभावो वा घटोऽस्त्विति किमनुपपन्नम् ? ॥८॥

[मुद्गरादि के संनिधान विना कुर्वद्रूपत्व का असंभव]

यदि यह शंका की जाय कि-'अन्त्य घटक्षण में मुद्गरादि से घटजननस्वभाव का व्याघात नहीं होता अपितु उसमें घटकुर्वद्रूपत्व का अभाव होता है इसीलिये वह घट का जनक नहीं होता। और कपाल का जनक इसलिये होता है कि उस में कपालकुर्वद्रूपत्व होता है'-तो यह ठीक नहीं क्योंकि-जब मुद्गरादि के संनिधान में ही कपालकुर्वद्रूप घटक्षण का अस्तित्व होता है तब यह मानना होगा कि मुद्गरादि का संनिधान ही कपालकुर्वद्रूप का कारण है। ऐसी स्थिति में 'तद्धेतुतः एव कार्यसम्भवे किं तेन ?'=तत् के हेतु से कार्य सम्भव होने पर तत् को कार्य का कारण मानना उचित नहीं है क्योंकि तत् का हेतु अवश्यक्लृप्त कार्यनियतपूर्ववर्ती होता है, अत एव उससे तत् अन्यथा सिद्ध हो जाता है।' इस न्याय से मुद्गरादिसंनिहित स्थिर घट को भी कपालजननस्वभाव अथवा नश्वरस्व-भाव मान लेने में कोई अनुपपत्ति न होने से घटादि की क्षणिकता नहीं सिद्ध हो सकती ॥८॥

९वीं कारिका में बौद्धों के अन्य अविचारित कथन को प्रदर्शित कर उसकी अयुक्तता बतायी गई है—

एवं चान्यदप्यसमीक्षिताभिधानं परस्येति दर्शयन्नाह—

मूलम्—'अस्थानपक्षपातश्च हेतोरनुपकारिणः ।
अपेक्षायां नियुङ्क्ते यत्कार्यमे'तद् वृथोदितम् ॥९॥

अस्थानपक्षपातश्च-अयमयुक्तापेक्षात्मा हेतोः=घटादिजनकस्य यदनुपकारिणो मुद्गरा-देरपेक्षायां नियुङ्क्ते कार्यम्=घटादि, तदपेक्षस्यैव नश्वरत्वाभ्युपगमात् । तदुक्तम्-"हेतवश्चानु-पकार्यपेक्षायां नियुञ्जानाः स्वकार्यम्, आत्मनोऽस्थानपक्षपातित्वमाविष्कुर्युः" इति । एतद् वृथोदितं शुभगुप्तादिना ॥ ९ ॥

[बौद्ध शुभगुप्तादि के द्वारा पक्षपात का आक्षेप]

स्थिर भी घटादि मुद्गरसंनिहित होकर नश्वरस्वभावनाश का जनक हो सकता है-इस जैनोक्ति के सम्बन्ध में बौद्धों का यह आक्षेप है कि-'घटादि को अनुपकारी मुद्गरादि की अपेक्षा से नाश-कार्य का जनक मानना अनुचित पक्षपात है। क्योंकि जैसे मुद्गर घट का अनुपकारी है उसी प्रकार पट-कटादि भी घट के अनुपकारी है फिर भी घट पट-कटादि की अपेक्षा न कर अपने नाशरूप कार्य के लिये मुद्गरादि की ही अपेक्षा करता है। इस आक्षेप की पुष्टि में व्याख्याकार ने शुभ-गुप्त का एक वचन उद्धृत किया है जिसका अर्थ यह है कि-'हेतु यदि अनुपकारी की अपेक्षा कर के अपने कार्य का उत्पादक होंगे तो स्पष्ट ही वे अपने अस्थान पक्षपातिता के सूचक होंगे।'-ग्रन्थकार की दृष्टि से यह आक्षेप व्यर्थ है ॥९॥

१० वीं कारिका में उक्त आक्षेप की व्यर्थता का उपपादन किया गया है—

कथम् ? इत्याह—

मूलम्—यस्मात्तस्याप्यदस्तुल्यं विशिष्टफलसाधकम् ।
भावहेतुं समाश्रित्य ननु न्यायान्निदर्शितम् ॥१०॥

यस्मात् तस्यापि=परस्यापि एतत्=अस्थानपक्षपातापादनम् तुल्यं विशिष्टफलसाधकं=विजातीयकपालादिक्षणजननस्वभावम्, भावहेतुं=घटादिकं समाश्रित्य, ननु=निश्चितम् न्यायाद् निदर्शितम्=तुल्य योगक्षेमतयोपदर्शितम् । एतदुक्तं भवति—अस्थानपक्षपातित्वं यदि दण्डादिनाऽनश्वरस्वभावस्यैव घटस्योत्पादितत्वाद् नश्वरस्वभावस्य तस्य मुद्गरादिनैव जनितत्वाद् घटमात्रे दण्डादीनां व्यभिचारित्वम्, तदा तवापि तस्य दण्डादिनाऽसमानक्षणाऽजननस्वभावस्यैवोत्पादितत्वादतादृशस्य तस्यान्यत एवोत्पत्तेस्तुल्यम् । अथ 'तत्रान्येन तज्जननस्वभावत्वेन कृतेत्यदोषः', तदा ममापि तन्निवृत्तिस्वभावत्वेन कृतेत्यदोष इति । एवं 'स्वकार्यकारित्वमेव मुद्गरादेर्न तु स्वकारित्वम्' इत्ययमपि परिहारस्तुल्य इत्यादि सूक्ष्मधियाऽभ्यूहनीयम् ॥ १० ॥

[अस्थानपक्षपात बौद्धमत में अनिवार्य—उत्तर]

बौद्ध ने उक्त जैनोक्ति के सम्बन्ध में जो अस्थान पक्षपात का आपादन किया है वह बौद्धमत में भी समान है । क्योंकि बौद्धमत में भी यह माना जाता है कि अन्त्यघटक्षण अनुपकारी मुद्गरादि की अपेक्षा से विजातीयकपालादिक्षण का जनक होता है । इस प्रकार दोनों मतों में योगक्षेम को तुल्यता न्यायपूर्वक निश्चितरूप से बता दी गई है । तात्पर्य यह है कि—

यदि बौद्ध की ओर से अस्थानपक्षपातता इस रूप में प्रतिपादित की जाय कि-"दण्डादि से अनश्वरस्वभाव ही घट उत्पन्न होता है और नश्वरस्वभाव घट मुद्गरादि से ही उत्पन्न होता है । जैन की ओर से इस प्रकार का विचार प्रस्तुत होने पर घटमात्र में दण्डादिकारणता का व्यभिचार होगा—यह व्यभिचार ही अस्थानपक्षपातित्व है"—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार की अस्थानपक्षपातिता बौद्धमत में भी समान है । जैसे, बौद्धमत में यह माना जाता है कि दण्डादि से कपाल आदि असमान क्षण के अजननस्वभाव ही घट की उत्पत्ति होती है और कपालादिविलक्षणक्षणजनक घट की उत्पत्ति मुद्गरादि से ही होती है अतः इस मत में भी घटमात्र में दण्डादि कारणता में व्यभिचार अपरिहार्य है ।

[मुद्गरादि से तत्स्वभावता का आधान उभयत्र तुल्य]

यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि—'मुद्गरादि से कपालजननस्वभावघटक्षण की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु अपने हेतु से उत्पन्न होनेवाले अन्त्य घटक्षण में कपालजननस्वभावता का आधान होता है । अतः उक्त व्यभिचार दोष नहीं हो सकता ।'—तो इसके उत्तर में जैन की ओर से भी यह कहा जा सकता है कि जैन मत में भी मुद्गरादि से नश्वरस्वभाव घट की उत्पत्ति नहीं

होती अपितु स्थिर घट में नश्वर स्वभावता का आधान होता है। अतः जैन मत में उक्त व्यभिचार रूप दोष नहीं हो सकता। यदि बौद्ध की ओर से उक्त दोष का परिहार यह कहकर किया जाय कि–मुद्गरादि घटादि के कार्य का जनक होता है घटादि का जनक नहीं होता-तो यह परिहार भी जैन मत में समानरूप से सम्भवित है। अतः इस प्रकार अपने मत में प्रयुक्त दूषण का जैसा परिहार बौद्ध मत में होगा उसी प्रकार के दूषण का परिहार सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने पर जैन मत में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः मुद्गरादि सन्निहित घटादि को नाश का जनक मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती ॥१०॥

११वीं कारिका में यह बात कही गई है कि जैन मत में जैसे पूर्वोक्त दोष युक्तिसंगत नहीं होते उसी प्रकार अन्य दोष भी युक्तिसंगत नहीं हो सकते—

इत्थं चान्यदप्यत्र दूषणं न युक्तमित्याह—

मूलम्—एवं च व्यर्थमेवेह व्यतिरिक्तादिचिन्तनम् ।
नाश्यमाश्रित्य नाशस्य क्रियते यद्विचक्षणैः ॥११॥

एवं च नाश्यं घटादिकमाश्रित्य नाशस्य विचक्षणैर्व्यतिरिक्तादिचिन्तनं यत् क्रियते तदपीह=नाश्यविचारे व्यर्थम्, भावतुल्यत्वात्। तथाहि–परेषामिदमाकूतं यद् नाशो नाश्यादतिरिच्यते, न वा ?। अन्त्ये भाव एव नाशः, स च सहेतुक एवेति न परेषां साध्यसिद्धिः। आद्ये, अग्न्यादेरवस्तुरूपध्वंसोपगमेऽपि काष्ठादेस्तदवस्थत्वात् पुनरुपलब्धिप्रसङ्गः, वस्तुरूपतदुपगमे च काष्ठादेरङ्गारादिकमेव ध्वंसो नापर इत्यत्र किं निबन्धनम् ?। 'तस्मिन् सति तन्निवृत्तिः' इति चेत् ? न, अन्यनिबन्धनाभ्युपगमेनैतदर्थाभावात्।

[नाश्य से नाश के भिन्नाऽभिन्नत्व की चिन्ता व्यर्थ]

नाश्यवस्तु के विचार के संदर्भ में विद्वानों द्वारा नाश के सम्बन्ध में नाश्य के भेदाभेद का जो चिन्तन किया जाता है वह व्यर्थ है क्योंकि-नाश और भाव यानी-उत्पत्ति, दोनों में समानता है। अर्थात्, जैसे यह विचार व्यर्थ है कि भाव=उत्पत्ति भविता=उत्पाद्य से भिन्न है या अभिन्न है, इसी प्रकार नाश-नाश्य से भिन्न है या अभिन्न है यह चिन्तन भी व्यर्थ है। व्याख्याकार ने उक्त विचार की व्यर्थता को स्फुट करने के लिये बौद्धों का अभिप्राय प्रस्तुत करते हुए इस प्रकार [पूर्वपक्ष के] विचार को प्रस्तुत किया है कि–नाश के सम्बन्ध में दो पक्ष हो सकता है। (१) एक यह कि नाश नाश्य से भिन्न माना जाय अथवा तो (२) नाश नाश्य से अभिन्न माना जाय। यहाँ दूसरे पक्ष में उत्तरभाव ही पूर्वभाव का नाश होगा और वह उत्तरभाव तो सहेतुक होता है अत एव उस पक्ष में नाश सहेतुक होने पर भी जैनाभिमत अपेक्षाभेद से स्थिर-नश्वर सहेतुक नाश की सिद्धि नहीं हुई। यदि 'नाश नाश्य से अतिरिक्त होता है'-इस प्रथम पक्ष को स्वीकार किया जायगा तो इस पक्ष में दो विकल्प होंगे। (१) एक यह कि नाश अवस्तुरूप है। (२) दूसरा यह कि वस्तुरूप है। यदि नाश को अवस्तुरूप माना जायगा तो अग्नि आदि से काष्ठादि का नाश मानने पर भी उसके साथ काष्ठादि का विरोध नहीं होगा क्योंकि अवस्तु-भूत नाश से वस्तुभूत काष्ठादि का विरोध होना

सम्भव नहीं है। अतः काष्ठादि का स्वभिन्न अवस्तुभूत विनाश होने पर भी काष्ठादि तदवस्थ रहने से विनाश के पूर्वकाल के समान विनाशकाल में भी काष्ठादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। (२) यदि विनाश वस्तुरूप होगा तो यह प्रश्न उठेगा कि 'काष्ठादि का ध्वंस अङ्गारादि रूप ही होता है घटपटादिरूप नहीं होता है इसका क्या कारण ?' यदि इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाय कि-"अङ्गार आदि के होने पर काष्ठादि की निवृत्ति होती है, घटपटादि के होने पर काष्ठादि की निवृत्ति नहीं होती, अतः काष्ठ की निवृत्ति अङ्गारादिरूप ही है, घटपटादिरूप नहीं है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि काष्ठनिवृत्ति को अङ्गार आदि से भिन्न न मानने पर 'अंगारादि होने पर काष्ठ-निवृत्ति होती है' इस वाक्य का अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता।

किञ्च, एवं भावनिवृत्तावभिधेयायां भावान्तरविधानमभिहितमित्यप्रस्तुताभिधानम्। किञ्च, भावान्तरस्य प्रध्वंसत्वे तद्विनाशाद् घटाद्युन्मज्जनप्रसक्तिः। न च कपालादेर्भावरूपतैव ध्वस्ता न स्वभावरूपतेति नायं दोष इति वाच्यम्, भावान्तररूपस्याभावस्य तदभावे प्रच्युतत्वात्। किञ्च, अभावस्तुच्छैकरूपतयैवानुभूयते, न तु भावरूपानुविद्धः, तस्य च कार्यत्वे हेत्वनन्तरं भवितृत्वेन भावत्वं स्यात्, अभावात्मकतयैवासौ भवतीति च व्याहतमेतत्।

[नाश के पश्चात् घट के पुनः उन्मज्जन की आपत्ति]

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि भावनिवृत्ति के प्रतिपादन के प्रसंग में उसे भावान्तर के रूप में विधान करने से अप्रस्तुत के अभिधान की प्रसक्ति होती है। और दूसरी बात यह है कि यदि प्रध्वंस को भावान्तररूप माना जायगा तो कपालादिरूप घटप्रध्वंस का विनाश होने पर घटादि के उन्मज्जन (पुनर्जन्म) की आपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि-कपालादि के नाशक से कपालादि की भावरूपता ही नष्ट होती है, अभावरूपता नहीं ध्वस्त होती, अतः भावरूप से कपालादि का नाश होने पर भी अभावरूप से कपालादिरूप घटध्वंस विद्यमान रहता है अतः घटादि के उन्मज्जन की आपत्ति नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव यानी विनाश यदि भावान्तररूप होगा तो भावान्तर का विनाश होने पर तद्रूप अभाव यानी विनाश का भी विनाश अवश्य होगा। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि अभाव का अनुभव तुच्छरूप में ही होता है, भावरूप से अनुविद्ध अभाव का अनुभव नहीं होता। अतः उसे भावस्वरूप मानना उचित भी नहीं है। यह भी विचारणीय है कि अभाव यानी विनाश को यदि कार्यरूप माना जायगा तो हेतु के अनन्तर भवनशील होने से वह भावात्मक हो जायगा। फिर, तुच्छरूप में उसका अनुभव न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि-"विनाश यह कार्यरूप होने पर भी अभावात्मकरूप में ही हेतु द्वारा उत्पन्न होता है।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'विनाश अभावात्मक भी है और हेतु के अनन्तर अभावात्मकरूप से भवनशील होता है' यह वचन व्याहत है, क्योंकि जो अभावात्मक है उसे हेतु के पश्चात् 'भवति' इस रूप से व्यपदिष्ट नहीं किया जा सकता।

अपि च, यदि हेतुमान् विनाशस्तदा तद्भेदादात्मभेदं किं नानुभवेत्? । दृष्टो हि घटादीनां कार्यरूपाणां कारणभेदाद् भेदः। ध्वंसस्य त्वग्न्यभिघातादिहेतुभेदेऽपि न भेदोऽनुभूयते, सर्वत्र विकल्पज्ञाने तुल्यरूपस्यैवाभावस्यावभासनात्। किञ्च, अस्य हेतुमत्त्वे विनाशप्रसंगो

दुरुद्धरः, तद्विनाशहेत्वदर्शनात् । तदविनाशे बुद्धयादीनामप्यनाशप्रसङ्गः । 'कार्यत्वेन प्रतियोगितया नाशहेतुत्वाद् बुद्धयादीनां विनाशः कल्प्यते' इति चेत् ? तुल्यमिदमन्यत्र । 'भावकार्यत्वेनैव तथात्वाद् न दोष' इति चेत् ? न, भावत्वप्रवेशे गौरवात्, प्रागभावासंग्रहाच्च । यस्तु घटनाशनाशादिधारामेव घटविरोधिनीमङ्गीकुरुते तस्य 'घटनाशो नष्टः' इत्यपि धीदुर्निवारा । तस्माद् मुद्गरादेः कपालाद्युत्पत्त्यन्तरा कस्यचिद् ध्वंसस्याऽदर्शनादकिञ्चिद्रूपतयानुभूयमानोऽसन्नेवाऽयम्, न तु सहेतुकः, अनन्तदद्धेत्वादिकल्पने गौरवाच्चेति ।

यह भी द्रष्टव्य है कि विनाश यदि सहेतुक होगा तो हेतुभेद से उसके नानास्वरूप के अनुभव की प्रसक्ति होगी । क्योंकि कारण के भेद से घटादिरूप कार्यों में भेदानुभव इष्ट है किन्तु ध्वंस का अग्नि और पशु आदि के अभिघात इत्यादि रूप विभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होने पर भी उसमें भेदानुभव नहीं होता किन्तु किसी भी हेतु से काष्ठ का ध्वंस होने पर समानरूप से ही 'काष्ठ नष्ट हो गया' इस प्रकार काष्ठ विनाश की प्रतीति होती है ।

[सहेतुक पक्ष में नाश के नाश की आपत्ति]

इस के अतिरिक्त यह भी दोष है कि-यदि विनाश सहेतुक होगा तो उसके विनाश की आपत्ति भी अपरिहार्य होगी । यहाँ इष्टापत्ति नहीं की जा सकती क्योंकि विनाश का हेतु उपलब्ध नहीं होता । तथा सहेतुक होने पर भी यदि विनाश का विनाश न होगा तो बुद्धयादि के भी विनाशाऽभाव की प्रसक्ति होगी । यदि यह कहा जाय कि-'प्रतियोगिता सम्बन्ध से नाश के प्रति कार्य कारण होता है अतः बुद्धयादिरूप कार्य के विनाश की कल्पना की जाती है' तो यह युक्ति विनाश के सम्बन्ध में भी समान है क्योंकि विनाश भी कार्य है । 'प्रतियोगिता सम्बन्ध से विनाश के प्रति भाव कार्य कारण है ऐसा मानने पर उक्त दोष नहीं हो सकता'-यह भी ठीक नहीं है क्योंकि कारणतावच्छेदक के शरीर में भावत्व का प्रवेश करने में गौरव होगा और उसका प्रवेश करने पर प्रागभाव का नाश नहीं हो सकेगा । क्योंकि कारणतावच्छेदक कुक्षि में भावत्व का प्रवेश न करने पर उत्पाद्य और परिपाल्य उभय साधारण कार्यस्वरूप से कार्य को प्रतियोगिता सम्बन्ध से नाश का कारण मानने पर, प्रागभाव का नाश तो हो सकता है किन्तु कारणतावच्छेदक कुक्षि में भावत्व का प्रवेश करने पर उसका भी नाश न हो सकेगा ।

[घटनाश-नाश की परम्परा मानने पर आपत्ति]

जो कोई इस सम्बन्ध में यह कहता है कि-जैसे घटनाश घट का विरोधी है वैसे घटनाश-नाशादि की धारा भी घट की विरोधी है । अतः नाश को सहेतुक और नश्वर मानने पर घटनाश का नाश होने पर भी घटादि के पुनः उन्मज्जन की आपत्ति नहीं हो सकती'-उसके मत में 'घटनाशो नष्टः' इस बुद्धि का परिहार दुष्कर होगा । अतः निष्कर्ष यह है कि मुद्गरादि से कपालादि की उत्पत्ति होने पर मुद्गरसंनिधान और कपालोत्पत्ति के मध्य में ध्वंस नामक किसी भी अर्थ का दर्शन न होने से ध्वंस के बारे में यही धारणा प्रमाणित होती है कि ध्वंस अकिञ्चित् रूप=तुच्छ रूप से अनुभूत होने वाला असत् पदार्थ है । अतः वह सहेतुक नहीं है । सहेतुक मानने पर उसके हेतु और उसके नाश के हेतु आदि की कल्पना करने में महान् गौरव होगा ।"—

अत्र ब्रूमः-अंगारादिसदंशानुविद्धासदंशरूपायाः काष्ठादिनिवृत्तेरभ्युपगमे किं दूषणम्! 'काष्ठादेरङ्गारादिकमेव ध्वंसो नापरः इत्यत्र किं नियन्धनम्?' इत्यत्र 'अङ्गारादिरूपध्वंसे काष्ठादिनिरूपितत्वे किं प्रमाणम्?' इति प्रश्ने तत्प्रतियोगिकत्वेनानुभवस्यैवोत्तरत्वात्। 'अङ्गारादेस्तद्ध्वंसत्वे किं मानम्?' इति प्रश्ने च 'तस्मिन् सति तन्निवृत्तिः' इत्येवोत्तरम्, 'अङ्गारादिकं काष्ठध्वंसः, काष्ठानुपलब्धिनियतोत्पत्तिककाष्ठपरिणामत्वात्, काष्ठचूर्णवत्' इत्यनुमानात्। 'अन्यस्य तथात्वं किं न भवति?' इत्यत्र च स्वभाव एव नियामकः। 'कपालस्वरूपानुभवे घटनिवृत्त्यननुभवाद् न तद्रूपा तन्निवृत्तिः' इति चेत्? न, कपालोत्पादस्याऽप्येवमतद्रूपत्वापत्तेः। 'कपालाद्यभिन्नायां निवृत्तौ, उत्पत्ताविव घटीयत्वं न स्यादि'ति चेत्? न, 'घटादुत्पन्नः' इत्युत्पत्तौ घटावधिकत्ववद् 'घटस्य नाशः' इत्यत्र निवृत्त्यंशेऽपि घटप्रतियोगिकत्वेऽविरोधात्, एकान्त एव तत्प्रसरात्। एवं चाऽप्रस्तुतताभिधानमपि निरस्तम्, निवृत्त्यंशस्याधिकत्वात्। **एतेन** भावान्तररूपत्वे ध्वंसस्य तन्नाशे प्रतियोग्युन्मज्जनमपि **निरस्तम्**, कपालद्रव्यस्य भावात्मकरूपान्तरपरिग्रहेऽपि निवृत्त्यात्मकरूपान्तराऽपरिग्रहात्। 'कपालात्मना भङ्गुरं कपालं घटनिवृत्त्यात्मनापि किं न भङ्गुरम्?' इति चेत्? कपालैक्योपलम्भजनकदोषात्मना निवर्तमाना कपालक्षणसंततिर्मृदैक्योपलम्भजनकदोषात्मनापि किं न निवर्तते? इति वक्तव्यम्। 'सा संततिः प्रदीर्घे'ति चेत्? निवृत्तसंततिरपि तथा। इयांस्तु विशेषः-यदियं निवृत्त्यात्मना प्रत्यभिज्ञाविशेषात्मकमृदविखण्डैकतां, प्रतिकपालादिविशेषं च भावात्मना सखण्डैकतामनुभवतीति। 'कपालात् पृथक्कृत्य 'घटनाशं कपालं नष्टं' इतिवद् 'घटनाशो नष्टः' इति किं न प्रयोगः?' इति चेत्? न, यथा मृद्द्रव्यं नष्टमिति। 'विवक्षाभेदेन तत्र योग्या-योग्यत्वमि'ति चेत्? तुल्यमेतदन्यत्र।

[बौद्ध प्रतिपादित प्रश्नों का समाधान]

बौद्ध द्वारा उद्भावित उक्त दोषों के सम्बन्ध में जैन की ओर से क्रम से ये उत्तर दिये जा सकते हैं। उत्तर का उपक्रम करते हुये जैन की ओर से यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि-काष्ठादि की निवृत्ति को अङ्गारादि के सदंश से मीलित अङ्गारादि के असदंशरूप मानने में क्या दोष है? यह इसलिए मानते हैं कि यह प्रतीति होती है कि अङ्गार अब अङ्गाररूप से सत् है और काष्ठरूप से असत् है। तो यह प्रश्न है कि-अङ्गार के सदंश मीलित असदंशरूप काष्ठनिवृत्ति को मानने में क्या दोष? यदि यह कहा जाय कि-"अङ्गारादि ही काष्ठादि का ध्वंस है, घटपटादि नहीं-इसमें क्या हेतु है-इस प्रश्न का समाधान न हो सकना ही दोष है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रश्न का स्वरूप यदि ऐसा हो कि 'अङ्गारादिरूप ध्वंस काष्ठादि निरूपित होने में क्या प्रमाण है?' तो इसका उत्तर यह है कि अङ्गारादिरूप ध्वंस का काष्ठादिप्रतियोगिकत्वरूप से अनुभव ही उक्त ध्वंस के काष्ठादिनिरूपित होने में प्रमाण है। यदि उक्त प्रश्न का स्वरूप यह हो कि-'अङ्गारादि की काष्ठ-

ध्वंसरूपता में क्या प्रमाण है ?' तो इस का उत्तर यह है कि अङ्गारादि के होने पर काष्ठ की निवृत्ति होना ही प्रमाण है। काष्ठनिवृत्ति का अर्थ है ऐसे काष्ठपरिणाम की उत्पत्ति जो काष्ठानुपलब्धि नियत होती है। इस प्रकार अङ्गारादि की काष्ठध्वंसरूपता में प्रमाणरूप से यह अनुमान प्रस्तुत किया जा सकता है कि-'अङ्गारादि काष्ठ का ध्वंस है' क्योंकि वह काष्ठ का ऐसा परिणाम है जिस की उत्पत्ति काष्ठानुपलब्धिनियत होती है। जो भी काष्ठपरिणाम इस प्रकार का होता है वह काष्ठध्वंसरूप होता है जैसे काष्ठ का चूर्ण। 'काष्ठचूर्ण की काष्ठध्वंसरूपता सर्वजन मान्य है। इसलिये उस दृष्टान्त से उक्त हेतु द्वारा अंगारादि में काष्ठध्वंसरूपता की सिद्धि निर्बाध है।

इसी प्रकार, उक्त प्रश्न का स्वरूप यदि यह हो कि 'अङ्गारादि से भिन्न द्रव्य काष्ठध्वंसरूप क्यों नहीं होता ?' तो इस का उत्तर यह है कि इसका नियामक स्वभाव है। यदि यह कहा जाय कि-"कपालस्वरूप का अनुभव होने पर भी घटनिवृत्ति का अनुभव नहीं होता अत एव घटनिवृत्ति कपालस्वरूप नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि कपाल के स्वरूपानुभव होने पर भी घटनिवृत्तिरूप में अनुभूयमान न होने से यदि घटनिवृत्ति में कपालरूपत्वाभाव माना जायगा तो कपालोत्पाद में भी कपालरूपत्वाभाव की आपत्ति होगी क्योंकि वह भी कपालस्वरूप के अनुभव होने पर भी अनुभूयमान नहीं होता।

[उत्पत्तिवद् निवृत्ति में घट निरूपितत्व की उपपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि "घटनिवृत्ति को कपाल से अभिन्न मानने पर जैसे कपाल से अभिन्न उत्पत्ति में घटीयत्व=घटनिरूपितत्व नहीं होता उसी प्रकार निवृत्ति में भी घटीयत्व नहीं होगा।"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि-'घटादुत्पन्नः कपालः' इस व्यवहार के अनुरोध से जैसे कपाल उत्पत्ति में घटावधिकत्व सिद्ध होता है उसी प्रकार 'कपालः घटस्य नाशः' इस व्यवहार के अनुरोध से कपालात्मक नाश में घटप्रतियोगिकत्वरूप घटीयत्व की सिद्धि में भी कोई विरोध नहीं हो सकता। यदि घटनाश को कपाल से अत्यन्त अभिन्न माना जाता तभी कपाल में घटप्रतियोगिकत्व न होने से तदात्मक नाश में भी घटीयत्वाभाव का प्रसङ्ग होता। किन्तु घटनाश में कपाल का कथञ्चित् भेद-अभेद उभय मान्य होने से भेदांश के द्वारा उसमें घटप्रतियोगिकत्व होने में कोई बाधा नहीं हो सकती इसी प्रकार 'भावनिवृत्ति के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में भाव का विधान करने से अर्थात् घटनिवृत्ति के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में घटनिवृत्ति का कपाल रूप में वर्णन करना यह अप्रस्तुत कथन है' यह दोष भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि घटनाश को कपालात्मक बताने में कपाल का केवल भावांश ही नहीं कथित होता, किन्तु उससे अतिरिक्त घटनिवृत्यंश भी कथित होता है। आशय यह है कि मुद्गर से प्रहत घट से उत्पन्न होने वाला कपाल जैसे एक भावात्मक परिणाम है उसी प्रकार वह दूसरा घटाभावात्मक परिणाम भी है। अतः प्रस्तुत घटनिवृत्ति का भी कथन होने से कपाल का घटनाशात्मना वर्णन अप्रस्तुत अभिधानरूप नहीं कह सकते। इसीलिये यह दोष भी कि-'ध्वंस को भावान्तररूप मानने पर भावान्तर का नाश होने पर ध्वंस का भी नाश हो जाने से प्रतियोगी के उन्मज्जन की आपत्ति होगी'—निरस्त हो जाता है, क्योंकि घटनाशस्वरूप कपालद्रव्य जब अपने कपालभावात्मक रूप का परित्याग कर कपालिका अथवा चूर्ण आदि भावात्मक रूपान्तर का परिग्रह करता है उस समय भी वह अपने घटनिवृत्त्यात्मक रूप को छोडकर घटनिवृत्ति की निवृत्यात्मक रूपान्तर को नहीं प्राप्त करता।

[घट निवृत्तिरूप से कपालभंगापत्ति का उत्तर]

यदि यह प्रश्न किया जाय कि--'कपाल और घटनिवृत्ति दोनों जब अभिन्न हैं तब कपालरूप से उसका भंग होने पर घटनिवृत्तिरूप से भी उसका भंग क्यों नहीं होता ?'–तो इसके उत्तर में प्रतिबन्दी प्रस्तुत की जा सकती है कि बौद्धमत में कपालक्षणसन्तान यह कपाल में ऐक्योपलम्भ का जनक दोषरूप है और मृत्तिका के ऐक्योपलम्भ का भी जनक दोषरूप है क्योंकि उस कपालक्षण-सन्तानकाल में 'तदेवेदं कपालम्' यह उपलम्भ सन्तान के आरम्भ से अन्त तक जैसे होता है उसी प्रकार 'इदं कपालम् मृदेव' इस प्रकार का भी उपलम्भ होता है। किन्तु कपालक्षण-सन्तान के भंग का कारण उपस्थित होने पर उक्त सन्तान कपाल के ऐक्योपलम्भ के जनक दोषरूप से ही निवृत्त होता है किन्तु मृत्तिका के ऐक्योपलम्भ के जनक दोषरूप से निवृत्त नहीं होता क्योंकि कपाल के कपालिका अथवा चूर्णरूप में उत्पन्न हो जाने पर भी मृत्तिका के ऐक्य का उपलम्भ तो होता है। अतः यह प्रश्न बौद्ध मत में भी हो सकता है कि कपालक्षण-सन्तान जब कपालैक्योपलम्भजनक दोष और मृदक्योपलम्भ जनक दोष उभय स्वरूप है तब प्रथम दोषरूप से उस सन्तान की निवृत्ति होने पर द्वितीय दोषरूप से भी उस सन्तान की निवृत्ति क्यों नहीं होती ?

[घटनिवृत्ति संतानरूप से कपाल संतति की चिरकालस्थायिता]

यदि बौद्ध की ओर से इसका यह उत्तर दिया जाय कि 'मृदैक्योपलम्भजनक दोषात्मना यह सन्तति दीर्घकालस्थायिनी होती है अतः कपालैक्योपलम्भजनक दोषरूप से उसकी निवृत्ति होने पर भी मृदैक्योपलम्भजनक दोष रूप से उसकी निवृत्ति नहीं होती'–इस प्रकार का उत्तर घटनिवृत्ति को कपाल के भावांश और घट के अभावांश से अनुविद्ध मानने के पक्ष में भी दिया जा सकता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि घटनिवृत्ति के सन्तानरूप से कपालसन्तति दीर्घकालस्थायिनी होती है। अत एव कपालात्मकभावसन्तानरूप से उसकी निवृत्ति होने पर भी घटनिवृत्ति-आत्मक अभाव-सन्तानरूप से उसकी निवृत्ति नहीं होती। कपालसन्तति को भावात्मक संतति और अभावात्मक संतति उभयस्वरूप मानने में अन्तर यह है कि उक्त सन्तति निवृत्त्यात्मना मृत्तिका के साथ अखण्डैकता का अनुभव करती है–जो घटनिवृत्ति के पूरे समय में घट के मूलभूत मृत्तिका के जितने भी परिणाम होते हैं उन सभी में मृद्रूपता को बुद्धिरूप प्रत्यभिज्ञाविशेषात्मक है, तथा उक्त सन्तति भावात्मना सखण्डैकता का अनुभव करती है क्योंकि--कपाल के आरम्भ से अन्त तक 'तदेवेदं कपालम्' इस प्रकार से तत् और इदंरूप में सखण्डता को अवभासित करती हुई एक कपालात्मकता को ग्रहण करती है।

['घटनाशो नष्टः' इस व्यवहार की आपत्ति का उत्तर]

यदि यह प्रश्न किया जाय कि–'घटनाश और कपाल को अभिन्न मानने पर कपाल भंग होने पर जैसे 'घटनाशात्मक कपाल नष्ट हो गया' यह व्यवहार होता है उसी प्रकार कपाल को छोडकर 'घटनाशो नष्टः' यह व्यवहार क्यों नहीं होता है ?' तो इसका उत्तर यह है कि जैसे मृद्द्रव्य और कपाल के अभिन्न होने पर भी कपालभंग होने पर 'कपालात्मक मृद्द्रव्य नष्ट हुआ' यह व्यवहार होता है किन्तु कपाल को छोडकर 'मृद्द्रव्य नष्ट हो गया' इस प्रकार व्यवहार नहीं होता, उसी प्रकार 'घटनाशो नष्टः' यह व्यवहार नहीं होता है।

आशय यह है कि घटनाश और कपाल में यद्यपि अभेद है किन्तु घटनाशत्व और कपालत्वरूप से उसमें भेद भी है। क्योंकि वह कपालस्वरूप से ही नाश्य है, घटनाशस्वरूप से नाश्य नहीं है। जैसे कपाल और मृद्द्रव्य में अभेद होने पर भी मृद्द्रव्यत्व और कपालत्वरूप से भेद होता है और कपाल कपालत्वरूप से ही नाश्य होता है मृद्द्रव्यत्वेन नाश्य नहीं होता। कपालात्मक मृद्द्रव्य का नाश होने पर भी 'कपालात्मक मृद्द्रव्य नष्ट हुआ' यह व्यवहार होता है और 'मृद्द्रव्य नष्ट हुआ' यह व्यवहार क्यों नहीं होता है-इस प्रश्न का उत्तर यदि बौद्धों की ओर से दिया जाय कि "कपाल का नाश कपाल और मृद्द्रव्य उभयरूप में ही हो जाता है किन्तु कपाल में नष्टत्व की विवक्षा कपालत्वरूप से ही होती है मृद्द्रव्यत्वरूप से नहीं होती। अत एव 'मृद्द्रव्य नष्ट हुआ' यह व्यवहार अयोग्य और 'कपालद्रव्य नष्ट हुआ' यह व्यवहार योग्य माना जाता है।" तब तो इस प्रकार का उत्तर जैन की ओर से भी दिया जा सकता है कि-"घटनाश और कपाल अभिन्न होने से कपाल घटनाशत्व और कपालत्व उभयरूप से नष्ट होता है फिर भी कपाल में कपालत्वरूप से ही नष्टत्व की विवक्षा होती है, घटनाशत्वरूप से नहीं। अत एव 'घटनाशात्मक कपाल नष्ट हुआ' यह व्यवहार योग्य और 'घटनाश नष्ट हुआ' यह व्यवहार अयोग्य होता है।"

यहाँ यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि जैन का यह उत्तर मात्र प्रतिबन्दी के रूप में प्रस्तुत हुआ है, सिद्धान्तरूप में नहीं, क्योंकि घटनाश और कपाल के ऐक्य पक्ष में भी कपाल का कपालात्मरूप से ही नाश जैनमत में मान्य है घटनाशरूप से मान्य नहीं है।

यत्तु-'तुच्छैकरूपतयाऽनुभूयतेऽभावः' इत्युक्तम्, तदनभ्युपगमोपहतम्, उभयरूपस्यैव तस्यानुभवात्। 'अभावांशानुभवकाले भावत्वेनाऽननुभूयमानत्वं तुच्छत्वमि'ति चेत् ? भावांशानुभवकालेऽभावत्वेनाऽननुभूयमानत्वमपि किं न तथा ? । 'शशविषाणादिवद् निःस्वभावतयाऽनुभूयमानत्वं तुच्छत्वं' चेत् ? न, असिद्धेः, तत्तुल्यत्व उत्पादादियोगितयाऽननुभवप्रसङ्गात्।

घटादिनिवृत्ति को सदंश-असदंश उभयरूप से अनुविद्ध मानने पर जो यह दोष दिया गया है कि-'अभाव एकमात्र तुच्छरूप में अनुभूत होता है अतः उसको सदंश से अनुविद्ध नहीं माना जा सकता'-वह अनभ्युपगम से बाधित है। अर्थात् 'अभाव का एकमात्र तुच्छरूप में ही अनुभव होता है' ऐसा जैनों का अभ्युपगम(=मत)नहीं है। किन्तु सत् और असत् उभयात्मरूप से अभाव का अनुभव जैन मत का मान्य है। अत उक्त अस्वीकृत अनुभव के आधार पर अभाव में सदंशानुविद्धता का निराकरण नहीं किया जा सकता।

[तुच्छत्व के विविध विकल्प का निराकरण]

यदि यह कहा जाय कि-'अभावांश के अनुभव काल में भावत्वरूप से अभाव का अनुभव न होना ही अभाव की तुच्छता है'-तो यह भी क्यों नहीं कहा जा सकता कि भावांश के अनुभव काल में अभावत्वरूप से अनुभव न होना ही तुच्छता है और ऐसा होने पर भाव भी तुच्छ हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि-'जैसे शशविषाण आदि निःस्वभावतया अनुभूयमान होता है उसीप्रकार अभाव भी निःस्वभावतया अनुभूयमान होता है। निःस्वभावतया अनुभूयमानता ही तुच्छता है'- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अभाव का निःस्वभावतया अनुभव असिद्ध है। यदि शशविषाणादि के सादृश्य से

अभाव का निःस्वभावतया अनुभव माना जायगा तो जैसे शशविषाणादि का उत्पत्त्यादिमद्रूपेण अनुभव नहीं होता उसी प्रकार अभाव का भी उत्पत्ति आदि मद्रूपेण अनुभव नहीं हो सकेगा।

किञ्च, अयमीदृशः सन् मुद्गरादिव्यापारानन्तरमेव कथमुपलभ्यते, नान्यदा ? इति। 'असतोऽपि शुक्तौ रजतादेः शुक्तिभ्रमदशायामेव दर्शनवदसन्नपि घटध्वंसः परैस्तद्धेतुत्वाभिमतानां समवधान एवोपलभ्यत' इति चेत् ? नन्वेवमनन्यथासिद्धान्वय-व्यतिरेकप्रतियोगिमुद्गरादिजन्यत्वस्य घटध्वंसेऽपलापे घटादेरप्यसत एव दण्डादिसमाजे भानोपपत्तावपलापप्रसङ्गः। न चेष्टापत्तिरत्र योगाचारस्येति वाच्यम्, ज्ञानाकारस्यापि घटादेरसत एव तदा स्फुरणापत्तेः। घटाद्यर्थिप्रवृत्त्याद्यन्यथानुपपत्त्या घटादेः सत्त्वोपगमे घटध्वंसाद्यर्थिप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या घटध्वंसादेरपि सत्त्वं किं नेष्यते ?।

[नाश में मुद्गरादिहेतुता अनिवार्य]

यह भी विचारणीय है कि-यदि विनाश अहेतुक है तो मुद्गरादि के व्यापार के अनन्तर ही क्यों उपलब्ध होता है ? उसके पूर्व भी क्यों उपलब्ध नहीं होता ? इस प्रश्न का बौद्ध के मत में कोई समाधान नहीं हो सकता। यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-'जैसे शुक्ति में असत् भी रजतादि का सब काल में दर्शन नहीं होता किन्तु शुक्तिभ्रम यानी शुक्तिरजतभ्रम दशा में ही उसका दर्शन होता है उसी प्रकार घटध्वंस के असत् होने पर भी अन्यवादियों द्वारा ध्वंस के हेतु माने जाने वाले पदार्थों का समवधान होने पर ही उपलब्ध होता है'-यह उत्तर ठीक नहीं हो सकता क्योंकि घटध्वंस का मुद्गरादि के साथ अनन्यथा सिद्ध अन्वयव्यतिरेक होने पर भी यदि घटध्वंस को असत् मानकर उसमें मुद्गरादिजन्यत्व का अपलाप किया जायगा तो घटादि को भी असत् मानते हुये दण्ड आदि के समवधान में उसके दर्शन की उपपत्ति करके घट आदि में दण्डादिजन्यत्व का भी अपलाप किया जा सकता है। घटपटादि बाह्यार्थ का अपलापी योगाचार वादी इसमें इष्टापत्ति नहीं कह सकता क्योंकि उनके मत में भी घटाकारवद् असद् ही ज्ञानाकार के स्फुरण यानी प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। और उसे उनके मत में इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि योगाचार मत में ज्ञान भिन्न घटादि की ही असत्ता मानी जाती है, ज्ञानाकार घटादि की सत्ता तो उन्हें भी मान्य है। उक्त आपत्ति के परिहार के लिये बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'घटाद्यर्थी पुरुष की दण्डादि के ग्रहण में नियमतः प्रवृत्ति होती है यह प्रवृत्ति घटादि को दण्डादिजन्य न मानने पर नहीं हो सकती। अत एव दण्डादिजन्य घटादि की सत्ता आवश्यक है'-तो इसी प्रकार घटध्वंस के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि 'घटध्वंसार्थी पुरुष की मुद्गरादि के ग्रहण में नियम से प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति भी घटध्वंस को मुद्गरादिजन्य न मानने पर नहीं हो सकती। अतः मुद्गरादिजन्य घटध्वंसादि की भी सत्ता क्यों न मानी जाय ? !'

यदपि 'भवितृत्वेऽभावस्य भावत्वं स्यात्' इति। तदप्ययुक्तम् अभावप्रत्ययविषयत्वेन भवितृत्वेऽप्यभावरूपत्वात्, यथा भवितृत्वेनाविशेषेऽपि घट-पटयोः 'घटोऽयम्' 'पटोऽयम्' इति विभिन्नधीविषयत्वाद् विशेषस्तथा भवितृत्वेनाविशेषेऽपि भावाऽभावयोः

'अस्ति'-'नास्ति' इति धीविषयत्वेन विशेषसंभवात्। यदपि 'अभावात्मकतयैव चासौ भवतीति च व्याहतमेतत्' इति-तदपि तुच्छम्, अभावपदस्याऽभवनरूपक्रियार्थत्वाभावात्, भावत्वस्य भावपदस्येवाभावत्वस्यैवाभावपदस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्; अन्यथा 'भावो भवति' इति 'भवनं भवति' इतिवद् निराकाङ्क्षं स्यात्। अथ 'नास्ति' इति धीविषयत्वादेव शशविषाणादिवद् न नाशः कार्य इति चेत्? 'अस्ति' इति धीविषयत्वादाकाशादिवद् घटादिरपि न तथा स्याद्; हेत्वन्वय-व्यतिरेकानुविधानं चोभयत्र तुल्यमिति।

[अभाव भाव हो जाने की आपत्ति का प्रतिकार]

बौद्ध की ओर से अभाव को सहेतुक मानने पर जो यह दोष दिया गया है कि-'अभाव को भवनशील मानने पर वह भावरूप होगा अर्थात् अभाव को हेतुव्यापार के अनन्तर भविता यानी भवनशील मानने पर अभाव भावरूप हो जायगा'-यह दोष भी उचित नहीं है क्योंकि अभाव भवनशील होने पर भी अभाव प्रतीति का विषय होने से उसकी अभावरूपता में बाधा नहीं हो सकती। आशय यह है कि जैसे घट और पट दोनों ही भावशील होने से समान है फिर भी 'यह घट है' और 'यह पट है' इस प्रकार विभिन्न ज्ञान के विषय होने से उनमें घटत्व-पटत्व इन विशेषरूपों की सिद्धि होती है उसी प्रकार भाव और अभाव दोनों भवनशील होने से समान होने पर भी अस्ति-नास्ति इन विभिन्न ज्ञानों का विषय होने से भाव की सद्रूपता और अभाव की असद्रूपता यानी अभावरूपता इस प्रकार का विशेष निर्विवाद है।

[अभाव और भवनशीलता में कोई विरोध नहीं है]

इसी प्रकार बौद्ध की ओर से अभाव को भवनशीलता मानने पर जो यह दोष दिया गया कि-'घटादि का विनाश अभावात्मकरूप से भवनशील होता है-यह वचन व्याहत है, क्योंकि अभावात्मकता और भवनशीलता में विरोध है।'-तो यह दोष भी तुच्छ है। क्योंकि यह दोष तभी हो सकता है जब भवनरूप क्रिया के विरोधी अभवनरूपक्रिया को अभावपद का अर्थ माना जाय। किन्तु भावत्व जैसे भावपद का प्रवृत्ति निमित्त होता है उसी प्रकार अभावत्वरूप धर्म को अभावपद का प्रवृत्ति निमित्त मानने पर यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि भावत्व और अभावत्व इन धर्मों में विरोध असिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि भावपद का दृष्टान्त उचित नहीं है क्योंकि भावपद का प्रवृत्ति निमित्तभूत भावत्व भी कोई अतिरिक्त धर्म न होकर भवनक्रियारूप ही है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि भवन क्रिया को भावपद का प्रवृत्ति निमित्त मानने पर 'भावः भवति' यह वाक्य भी 'भवनं भवति' इस वाक्य के समान निराकांक्ष हो जायगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'भवनं भवति' इस स्थल में भवनशब्दार्थ में भवति शब्दार्थ भवनक्रिया की आश्रयता का अन्वय मानने में यह वाक्य अयोग्यार्थक होगा और भूधात्वर्थ भवन क्रिया में भवनशब्दार्थ का तादात्म्य से अन्वय मानने पर वाक्य निराकाङ्क्ष होगा। उसी प्रकार 'भावः भवति' इस स्थल में भी भावशब्द को भावप्रत्ययान्त मानने पर उसका अर्थ भवनक्रिया होगा और उसमें भवति शब्दार्थ भवनक्रिया की आश्रयता का अन्वय करने पर वाक्य अयोग्यार्थक होगा तथा

भावशब्द को कर्तृ प्रत्ययान्त मानने पर उसका अर्थ भवनाश्रयरूप भवनकर्त्ता होगा उसमें भवति शब्द के भवनाश्रयता रूप अर्थ का अन्वय मानने पर 'भावो भवति' यह वाक्य भी निराकाङ्क्ष होगा।

['नास्ति' बुद्धि विषयता से अहेतुकता सिद्ध नहीं होती]

यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि–'जैसे शशविषाणादि 'नास्ति' इस बुद्धि का विषय होने से किसी हेतु का कार्य नहीं हो सकता उसी प्रकार नाश भी 'नास्ति' इस बुद्धि का विषय होने से किसी हेतु का कार्य नहीं हो सकता'–तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि–इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि अस्ति इस बुद्धि का विषय होने से जैसे आकाशादि पदार्थ किसी हेतु का कार्य नहीं है इसी प्रकार घटादि भी 'अस्ति' इस बुद्धि का विषय होने से किसी हेतु का कार्य नहीं हो सकता। फलतः नाश के समान घटादि भाव पदार्थों में भी अहेतुकत्व की आपत्ति होगी। इसके उत्तर में यदि कहा जाय कि–'घटादि पदार्थ दण्डादि हेतु के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान करता है अत एव दण्डादि को घटादि का कारण मानना आवश्यक है'–तो यह बात विनाश में भी तुल्य है क्योंकि–घटादि का विनाश भी मुद्गरादि के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान करता है, अतः उसे भी मुद्गरादि का कार्य मानना अपरिहार्य है।

अथ मुद्गराद्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानं कपालजनन उपक्षीणम्, यथा नैयायिकादीनां भूतले घटानयनं भूतलघटसंयोगजनने, तस्य प्राग्वर्तिघटात्यन्ताभावाऽनाशकत्वात्; घटानुपलम्भस्तु तदा* स एव स्वरसतो न भवतीति हेतोरिति चेत्? न, 'स न' इत्यत्र नञ्शब्दवाच्यस्यैवाभावस्याभ्युपगमात्। किञ्च, तदा 'घटो न भवति' इत्येतावन्मात्रं न प्रतीयते, किन्तु 'घटो नष्टः' इति। यदपि 'यदि हेतुमान् विनाशस्तदा तद्भेदादात्मभेदं किं नानुभवेत्?' इत्याद्युक्तम्–तदप्ययुक्तम्, उत्पादेऽप्यस्य पर्यनुयोगस्य समानत्वात्। 'उत्पत्त्याश्रयविशेषादुत्पादविशेष इष्ट एवे'ति चेत्। नाशाश्रयविशेषाद् नाशविशेषोऽपीष्यताम्। 'उत्पादाद्यन्वितधर्मिण एव स्वहेतुजन्यत्वादुत्पादस्य स्वातन्त्र्येणाऽजन्यत्वाद् न विशेषः' इति चेत्? नाशान्वितकपालादिधर्मिण एव मुद्गरादिजन्यत्वाद् नाशस्यापि तथात्वाद् न विशेष इति तुल्यम्।

[मुद्गरप्रहार के पश्चाद् घटाभाव होने से बौद्ध कथन असार]

बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि–"जैसे नैयायिकादि के मत में भूतल में घट का आनयन भूतल के साथ घट का संयोग उत्पन्न कर उपक्षीण हो जाता है, वह प्रथमतः विद्यमान नित्य घटात्यन्ताभाव का नाशक नहीं होगा उसी प्रकार मुद्गरादि के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान कपाल को उत्पन्न कर क्षीण हो जाता है। कपाल के उत्पन्न होने पर जो घट का अनुपलम्भ होता है वह घटनाश की उत्पत्ति से घटाभाव होने के कारण नहीं अपितु उस समय घट का स्वभावतः अभाव हो जाने से होता है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि घट के मुद्गराभिहत होने से कपाल की उत्पत्ति होने पर घट स्वभावतः नहीं होता इस कथन से ही घटाभाव का होना स्वीकृत हो जाता है। इसलिये

* मुद्गरादिना कपालजननकाले।

यह कहना कि मुद्गरादि कपाल को उत्पन्न कर उपक्षीण हो जाने से घटाभाव का जनक नहीं होता- उचित नहीं है। साथ में यह भी ज्ञातव्य है कि घट मुद्गरादि से अभिहत होने के बाद कपाल उत्पन्न होने पर केवल 'अब घट नहीं है' यही प्रतीति नहीं होती किन्तु 'घट नष्ट हो गया' यह भी प्रतीति होती है। अतः मुद्गर से प्रहार होने पर घटनाश का होना न्यायप्राप्त है।

[विनाशवत् उत्पत्ति में स्वरूप भेद की समान आपत्ति]

बौद्ध की ओर से विनाश के सहेतुकत्व के पक्ष में जो यह दोष दिया गया कि विनाश को हेतुजन्य मानने पर हेतुभेद से विनाश के स्वरूपभेद के अनुभव की आपत्ति होगी' वह युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि यह प्रश्न उत्पत्ति के विषय में भी समान है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि उत्पत्ति को यदि सहेतुक मानी जायगी तो हेतु के भेद से उत्पत्ति के भी स्वरूपभेद के अनुभव की आपत्ति लगेगी। यदि इसके उत्तर में बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि उत्पत्ति के आश्रय घटपटादि में भेद होने से उनकी उत्पत्ति में भी भेद इष्ट ही है तो यह बात नाश के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि नाश का आश्रय-नाश प्रतियोगी घट-पटादि में भेद होने से उनके नाश में भी भेद इष्ट ही है। यदि उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऊठाये गये प्रश्न के उत्तर में बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-उत्पत्ति से अन्वित घटपटादिरूपधर्मी ही अपने कारणों से उत्पन्न होता है। उत्पाद स्वतन्त्ररूप से घट-पटादि के कारणों से जन्य नहीं होता अत एव उत्पादन में स्वरूपभेद की आपत्ति नहीं हो सकती-तो यह बात भी नाश के सम्बन्ध में कही जा सकती है। अर्थात् यह कह सकते हैं कि घटनाशादि से अन्वित कपालादि धर्मी ही मुद्गरादि से उत्पन्न होता है। घट नाश स्वतन्त्ररूप से मुद्गरादिजन्य नहीं होता। अतः हेतुभेद होने पर भी नाश में स्वरूपभेद की आपत्ति नहीं हो सकती।

किञ्च, हेतुभेदकृतो व्यक्तिविशेषो नाशेऽभ्युपगम्यत एव, जातिरूपविशेषस्तु भावधर्मत्वादेव तत्र नास्तीति किमपरमापाद्यते ?। न हि विजातीयहेतुजन्यत्वं कार्यवैजात्यप्रयोजकम्, एकत्रापि घटे दण्डादिनानाजातीयहेतुजन्यत्वेन नानाजातीयत्वप्रसङ्गात्, किन्तु तज्जातीयसामग्रीजन्यत्वं तज्जातीयत्वप्रयोजकमिति। तथा च घट-पटादीनां विजातीयानां स्वस्वसामग्रीप्रयोज्यवैजात्यसंभवेऽपि नाशानां सर्वेषामेकरूपाणां स्वस्वसामग्रीभेदजन्यत्वेऽप्येकत्वं न विहन्यत इति।

[नाश में हेतुभेद से व्यक्तिभेद स्वीकार्य]

इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि नाश में हेतु भेद से स्वरूप विशेष की जो आपत्ति दी जाती है उस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि हेतुभेद से नाश में व्यक्तिभेद की आपत्ति दी जाय तो यह इष्ट ही है क्योंकि विभिन्न हेतुओं से विभिन्न नाशव्यक्ति की ही उत्पत्ति होती है। यदि विभिन्न हेतु से होनेवाले नाश में विभिन्न जातिरूप विशेष की आपत्ति देनी हो तो वह नहीं हो सकती क्योंकि जाति भाव का ही धर्म होता है अतएव विनाश स्वरूप अभाव में उसका आपादन नहीं हो सकता। इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है विजातीय हेतुजन्यता से कार्य में वैजात्य होने का नियम नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर एक घट में भी दण्डचक्रादि विजातीय हेतु जन्यता होने से विभिन्न जातियों के

अस्तित्व का प्रसङ्ग होगा। किन्तु, तज्जातीयकार्य उत्पादक सामग्री जन्यता से ही तज्जातीयत्व की सिद्धि होती है। जैसे घट-पट आदि कार्य परस्पर विजातीय हैं अत: घट जातीय कार्य की उत्पादक सामग्री से जो जन्य होता है वह घट-जातीय होता है और पट जातीय की सामग्री से जो पट उत्पन्न होता है वह पटजातीय होता है किन्तु नाश जितने भी हैं वे सब एकरूप होते हैं। उन में कोई वैजात्य नहीं होता। अत: किसी भी नाश की सामग्री विजातीय कार्य की सामग्री नहीं कही जा सकती। अत एव अपनी अपनी विभिन्न सामग्री से उत्पन्न होने पर भी विभिन्न नाश में एकरूपता का व्याघात नहीं हो सकता।

एतेन 'प्रतिपुरुषं कर्मणां विशेषात् तत्क्षयस्यापि जन्यस्य ततो विशेषसंभवात् प्रतिपुरुषं मुक्तिवैचित्र्यं स्यात्' इति **निरस्तम्**, अविशिष्टस्वस्वभावस्य हेतुसहस्रेणापि विशेषयितुमशक्यत्वात्, विभिन्नसामग्रीजन्यतायां च प्रतियोगिभेदस्यैव निवेशनीयत्वादिति विपश्चितमन्यत्र। एतेन 'तद्रूपावच्छिन्नजन्यतारूपं स्वातन्त्र्यं नोत्पादे, नाशे च तदव्याहतम्, घटध्वंसार्थितया प्रवृत्तेः' इत्युक्तावपि न क्षतिः।

[प्रतिव्यक्ति मुक्तिभेद आपत्ति का प्रत्युत्तर]

बौद्ध की ओर से विनाश को हेतुजन्य मानने पर एक यह भी दोष दिया जाता है कि 'प्रतिपुरुष में कर्मों के भेद होने से उनका क्षय भी, हेतुजन्य होने पर हेतुओं में विशेष होने के कारण, विशिष्ट होगा। अत: पुरुषभेद से कर्मक्षयरूप मुक्ति में वैचित्र्य की आपत्ति होगी।'- किन्तु यह दोष भी ठीक नहीं है क्योंकि कर्मक्षयरूप मुक्ति जब स्वभावत: अविशिष्ट=समान है तो सहस्र हेतुओं से भी उनमें विशिष्टता=असमानता का सम्पादन नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि-'यदि सभी कर्मक्षय समान होंगे तो पुरुषभेद से भिन्न ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप कर्मक्षय की परस्पर निरपेक्ष सामग्री से अविशिष्ट कर्मक्षय की उत्पत्ति मानने पर एक-एक सामग्री का अन्य अन्य सामग्रीजन्य कर्मक्षय के प्रति व्यभिचार होगा'- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि विभिन्न सामग्री की जन्यता में अवच्छेदकता-सम्बन्ध से प्रतियोगी विशेष का निवेशकर तत्तत्पुरुषीय ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणसामग्री हेतु होती है ऐसा मानने पर वह दोष नहीं हो सकता। इस विषय का विशेष विस्तार अन्यत्र द्रष्टव्य है।

अगर बौद्ध ऐसा कहें कि-"नाश के सहेतुकत्व पक्ष में हेतुभेद से नाश में स्वरूपभेदानुभव का आपादन करने पर जैन की ओर से उत्पाद के सम्बन्ध में भी जो हेतुभेद से स्वरूपभेद का आपादन किया गया वह उचित नहीं है क्योंकि उत्पाद से अन्वित घटादिरूप धर्मों में दण्डत्वादि तत्तद्रूपावच्छिन्न जन्यता मानने से उत्पाद में तत्तद्रूपावच्छिन्नजन्यतारूप स्वातन्त्र्य नहीं होता क्योंकि उत्पाद की उत्पत्ति की कामना से दण्डादिग्रहण में मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु घटोत्पाद की कामना से दण्डादिग्रहण में प्रवृत्ति होती है। अत: हेतुभेद से उत्पाद में स्वरूपभेदानुभव का आपादन नहीं हो सकता किन्तु नाश में स्वतन्त्ररूप से मुद्गरत्वादि से अवच्छिन्न मुद्गरादि की जन्यता में कोई व्याघात नहीं है क्योंकि घटध्वंसादि की कामना से मुद्गरादिग्रहण में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है।"-बौद्ध द्वारा यह कहे जाने पर भी कोई क्षति नहीं है क्योंकि उक्त रीति से विनाश में कार्यवैजात्य का प्रयोजक सन्निहित नहीं है।

यदपि 'किञ्च, अस्य हेतुमत्त्वेऽपि नाशप्रसङ्गो दुरुद्धरः' इत्याद्यभाणि, तदपि न निरवद्यम्, समुदयकृतादिनाशविशेषस्य नष्ट इति व्यवहारहेतोर्विशेषसामग्र्यभावादेवाभावात् 'त्रैलक्षण्यरूपवस्तुलक्षणघटकस्य तु कस्यचिद् नाशस्य तत्राभ्युपगमादेव। न च कपालादिनाश एव तदाश्रितघटनाशादिनाशहेतुरिति वाच्यम्, अस्माकमाश्रयनाशस्याश्रितनाशाऽहेतुत्वात्, घटतद्रूपादीनामेकदैव नाशात्, तत्तन्नाशविशेषे तत्तच्छक्तिविशेषस्यैव नियामकत्वात्। किञ्च, कार्यत्वेन नाशहेतुत्वमप्याकाशादीनां नाशानुपपत्त्यैव कल्प्यते, अन्यथा सत्त्वेनैव तत्त्वं स्यात्, तथा च नाशस्यापि तदनुपपत्त्या नाशेतरत्वमपि निवेश्यताम्, गौरवस्य प्रामाणिकत्वादिति। यदपि मुद्गरादेः कपालाद्युत्पत्त्यन्तरा ध्वंसाऽदर्शनमुक्तम्, तदनुक्तोपालम्भमात्रम्। तस्माद् नाऽकिञ्चिद्रूपो नाश इति सिद्धः सहेतुकोऽयम् ॥ ११ ॥

['विनाशो नष्टः' यह आपत्ति अशक्य]

विनाश को सहेतुक मानने पर विनाश के नाश की जो दुरुद्धर आपत्ति दी गई-वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि-विनाश भी एक वस्तु है और वस्तु का लक्षण है उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य। अत एव विनाश का वस्तु लक्षण घटक विनाश मान्य ही है। किन्तु उससे 'विनाशो नष्टः' इस व्यवहार की आपत्ति नहीं दी जा सकती क्योंकि-'नष्टः' इस व्यवहार का हेतु विशेष प्रकार का नाश होता है जिसे समुदयकृत आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। वह नाश विशेष सामग्री से प्रादुर्भूत होता है। विनाश में इस विशेषसामग्री का अभाव होने से विनाश का वह विशेष नाश नहीं होता अतः 'नाशो नष्टः' यह व्यवहार नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि-'कपालादि का नाश कपालाश्रित घटनाश के विशेषनाश का हेतु है अत एव घटनाश का वस्तुलक्षणघटकनाश से अतिरिक्त भी नाश होने से 'घटनाशो नष्टः' इस व्यवहार की आपत्ति होगी'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि-जैन मत में आश्रयनाश आश्रितनाश का हेतु नहीं होता किन्तु जैन मत में घट और घटरूपादि का एक काल में ही नाश होता है। घट और घटरूपादि के नाशक में ऐक्य होने पर भी उसमें तत्तन्नाशानुकूल शक्ति भेद होने से तत्तन्नाश में भेद सिद्ध होता है। उसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि जैसे आकाशादि का नाश नहीं होता इसलिये नाश के प्रति सत् रूप से कारणता न मानकर कार्यत्व-सत्त्वविशिष्ट कार्यत्वरूप से कारणता मानी जाती है इसीप्रकार नाश का भी नाश मानना उचित है। कारणतावच्छेदक कोटि में नाशेतरत्व के निवेश से उपस्थित गौरव भी प्रामाणिक होने से सह्य है।

इस संदर्भ में बौद्ध की ओर से जो यह दोष दिया गया कि-मुद्गरादि का संनिधान (प्रहार) और कपालादि के उत्पत्ति के मध्य ध्वंसरूप अतिरिक्त पदार्थ का दर्शन न होने से ध्वंस का अस्तित्व मानना उचित नहीं है।-यह भी दोष अनुचित है क्योंकि-यह अनुक्त का उपालम्भ है। आशय यह है कि यदि मुद्गरादि संनिधान और कपालादि की उत्पत्ति के मध्य यदि कपालादि से सर्वथा भिन्न घटध्वंस का अस्तित्व माना जाता तो उक्त उपालम्भ उचित होता किन्तु कपालात्मक घटध्वंस मानने पर अर्थात् घटध्वंस को कपाल के सदंश और घट के असदंश से अनुविद्ध मानने पर उक्त उपालम्भ नहीं हो सकता क्योंकि उस रूप में घटध्वंस का दर्शन होता ही है।

अतः सम्पूर्ण विचारों का निष्कर्ष यह है कि नाश अकिञ्चित् यानी तुच्छ नहीं, अपितु सहेतुक वस्तु है ।। ११ ।।

१२वीं कारिका में नाश को सहेतुक न मानने पर अन्य दोष बताया गया है—

अत्रैव दोषान्तरमाह—

मूलम्—किञ्च निर्हेतुके नाशे हिंसकत्वं न युज्यते ।
व्यापाद्यते सदा यस्मान्न कश्चित्केनचित्क्वचित् ॥ १२ ॥

किञ्च, निर्हेतुके नाशेऽभ्युपगम्यमाने हिंसकत्वं न युज्यते कदाचित् कस्यचित् । कथमित्याह-यस्माद्धेतोः, सदा केनचित् लुब्धकादिना क्वचित् अटव्यादौ कश्चित् शूकरादिः न व्यापाद्यते, अहिंसादशायामिव हिंसादशायामपि प्राणिक्षणानां स्वत एव नश्वरत्वात्, सांवृतनाशस्य च खपुष्पवदनुत्पाद्यत्वादिति भावः ।। १२ ।।

[बौद्धमत में शिकारी को हिंसक नहीं कह सकते]

नाश को निर्हेतुक मानने पर कोई किसी का हिंसक न हो सकेगा । क्योंकि कोई भी शिकारी आदि अटवी आदि किसी भी स्थान में शूकरादि किसी भी प्राणी का किसी भी काल में व्यापातक-प्राणघातक नहीं होता । आशय यह है कि बौद्ध मत में सभी भावमात्र क्षणिक होने से शूकरादि प्राणिक्षण जैसे अहिंसा दशा में प्रतिक्षण स्वतः नष्ट होते रहते हैं उसी प्रकार हिंसा दशा में भी स्वतः ही नष्ट होते हैं । अत एव शिकारी आदि से उनका नाश न हो कर स्वतः ही उनका नाश होता है । सांवृत=व्यावहारिक प्राणिनाश का जनक मान कर भी शिकारी को प्राणी का हिंसक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सांवृत नाश आकाशपुष्प के समान अलीक होने से उत्पाद्य नहीं हो सकता ।।१२।।

१३ वीं कारिका में इस सम्बन्ध में बौद्ध सम्मत उत्तर की आशंका कर के उसका परिहार किया गया है—

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

मूलम्—कारणत्वात्स संतानविशेषप्रभवस्य चेत् ? ।
हिंसकस्तन्न संतानसमुत्पत्तेरसंभवात् ।।१३।।

सः=लुब्धकादिः, संतानविशेषप्रभवस्य=शूकरादिविसभागसंतानोत्पादस्य कारणत्वाद् हिंसकः=शूकरादिव्यापादकः चेत् ? यद्येवं मन्यसे । तन्न=तदयुक्तम्, संतानसमुत्पत्तेस्त्वदभिप्रायेणाऽसंभवात् ।।१३।।

बौद्ध मतानुसार 'शिकारी आदि' सन्तानविशेष की यानी शूकरादि से विलक्षण सन्तान की उत्पत्ति का कारण होने से शूकरादि का हिंसक होता है । क्योंकि शूकरसन्तानकाल में स्वतः उत्पन्न होने वाले शूकरक्षणविनाश और शूकरक्षण से विलक्षण सन्तान रूपी विनाश ये दोनों भिन्न होते हैं इसमें दूसरा विनाश स्वतः न हो कर शिकारी आदि के प्रयत्न से होता है ।'—किन्तु ग्रन्थकार का

कहना यह है कि बौद्ध का यह मत युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि बौद्धमत के अनुसार सन्तान की उत्पत्ति का संभव नहीं है ।।१३।।

१४ वीं कारिका में सन्तानोत्पत्ति के असम्भव को स्पष्ट किया गया है—

असंभवमेव विवृणोति—

मूलम्—सांवृतत्वाद् व्ययोत्पादौ संतानस्य खपुष्पवत् ।
न स्तस्तदधर्मत्वाच्च हेतुस्तत्संभवे कुतः ? ।।१४।।

सांवृतत्वाद्=अपरमार्थसत्त्वात्, **व्ययोत्पादौ**=नाशोत्पत्ती संतानस्य **खपुष्पवत्**=वियत्कुसुमस्येव **न स्तः**=न संभवतः, नाशोत्पादयोर्वस्तुधर्मत्वात्; **तदधर्मत्वाच्च**=संतानाऽधर्मत्वाच्चोत्पादस्य **तत्संभवे**=संतानविशेषप्रभवे हेतुः **कुतः ?**=न कुतश्चिदित्यर्थः ।।१४।।

बौद्ध के मत में सन्तान की सत्ता प्राविद्यक है क्योंकि सन्तान स्थिर माना जाता है और बौद्ध मत में किसी भी भावपदार्थ की स्थिरता मान्य नहीं है । जब संतान सांवृत=अपारमार्थिक है तो जैसे अपारमार्थिक होने से आकाशपुष्प का उत्पत्ति-विनाश नहीं होता उसी प्रकार सन्तान का भी उत्पत्ति-नाश नहीं हो सकता क्योंकि नाश और उत्पाद वस्तु के धर्म हैं । जब उत्पत्ति संतान का धर्म नहीं है तब सन्तान की उत्पत्ति का कोई हेतु कैसे हो सकता है ! अतः शिकारी को शूकरादि से विलक्षण सन्तानोत्पत्ति का हेतु मान कर शूकरादि का हिंसक नहीं सिद्ध किया जा सकता ।।१४।।

१५ वीं कारिका में बौद्ध के अभिमत अन्य उत्तर को शंका रूप में प्रस्तुत कर उसका परिहार किया गया है—

पुनः पराशयमाशङ्क्य परिहरति—

मूलम्—विसभागक्षणस्याथ जनको हिंसको, न तत् ।
स्वतोऽपि तस्य तत्प्राप्तेर्जनकत्वाऽविशेषतः ।।१५।।

अथ **विसभागक्षणस्य**=शूकरक्षणात् शशक्षणादेः जनकः **हिंसको**=लुब्धकक्षणः, चरमशूकरक्षणात् शशक्षणसमानकालभावी तज्जनितकर्मवासनया चाग्रिमलुब्धकक्षणेषु तत्कर्मविपाकफलोपभोग इति भावः । **न तत्**=नैतदेवम् । कुतः ? इत्याह—**स्वतोऽपि**=स्वात्मनोऽपि **तस्य**=हिंस्यस्य शूकरक्षणादेः **तत्प्राप्ते**=हिंसकत्वप्राप्तेः । कथम् ? इत्याह—**जनकत्वाऽविशेषतः**=लुब्धकक्षणस्येव शूकरक्षणस्यापि जनकत्वमात्रेऽविशेषात् । 'निमित्तकारणतया विसभागक्षणजनकत्वं हिंसकत्वम्, शूकरक्षणस्तूपादानतया तज्जनक इति न दोष' इति चेत् ? न, आत्महिंसासंग्रहानुरोधेन हिंसकतायां जनकताविशेषस्यानुपादानात् । 'तथाप्यत्र परहिंसकत्वे विशेषोऽयमुपादीयत' इति चेत् ? किं ततः ? एवमपि शूकरक्षणादेरात्महिंसकताकृतदोषापत्तेर्जलेपायमानत्वादिति भावः ।।१५।।

[शूकरादि में स्वहिंसकत्व की बौद्धमत में आपत्ति]

बौद्ध का आशय यह है कि–"शूकरक्षण सन्तान के अन्तर्गत अन्त्यशूकरक्षण की निवृत्ति होने पर शशक्षणसन्तान का आरम्भ होता है। अन्त्यशूकरक्षण का निवर्त्तक वह शिकारी क्षण होता है जो शशक्षणसन्तान के प्रारम्भकाल में संनिहित होता है। इस प्रकार शिकारी क्षण प्रथम शशक्षण का जनक कहा जाता है और शशक्षणसन्तान शूकरक्षणसन्तान की निवृत्तिरूप होने से शिकारी को शूकर का हिंसक कहा जाता है। शशक्षण के आरम्भकाल में संनिहितशिकारीक्षण में जो हिंसात्मक कर्म की वासना उत्पन्न होती है उसीसे शिकारी के अग्रिम क्षणों में उस कर्म के परिणाम भूत दुःख-दौर्गत्यादि फल का उपभोग होता है। इस प्रकार भावमात्र के क्षणिकत्वपक्ष में भी हिंसक और उसे हिंसा के फलोपभोग की उपपत्ति हो सकती है। अतः भावमात्र को क्षणिक और नाश को निर्हेतुक मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती।"-किन्तु ग्रन्थकार के कथनानुसार बौद्ध का यह मत संगत नहीं हो सकता। क्योंकि शूकरक्षण से विलक्षण क्षण का जनक होने से जैसे शिकारी हिंसक होता है उसी प्रकार हिंस्य=मरने वाला शूकरक्षण भी अपना हिंसक हो जायगा क्योंकि शिकारीक्षण के समान वह स्वयं भी अन्त्यशूकरक्षण की विलक्षण शशक्षण का उत्पादक है। शिकारीक्षण और शूकरक्षण की जनकता में कोई अन्तर नहीं है।

[निमित्त कारणरूप में जनकता का परिष्कार व्यर्थ है]

इसके उत्तर में बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि "निमित्तकारण के रूप में जो जिस प्राणि के विसदृश क्षण का जनक होता है वह उस प्राणि का हिंसक होता है। शिकारी तो शूकर प्राणि से विलक्षण शशक्षण का निमित्तकारण होने से शूकर का हिंसक होता है। किन्तु शूकरक्षण उपादानकारणरूप से शशक्षण का कारण होता है अतः उसमें शूकर के हिंसक होने का दोष नहीं है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि आत्महिंसा के संग्रहानुरोध से हिंसकता के लक्षण में निमित्त कारणरूप से जनकता का प्रवेश नहीं किया जा सकता क्योंकि कोई प्राणि जब आत्महत्या करता है तो वह अपने से विसदृश क्षण का उपादान कारण ही होता है निमित्तकारण नहीं होता किन्तु वह आत्म-हिंसक तो कहा ही जाता है। यदि इस पर बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि–निमित्त कारणरूप से जनकताविशेष का निवेश हिंसक सामान्य के लक्षण में न कर परहिंसक के ही लक्षण में करने से यह दोष नहीं हो सकता'-तो इस उत्तर से भी बौद्ध का त्राण नहीं हो सकता क्योंकि शिकारी से शूकर की हिंसास्थल में शूकरक्षण में आत्महिंसकता की आपत्ति वज्रलेप के समान अपरिहार्य है, क्योंकि निमित्तकारणरूप से जनकता का निवेश परहिंसक लक्षण में ही है-आत्महिंसक के लक्षण में नहीं है। अतः शूकरक्षण विलक्षण शशक्षण का उपादानकारणविधया जनक होने पर भी शूकर में स्वात्महिंसकत्व की प्रसक्ति निर्बाध है ॥१५॥

१६वीं कारिका में जैन के उक्त कथन पर बौद्ध की ओर से आक्षेप और उसके जैन सम्मत परिहार का उपदर्शन किया गया है--

इहैवाक्षेप-परिहारावाह—

मूलम्—हन्म्येनमिति संक्लेशाद्धिंसकश्चेत्प्रकल्प्यते ।
नैव त्वन्नीतितो यस्मादयमेव न युज्यते ॥ १६ ॥

'हन्म्येनम्' इति संक्लेशाद् हेतोः हिंसकः प्रकल्प्यते लुब्धकादिक्षणः, क्लिष्टविज्ञानक्षणस्यैव क्लिष्टकर्मक्षणहेतुत्वात्, 'मृगमव्यापादयन्नपि 'मृगं हन्मि' इति संक्लेशपरिणतः पापेन बध्यते, यतमानश्च चिरक्षनाभोगाद् घ्नन्नपि कथंचिल्लघुप्राणिनं न पापेन बध्यते त्वसंक्लिष्ट' इत्यन्वय-व्यतिरेकदर्शनात्। न चैवं व्यापादिताऽव्यापादितमृगयोः संक्लिष्टक्षणयोरविशिष्टकर्मार्जनप्रसङ्गः, तत्सामर्थ्यविशेषेण कार्यविशेषात्। हिंसकत्वव्यवहारस्तु तथाविधविकल्परूपः सांवृतं नाशमादायैवेति न दोष इति चेत् ? नैतदेवम्-यस्मात् त्वन्नीतितः=त्वदभ्युपगतन्यायात्, अयमेव-संक्लेश एव न युज्यते ॥ १६ ॥

[हिंसा के परिणाम से हिंसकत्व की प्राप्ति बौद्ध मत में अघटित]

जैन के उक्त कथन पर बौद्ध का आक्षेप यह है कि हिंसकता का मूल प्राणिवध नहीं है, अपितु संक्लेश यानी प्राणिवध करने का संकल्प है। शिकारी को शूकरवध का संकल्प होता है। इसलिये शूकरक्षण से विलक्षण शवक्षण का जनक होने पर शिकारी शूकर का हिंसक कहा जाता है किन्तु शूकर को व्याधि का शिकार होते समय स्वयं स्ववध का संकल्प नहीं होता। अतः अपने से विलक्षण शवक्षण का जनक होने पर भी वह आत्महिंसक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि क्लिष्टविज्ञानक्षण ही क्लिष्टकर्मक्षण का हेतु होता है। यतः इसप्रकार का अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है कि मृगवध करने के संकल्पात्मक संक्लेश से युक्त मनुष्य मृग का प्राणघातक न होने पर भी पाप से बद्ध होता है किन्तु असंक्लिष्ट यानी उक्त संक्लेश से शून्य व्यक्ति जीवरक्षा में प्रयत्नशील होकर भ्रमण करता हुआ यदि अति सूक्ष्मता के कारण किसी लघु प्राणि को न देख पाने पर यदि घातक भी हो जाता है तो वह पाप से बद्ध नहीं होता।

यदि इसके विरोध में यह कहा जाय कि–'संक्लेश को ही हिंसकता का मूल मानने पर मृगवध के संक्लेशयुक्त दो व्यक्तिओं में एक मृग का वध हुआ और दूसरे से मृग का वध न हो सका तब भी संक्लेश के कारण उनमें समान रूप से पापबन्ध की प्रसक्ति होगी'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि संक्लेश की तीव्रता और मन्दतारूप विशेष से उन व्यक्तिओं को पापबन्धरूप कार्य में विशेष होने से उक्त दोष की प्रसक्ति नहीं हो सकती। आशय यह है कि यद्यपि मृगवध के संक्लेश से युक्त मृग घातक और मृग के अघातक दोनों ही व्यक्तिओं को पापबन्ध होता है किन्तु जिसको मृगवध का अवसर मील जाता है उसको संक्लेश तीव्र होने से उसे तीव्रपाप का बन्ध होता है और जिसको मृगवध का अवसर नहीं मीलता उसका संक्लेश पूर्व की अपेक्षा मन्द होने से उसे मन्द पापबन्ध होता है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि–'वध का संकल्परूप संक्लेश ही हिंसकता का मूल है तो उक्त संक्लेश से युक्त मृगघाती और मृग के अघाती दोनों व्यक्ति में हिंसकत्व का व्यवहार क्यों नहीं होता ? केवल मृगघाती में ही हिंसकत्व का व्यवहार क्यों होता है ?'-तो उसका उत्तर यह है कि हिंसकत्व व्यवहार का मूल न तो प्राणि का स्वतः होने वाला नाश है, और न प्राणिवध का संक्लेश मात्र है, किन्तु प्राणि का सांवृत नाश उक्त व्यवहार का मूल है। वह नाश संक्लेशमात्र से नहीं होता किन्तु संक्लेश की सफलता होने पर होता है। अतः मृगघाती व्यक्ति में ही हिंसकत्व का व्यवहार

होता है अन्य में नहीं होता। किन्तु ग्रन्थकार के अनुसार बौद्ध का यह आक्षेप युक्त नहीं है क्योंकि बौद्ध के मतानुसार संक्लेश ही युक्तिसिद्ध नहीं होता ॥१६॥

१७वीं कारिका में संक्लेश के युक्तिसिद्ध न होने को स्पष्ट किया गया है–

कथम् ? इत्याह–

मूलम्—संक्लेशो यद् गुणोत्पादः स चाक्लिष्टान्न केवलम् ।
न चान्यसचिवस्यापि तस्यानतिशयात्ततः ॥ १७ ॥

यद्=यस्मात् संक्लेशो गुणोत्पादः, स च केवलात्=अन्यसहकारिरहितात् , अक्लिष्टा-दुपादानात् न भवति, ततोऽसंक्लिष्टचित्तस्यैवोत्पादात् । न चान्यसचिवस्यापि=हिंस्यादि-सहकारिसमवहितस्यापि, तस्य-उपादानस्य अनतिशयात् ततः=अन्यसहकारिणः सकाशात् संक्लेश इति योगः, अनतिशयस्य समानाऽसमानकालकरणाऽयोगात् ॥ १७ ॥

[संक्लेश बौद्धमत में सिद्ध नहीं है]

बौद्ध मत में गुण यानी 'क्लिष्ट चित्त' का उत्पाद ही संक्लेश है और वह, अन्य सहकारी के अभाव में, केवल अक्लिष्ट चित्त रूप उपादान से नहीं सम्पन्न हो सकता। क्योंकि अन्य सहकारी न रहने पर तो वह असंक्लिष्ट चित्त को ही उत्पन्न करता है। अगर कहें-'हिंस्यादि अन्य सहकारी के सहयोग पर तो अक्लिष्टचित्त क्लिष्टचित्त का उत्पादक हो सकता है न?' तो यह भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि आपके मत में सहकारी से अक्लिष्टचित्त में कोई अतिशय नहीं उत्पन्न होता। जब सहकारी के समवधान-असमवधान दोनों दशा में वह सम्पन्न रूप से अतिशयशून्य होता है तब सहकारी के समवधान काल में उससे क्लिष्टचित्त की उत्पत्ति और सहकारी के असमवधान काल में अक्लिष्ट चित्त की उत्पत्ति मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

१८ वीं कारिका में इस सम्बन्ध में बौद्ध के एक दूसरे अभिप्राय को शंका रूप में प्रस्तुत कर उसका परिहार किया गया है–

पराशयमाशङ्क्य परिहरति—

मूलम्—तं प्राप्य तत्स्वभावत्वात्ततः स इति चेन्ननु ।
नाशहेतुमवाप्यैवं नाशपक्षेऽपि न क्षतिः ॥१८॥

'तं=हिंस्यादिकं प्राप्य तत्स्वभावत्वात्=संक्लेशजननस्वभावत्वात् तदुपादानस्य ततः=सहकारिणः सः=संक्लेश' इति चेत् ? नन्वेवं नाशहेतुं मुद्गरादिकम् अवाप्य एवं स्व-भावकल्पनायां नाशपक्षेऽपि न क्षतिः=न विरोधः, तस्यापि तं प्राप्य स्वनिवृत्तिस्वभावत्वात् । न च 'वस्तुमात्रजनका एव नाशजनका इति नाशजनने न सहकार्यनुप्रवेशापेक्षा, असंक्लेश-मात्रजनका एव च न संक्लेशजनका इति संक्लेशे जननीये तदुपादानक्षणानां तदपेक्षा, शिंशपाक्षणानामिव चलशिंशपायां जननीयायां नोदनाद्यपेक्षे'ति वाच्यम् ; लुब्धक-शिंशपा-

मात्रजनकानामेवाऽसंक्लेशा-ऽचलशिंशपाजनकत्वाभावेन तत्रापि सहकार्यन्तरापेक्षावश्यकत्वात्, आर्थिकत्वस्याऽविनिगमात्, सहकारिप्रहतविशेषस्यापि क्षणपरम्परासंक्रान्तस्याऽपरित्यागे विशेषान्तरानुपादानप्रसङ्गात्, तत्परित्यागश्चान्यत एव इति सिद्धं नाशहेतुना इत्याम्रे डित-तत्त्वमेतत् ॥ १८ ॥

[शूकरादि के संनिधान में संक्लेशजननस्वभावता अन्यत्र समान]

बौद्ध का कहना है कि-'अक्लिष्ट चित्त हिंस्यादि सहकारी को प्राप्त कर क्लिष्टचित्तजनन स्वभाव हो जाता है। इस प्रकार सहकारी के संनिधान में संक्लेश का जन्म माना जा सकता है।'-किंतु इसके प्रतिबन्दीरूप में यह भी कह सकते हैं कि-'नाश पक्ष में भी यह मानने में कोई विरोध नहीं है कि घटादिभाव मुद्‌गरादिरूप नाश हेतु को प्राप्त कर घटनिवृत्तिस्वभाव हो जाता है'। यदि बौद्ध की ओर से यह शंका की जाय कि-"वस्तुमात्र का उत्पादक ही नाशोत्पादक है अत एव नाश की उत्पत्ति में सहकारी की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु संक्लेश के जनन में उसके उपादानभूतचित्त क्षण को सहकारी की अपेक्षा इसलिये होती है कि असंक्लेश मात्र का जनक (चित्तक्षण) संक्लेश का जनक नहीं होता। यह शिंशपा के दृष्टान्त से भलीभाँति समझा जा सकता है। जैसे शिंशपाक्षण को सकम्प शिंशपाक्षण उत्पन्न करने में चलवायु के नोदनादि संयोग (शब्दाजनक संयोग) की अपेक्षा होती है क्योंकि शिंशपाक्षणमात्र चलशिंशपा का जनक नहीं होता, उसी प्रकार असंक्लेशमात्र का जनक (चित्तक्षण) संक्लेश का जनक नहीं होता। अतः संक्लेश को उत्पन्न करने में सहकारी की अपेक्षा उचित है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इससे तो यह सिद्ध होता है कि-लुब्धकसंक्लिष्टचित्त मात्र का जनक असंक्लेश-असंक्लिष्टचित्त का जनक नहीं होता और शिंशपामात्र का जनक अचलशिंशपा का जनक नहीं होता अतः असंक्लिष्टचित्त और अचलशिंशपा के जनन में भी संक्लिष्टचित्त के जनक को और शिंशपामात्र के जनक को अन्य सहकारी की अपेक्षा होती है। और जब संक्लिष्टचित्त को असंक्लिष्टचित्त के जनन में सहकारी की अपेक्षा होगी तो असंक्लिष्टचित्त संक्लेशनिवृत्त्यात्मक चित्त रूप होने से नाश के जनन में भी सहकारी की अपेक्षा सिद्ध हो जायगी, क्योंकि संक्लेशनिवृत्ति संक्लेशनाशरूप है। इसी प्रकार शिंशपामात्र जनक को अचलशिंशपा के जनन में यदि सहकारी की अपेक्षा होगी तो अचलशिंशपा चलननिवृत्त्यात्मकशिंशपारूप होने से चलननिवृत्तिरूप नाश के जनन में भी सहकारी की अपेक्षा सिद्ध होगी।

[आर्थिकत्व में विनिगमनाविरह]

यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-"संक्लेशनिवृत्तिआत्मक चित्त और चलननिवृत्ति-आत्मक शिंशपा के प्रति कोई अतिरिक्त कारण नहीं होता अपितु चित्त के कारण एवं संक्लेशकारण का अभाव ये दोनों का संनिधान होने पर उत्पन्न होने वाला चित्त अर्थतः=बिना कोई अतिरिक्त कारण के ही संक्लेश निवृत्ति आत्मक हो जाता है। एवं शिंशपामात्र के जनक और चलनकारणा-भाव ये दोनों का युगपत्संनिधान होने पर उत्पन्न होने वाली शिंशपा अर्थतः चलननिवृत्त्यात्मक हो जाती है। अतः उक्त रीति से नाश की उत्पत्ति में सहकारी की अपेक्षा नहीं सिद्ध होती।"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि (१) चित्त की संक्लेशनिवृत्त्यात्मकता और शिंशपा की चलन-निवृत्त्यात्मकता आर्थिक यानी अतिरिक्त कारण निरपेक्ष है और (२) चित्त की संक्लिष्टता और शिंशपा की चलना-

त्मकता असंक्लिष्ट चित्त के कारण और शिंशपामात्र के कारण से अतिरिक्त कारण से जन्य है, आधिक नहीं है,-इन दो में कोई विनिगमक नहीं है। अतः जैसे संक्लिष्टचित्त के जनन में और चलशिंशपा के जनन में असंक्लिष्टचित्तक्षण को और शिंशपाक्षण को अन्य सहकारी की अपेक्षा है उसी प्रकार असंक्लिष्टचित्त और अचलशिंशपा के जनन को भी अन्य सहकारी की अपेक्षा अर्थात् सहकारी की आवश्यकता अपरिहार्य है।

दूसरी बात यह है कि सहकारी से उत्पन्न होने वाला विशेष जो अग्रिमक्षणपरम्परा में संक्रान्त होता है इसका परित्याग हुये बिना विशेषान्तर का उदय नहीं होता, जैसे दण्ड-चक्रादि सहकारी द्वारा मृत्पिंड या मृद्द्रव्य में प्रसूत घटाकार रूप विशेष जो अग्रिम अनेक क्षण परम्परा में अनुवर्त्तमान होता है उसका परित्याग होने पर ही कपालरूप विशेषान्तर का उदय होता है। इस प्रकार विशेषान्तर के उदय के लिये पूर्वविशेष का जो परित्याग अपेक्षित होता है वह स्वभावतः न होकर मुद्गरादिसदृश अन्य कारण से ही होता है। अतः नाशहेतु की सिद्धि अनिवार्य है। इस विषय का पर्याप्त आम्रेडन=पर्यालोचन हो चुका है अतः इस पर अधिक चर्चा अनावश्यक है ॥ १८ ॥

१९ वीं कारिका में बौद्ध के सामने अन्य आचार्यों के इस प्रतिबन्दी उत्तर का उल्लेख किया गया है कि-विकल्पों से नाशजनकत्व का निरास करने पर भाव-उत्पादजनकत्व का भी उच्छेद हो जायगा—

विकल्पमात्रेण नाशकत्वोच्छेदे जनकत्वस्याप्युच्छेद इति प्रतिबन्द्या केचित् समादधत इत्याह—

मूलम्—अन्ये तु जन्यमाश्रित्य सत्स्वभावाद्यपेक्षया ।
एवमाहुरहेतुत्वं जनकस्यापि सर्वथा ॥ १९ ॥

अन्ये आचार्याः एवं नाश्यमाश्रित्य नश्वरस्वभावत्वाद्यपेक्षावत् जन्यं=कार्यम् आश्रित्य सत्स्वभावाद्यपेक्षया='हेतुत्वेनाभिमतः किं सत्स्वभावजन्यजनकस्वभावः, उतास-त्स्वभावजन्यजनकस्वभावः, आहोस्विदुभयस्वभावजन्यजनकस्वभावः, उताहो अनुभयस्वभाव-जन्यजनकस्वभावः ?' इति विकल्पचतुष्टयरूपया, जनकस्यापि=उत्पादकस्यापि, न केवलं नाशहेतोरेवेत्यर्थः, अहेतुत्वमाहुः=आपादयामासुः ॥ १९ ॥

[नाशवत् उत्पादजनकत्वोच्छेद आपत्ति-अन्य मत

अन्य आचार्यों का यह कहना है कि नाश्य का आश्रय लेकर जैसे नश्वरस्वभावत्वादि की अपेक्षा से नाशहेतुतया अभिमत पदार्थ में नाशजनकत्व का बौद्ध द्वारा निरास किया जाता है उसी प्रकार कार्य का आश्रय लेकर सत्स्वभावत्वादि अपेक्षा से भावहेतुतया अभिमत पदार्थ में भी भाव के अनु-त्पादकत्व की आपत्ति होगी। आशय यह है कि जैसे नाशहेतु का निरास करने के लिये बौद्धों द्वारा ये विकल्प उठाये जाते हैं कि-"नाश का हेतु नश्वरस्वभाव का नाशक होता है अथवा अनश्वरस्व-भाव का ? प्रथमपक्ष में नाश के स्वतः सम्भव होने से नाशहेतु के व्यापार की निरर्थकता होती है और दूसरे पक्ष में भी स्वभाव का परिवर्तन अशक्य होने से नाशहेतु के व्यापार की निरर्थकता

होती है इसलिये नाश को सहेतुक मानना उचित नहीं है।" इस प्रकार जैसे नाशहेतुतया अभिमत में नाशजनकता का निराकरण बौद्ध मत में किया जाता है उसी प्रकार कार्य का आश्रय लेकर ये विकल्प उठाये जा सकते हैं कि-१. भावजनकत्वेन अभिमत पदार्थ सत्स्वभाव जन्य का जनक होता है ? अथवा २. असत्स्वभाव जन्य का जनक होता है ? अथवा ३. सत्-असत् उभयस्वभाव जन्य का जनक होता है ? किं वा ४. न सत्-न असत् अनुभयस्वभाव जन्य का जनक होता है। इन चारों विकल्पों में दोष बताकर भावहेतुतया अभिमत वस्तु में भी भाव के जनकत्व का निरास किया जा सकता है।१९।

२० वीं कारिका में उक्त विकल्पों में प्रथम दो विकल्पों में दोष बताया गया है—

एतदेव स्पष्टयन्नाद्यविकल्पे दोषमाह—

मूलम्—न सत्स्वभावजनकस्तद्वैफल्यप्रसङ्गतः।
जन्मायोगादिदोषाच्च नेतरस्यापि युज्यते ॥ २० ॥

न सत्स्वभावजनकः=नोत्पादहेतुः सत्स्वभावजन्यजनकस्वभावः। कुतः ? इत्याह-**तद्वैफल्यप्रसङ्गतः**=सत्स्वभावत्वेनैव जन्यस्य जनकव्यापारवैफल्यात्, सत एव करणे चाऽनिष्ठितेः। यदि च 'स्वकारणादुत्पत्तिरात्मलाभो यस्य स स्वोत्पत्तिधर्मा तं यदि स्वहेतुर्नोत्पादयेत्, तदा विरुद्धमभिधानं स्यात्, उत्पत्त्यनन्तरं च तस्य स्वत एव नाशात् कस्य पुनरुत्पत्तिरिति नानिष्ठितिरि'त्युच्यते, तदा विनाशकारणाद् विनाश आत्मप्रच्युतिलक्षणो धर्मो यस्य तं यदि विनाशहेतुर्न विनाशयेत् तदा विरुद्धाभिधानं स्यादित्याद्यपि तुल्यम्।

[सत्स्वभावजनकता में व्यापारनिष्फलता आपत्ति]

भावहेतुतया अभिमत पदार्थ को यदि सत्स्वभाव जन्य (कार्य) का जनक माना जायगा तो वह उत्पादक न हो सकेगा क्योंकि कार्य सत्स्वभाव होने से, पहले से ही विद्यमान होगा अतः उस के सम्बन्ध में कारणव्यापार निरर्थक होगा, क्योंकि सत्ता का सम्पादन ही कारण व्यापार का फल होता है। जब जन्य में वह प्रथमतः सिद्ध रहेगा तो कारण व्यापार की कुछ सार्थकता नहीं हो सकती। यदि कार्य के सत् होने पर भी कारण उसका उत्पादक होगा तो वह कार्य को उत्तरोत्तर उत्पन्न करता ही रहेगा ! अतः उत्पत्ति की निष्ठा-पर्यवसान न हो सकेगा।

यदि कारण सत्स्वभाव जन्य का जनक होता है इस विकल्प की यह व्याख्या की जाय कि-"अपने कारण से जिसकी उत्पत्ति अर्थात् जिसको स्वरूपलाभ होता है वह कार्य स्वोत्पत्तिधर्म होता है और कारण स्वोत्पत्तिधर्म कार्य का उत्पादक होता है। इस व्याख्या को स्वीकार करने पर उक्त दोष नहीं हो सकता क्योंकि-यदि कारण ऐसे कार्य का उत्पादक नहीं होगा तो स्वाधीनोत्पत्तिधर्मक जन्य के जनकत्व का अभिधान विरुद्ध होगा। क्योंकि-जब वह जन्य का उत्पाद ही नहीं करेगा तो जन्य तदधीनउत्पत्तिधर्मक कैसे कहा जायगा ? अतः इस व्याख्या में कारणव्यापार के नैरर्थक्य की आपत्ति नहीं हो सकती। तथा उत्पत्ति की निष्ठा (समाप्ति) का अभाव भी प्रसक्त नहीं होता क्योंकि कारण से जब कोई भाव उत्पन्न हो जायगा तो उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका नाश हो जायगा।

अतः वह नाश हो जाने पर कारणाधीन उत्पत्तिधर्मक नहीं कहा जायगा। अत एव कारण उसका उत्पादक नहीं होगा क्योंकि-वह स्वाधीनउत्पत्तिधर्मक कार्य का ही जनक होता है।"–

तब यह व्याख्या ठीक नहीं है क्योंकि-नाश हेतु के सम्बन्ध में भी जो यह विकल्प किया गया था कि नाशहेतु नश्वरस्वभाव भाव का नाशक होता है-इस विकल्प की भी यह व्याख्या की जा सकती है कि विनाश कारण से जिसका विनाश=स्वरूपहानि लक्षणधर्म सम्पन्न होता है वही विनाश कारणाधीन विनाशधर्मक होने से नश्वरस्वभाव होता है और नाश का हेतु ऐसे नश्वरस्वभाव भाव का ही जनक होता है। इस व्याख्या के अनुसार नाशहेतु को नाश का उत्पादक मानना आवश्यक होगा क्योंकि यदि वह नाश का उत्पादक न होगा तो उसे स्वाधीन-विनाशोत्पत्तिधर्मकरूप नश्वरस्वभाव का नाशक कहना विरुद्धाभिधान होगा। अतः भावहेतुतया अभिमत पदार्थ को सत् स्वभाव जन्य का जननस्वभाव मानकर भाव का उत्पादक नहीं माना जा सकता।

द्वितीये दोषमाह-**जन्माऽयोगादिदोषाश्च इतरस्यापि**=असत्स्वभावस्य जन्यस्यापि जनक इति पृथक्कृतयोगः, **न युज्यते** 'जननस्वभावः' इति शेषः। असतो जन्माऽयोगश्च, जन्मनः सत्तारूपत्वेन प्रकृत्यन्यथात्वानुपपत्तेः, उत्पत्तौ वोत्पादहेतुनाऽसतः सत्करणवद् नाशहेतुनापि सतोऽसत्करणसंभवात्, असत्कार्यपक्षोक्तसकलदोषप्रसङ्गाच्च ॥ २० ॥

[असत्स्वभावजन्य की जनकता का दूसरा विकल्प अयुक्त]

इसीप्रकार भावहेतुतया अभिमत पदार्थ असत्स्वभावजन्य का जनकस्वभाव होता है यह द्वितीयविकल्प भी दोषग्रस्त है क्योंकि–जन्य को असत्स्वभाव मानने पर इसका जन्य युक्तिसंगत नहीं हो सकता क्योंकि–जन्म सत्तारूप है और असत की सत्ता मानने में प्रकृति=स्वभाव के अन्यथात्व=परिवर्तन की प्रसक्ति होती है। क्योंकि जन्य असत्स्वभाव को छोड कर सत्स्वभाव को ग्रहण करता है और वस्तुस्थिति यह है कि स्वभाव का अन्यथात्व असम्भव होता है। फिर भी यदि भावहेतुतया अभिमत पदार्थ से असत् की उत्पत्ति नहीं मानी जायगी तो जैसे उत्पत्ति हेतु से असत् का सत्करण होता है उसी प्रकार नाश हेतु से सत् का असत्करण भी हो सकता है। अतः नाशहेतु अनश्वरस्वभाव भाव का नाशक होता है यह द्वितीय विकल्प के कारण नाशहेतु के नाशोत्पादकता का निरास नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त, भावहेतु को असत्स्वभाव जन्य का जनक मानने में असत् कार्यवाद में बताये गये सम्पूर्ण दोषों की प्रसक्ति होगी ॥ २० ॥

२१ वीं कारिका में उक्त चार विकल्प में से अन्तिम दो विकल्पों में दोष बताये गये हैं—

अन्यविकल्पद्वये दोषमाह—

मूलम्—न चोभयादिभावस्य विरोधासंभवादितः।
स्वनिवृत्त्यादिभावाद्वौ कार्याऽभावादितोऽपरे ॥ २१ ॥

न चोभयादिस्वभावस्य, उभयस्वभावस्य-अनुभयस्वभावस्य वा जन्यस्य जननस्वभावो जनकः। कुतः? इत्याह-**विरोधासंभवादितः**=उभयस्वभावजन्यजनकत्वे वस्तुविरोधेऽपि स्वमतविरोधात्, अनुभयस्वभावजन्यजनकत्वे चाऽसंभवात्, तादृशस्य जन्यस्य निःस्वभाव-

त्वेनानुपलब्धेः। आदिना जन्यस्योभयस्वभावत्वे वस्तुन एव स्थिरा-ऽस्थिरोभयस्वभावत्वे किमीदृशप्रयासेन ? इत्यादि द्रष्टव्यम्।

परेषां पुनरिह प्रकारान्तरेणानिष्टापादानविधिमाह-**स्वनिवृत्त्यादिभावादौ**=जनकस्य निवृत्त्यादिस्वभावत्वे **कार्याभावादितः**=कार्यानुत्पत्त्यादिदोषप्रसङ्गात्, **अपरे**=आचार्याः जनकस्याहेतुत्वमाहुः। इदमुक्तं भवति-स जनकः स्वनिवृत्तिस्वभावः स्यात्, कार्यजननस्वभावो वा, उभयस्वभावो वा, अनुभयस्वभावो वा ?। आद्ये, स्वयं निवर्त्तेतैव, न कार्यं जनयेत्। द्वितीये, कार्यमेव जनयेद् न निवर्तेत। तृतीय-चतुर्थयोस्तु विरोधा-ऽसंभवौ। अथ स्वनिवृत्तिरेव कार्यजननमिति न विरोध इति चेत् ? तर्हि जननं कार्याऽव्यतिरिक्तमिति कार्यमेव, तच स्वनिवृत्तिः, सा च स्वात्मिकेत्यनिवारितोऽन्वयः, कार्याभावो वा। क्रमिकनिवृत्तिकार्यजननस्वभावकं च नैकं क्षणिकमित्यादि स्वधियाऽभ्यूहनीयम्॥ ६१॥

[उभयानुभयस्वभाव जन्य की जनकता में विरोधादि दोष]

भावहेतुतया अभिमतपदार्थ को सत्-असत् उभयस्वभाव जन्य का एवं न सत्-न असत् अनुभयस्वभावजन्य का भी जनक नहीं माना जा सकता। क्योंकि सत्स्वभावत्व और असत्स्वभावत्व में विरोध होने से एक जन्य वस्तु सत्-असत् उभयस्वभाव नहीं हो सकती। यद्यपि यह विरोध दोष जैनमतानुसार नहीं है, क्योंकि-जैन के मत में वस्तु विरुद्धाविरुद्ध अनंत धर्मों से आश्लिष्ट होती है किन्तु बौद्धमत से विरोध है। क्योंकि बौद्धमत में किसी भी एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों का सहचार होना अमान्य है। अनुभयस्वभाव जन्य के प्रति भावहेतुतया अभिमत पदार्थ की जनकता को मानना यह तो युक्तिसंगत हो ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा जन्य जो सत् भी न हो और असत् भी न हो, वह निःस्वभाव होने से असिद्ध है। अत एव यह विकल्प असम्भव दोषग्रस्त है।

ग्रन्थकार ने विरोध और असम्भव दोष का उल्लेख कर आदि शब्द से दोषान्तर का भी उल्लेख किया है जो तृतीय विकल्प में घटित होता है-जन्य को सत् असत् उभयस्वभाव मानने पर वस्तु की स्थिर और अस्थिर उभयस्वभावता स्वीकृत हो जाती है। अतः वस्तु को क्षणिक सिद्ध करने के लिये नाश के निर्हेतुकत्व साधन का प्रयास व्यर्थ हो जाता है।

[अन्य प्रकार से अनिष्टापादक अन्य आचार्य का मत।]

ग्रन्थकार ने कारिका के उत्तरार्ध में अन्य विद्वानों के मत से अन्य प्रकार से भी अनिष्ट आपत्ति का उपदर्शन किया है-जैसे, भावजनकस्वरूप से अभिमत पदार्थ के सम्बन्ध में चार विकल्प हो सकते हैं कि (१) जनक रूप से अभिमत पदार्थ स्वनिवृत्तिस्वभाव होता है या (२) कार्यजनन स्वभाव होता है अथवा (३) स्वनिवृत्ति और कार्यजनन उभयस्वभाव होता है अथवा (४) न तो स्वनिवृत्तिस्वभाव और न कार्यजननस्वभाव इस प्रकार अनुभयस्वभाव होता है। इन चार स्वभाव को स्वीकारने पर क्रमशः कार्याभाव, निवृत्त्यभाव, विरोध और असम्भव दोष प्रसक्त होते हैं। अतः इन विकल्पों के सदोष होने से तथा पाँचवा कोई विकल्प सम्भव होने से भावहेतुतया अभिमत पदार्थ में भाव के अनुत्पादकत्व की आपत्ति प्रसक्त होती है। आशय यह है कि (१) यदि

जनक को स्वनिवृत्तिस्वभाव मानेंगे अर्थात् जनक का यह स्वभाव मानेंगे कि वह स्वयं निवृत्त होता है तो इस पक्ष में वह निवृत्त ही होगा-कार्य का जनक नहीं होगा क्योंकि कार्य जनन के लिये जनक को वर्तमान होना चाहिये किन्तु निवृत्ति स्वभाव मानने पर वह निवर्तमान ही होगा-वर्तमान नहीं होगा। (२) जनक कार्यजननस्वभाव होता है-इस द्वितीय विकल्प में वह जनक कार्य का उत्पादक ही होगा, निवृत्त नहीं होगा क्योंकि 'कार्यजननस्वभाव की उत्पत्ति के लिये उसका वर्तमान होना आवश्यक होगा और वर्तमान रहते हुये निवृत्त होना असम्भव है। (३) तीसरे विकल्प में विरोध होगा क्योंकि-'निवृत्ति स्वभाव' और 'वर्तमानत्व का अविनाभावि कार्यजननस्वभाव' इन दोनों के सह अस्तित्व में विरोध है। (४) चौथे विकल्प में असम्भव स्पष्ट है क्योंकि-'उक्त दोनों स्वभावों से रहित भाव का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। यदि तृतीय विकल्प में प्रदर्शित विरोध के परिहारार्थ यह कहा जाय कि-"स्व की निवृत्ति ही कार्य का जनन है। अतः स्वनिवृत्ति और कार्यजनन यह दो स्वभाव न होकर एक ही स्वभाव है अतः विरोध नहीं है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि-'कार्य का जनन कार्य से भिन्न न होने के कारण कार्यस्वरूप ही है और कार्य 'जनक की निवृत्ति'रूप है और जनक की निवृत्ति जनक से अपृथक् सिद्ध होने के कारण जब कार्यात्मक है तो जनक भी कार्यात्मक होगा। अतः जन्य में जनक के अन्वय का निवारण न होने से निरन्वय नाश की सिद्धि न होगी। अथवा यदि स्वनिवृत्ति को ही कार्यजनन स्वभाव मानने पर स्वनिवृत्ति से अतिरिक्त कार्य का अभाव होगा इस दोष के परिहार के लिये निवृत्तिस्वभाव और कार्यजननस्वभाव का क्रमिक अस्तित्व यदि माना जायगा तो वह क्षणिकत्व पक्ष में सम्भव नहीं हो सकता। ऐसे अनेक दोषों का अनुसन्धान किया जा सकता है ।। २१ ।।

२२ वीं कारिका में इस शंका कि-'भावहेतु में भाव के अजनकत्व का आपादन करने से हेतु-हेतुमद्भाव का निषेध फलित होता है और वह हेतु-हेतुमद्भाव के प्रत्यक्ष से बाधित है अतः उक्त आपादन प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से असङ्गत है-' निराकरण किया गया है--

नन्वेवं हेतुफलभावनिषेधः कृतः स्यात्, स च प्रत्यक्षबाधित इत्याशङ्कापोहायाह—

मूलम्—न चाध्यक्षविरुद्धत्वं जनकत्वस्य मानतः ।
असिद्धेश्च नीत्या तद्व्यवहारनिषेधतः ॥ २२ ॥

न चाध्यक्षविरुद्धत्वमत्र बाधकमुद्भावनीयम्, जनकत्वस्य मानतः=प्रमाणात् असिद्धेः, अत्र नीत्या=न्यायेन तद्व्यवहारनिषेधतःजनकत्वव्यवहारनिषेधात्, प्रमाणाभावस्य सद्व्यवहाराऽविषयत्वानुमापकत्वात्, अपेक्षया चोक्तरीत्यायार्थे प्रमाणाभावाव्याघातादिति भावः।२२।

[प्रत्यक्षविरोध का उद्भावन व्यर्थ है]

भावहेतु में भावजनकत्व के अभाव को आपादन में प्रत्यक्ष विरोध का उद्भावन नहीं हो सकता। क्योंकि-'जनकता यह प्रमाण से सिद्ध नहीं है अर्थात् जनकता में प्रमाण का अभाव है। इसलिये जनकत्वप्रत्यक्ष अप्रामाणिक होने से उससे जनकत्वाभाव के आपादन में विरोध नहीं हो सकता। इस पर यह प्रश्न होगा कि जनकता यदि प्रमाण-सिद्ध नहीं है तो उसके अभाव का भी आपादन कैसे हो सकता है ? क्योंकि-अप्रामाणिक का अभाव भी प्रामाणिक नहीं होता।-तो इसका उत्तर यह है कि भावहेतु में जनकत्व का निषेध नहीं करना है किन्तु अनुमान द्वारा जनकत्व के यथार्थ

व्यवहार का निषेध करना है। क्योंकि–'प्रमाणाभाव यथार्थव्यवहारविषयत्वाभाव का अनुमापक होता है। यह नियम है कि जिस में प्रमाण नहीं होता वह यथार्थव्यवहार का विषय नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि 'जनकत्व में प्रमाणाभाव असिद्ध है-' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि–'कार्य की अपेक्षा उक्त रीति से अर्थात् सत्स्वभावकार्यजननस्वभावत्व असत्स्वभावकार्यजननस्वभावत्व आदि विकल्प दोषग्रस्त होने से जनकता की उपपत्ति सम्भव न होने के कारण जनकता में प्रमाणाभाव की सिद्धि अव्याहत है ।। २२ ।।

२३ वीं कारिका में यह बात बतायी जाती है कि प्रमाणाभाव से सद्व्यवहाराभाव का साधक न्याय बौद्ध को भी स्वीकृत है –

अयं च परेणाप्याश्रित एव न्याय इत्याह—

मूलम्—मानाभावे परेणापि व्यवहारो निषिध्यते ।
सज्ज्ञानशब्दविषयस्तद्वदत्रापि दृश्यताम् ॥ २३ ॥

परेणापि=बौद्धेनापि मानाभावे=प्रमाणाभावे क्वचिद् वस्तुनि प्रधानेश्वरादौ सज्ज्ञान-शब्दविषयो व्यवहारो निषिध्यते-प्रधानादिकं 'सद्' इति न ज्ञेयम् 'सद्' इति नाभिधेयं वा, प्रमाणेनानुपलभ्यमानत्वादिति । तद्वदत्रापि=जनकत्वेऽपि-दृश्यतां प्रमाणाभावेन सद्व्यवहार-निषेधः, न्यायस्य समानत्वात् । निरस्तो 'नाशहेतोरयोगतः' इत्याद्यो हेतुः ॥ २३ ॥

[प्रमाणाभाव से व्यवहारनिषेध बौद्ध को मान्य]

बौद्ध भी जिस में प्रमाण का अभाव होता है उसमें यथार्थव्यवहार का निषेध करते हैं। यह निषिध्यमान व्यवहार ज्ञान विषयक भी होता है और शब्दविषयक भी होता है। जैसे प्रधान-त्रिगुणात्मिका प्रकृति और ईश्वर-नित्यसर्वज्ञ आदि में बौद्धदृष्टि से कोई प्रमाण न होने से बौद्धमत में इस प्रकार का निषेध किया जाता है कि 'प्रधान आदि सद् रूप में ज्ञेय और सत् शब्द से अभिधेय नहीं है क्योंकि–'वे प्रमाण से सिद्ध नहीं होते'। इस स्थिति में ग्रन्थकार का कहना है कि बौद्ध को इस तथ्य पर भी दृष्टि देनी चाहिये कि जिस न्याय से प्रधान आदि में प्रमाणाभाव से सद्व्यवहार का निषेध होता है वह न्याय जनकत्व के सम्बन्ध में भी समान है। अब तक प्रस्तुत विचार से नाश का हेतु युक्तिसिद्ध नहीं है, यह बताया गया। इससे क्षणिकत्व के साधक इस प्रथम हेतु का निराकरण किया गया ।। २३ ।। [नाशहेतु अयोग की चर्चा समाप्त]

२४ वीं कारिका में क्षणिकत्व के साधक अर्थक्रियासमर्थत्वरूप द्वितीय हेतु में दोष बताया जा रहा है—

अथ 'अर्थक्रियासमर्थत्वात्' इति द्वितीयं हेतुं दूषयितुमाह—

मूलम्— अर्थक्रियासमर्थत्वं क्षणिके यच्च गीयते ।
उत्पत्त्यनन्तरं नाशात्त्विज्ञेयं तदयुक्तिमत् ॥ २४ ॥

अर्थक्रियासमर्थत्वं क्षणिके=निरन्वयनश्वरे वस्तुनि यच्च गीयते परैः, तदुत्पत्त्यनन्तरं नाशादयुक्तिमद् विज्ञेयम् ॥ २४ ॥

[अर्थक्रियासमर्थत्व हेतु युक्तिसंगत नहीं है]

निरन्वय नश्वर वस्तु में बौद्धों ने जो अर्थक्रिया सामर्थ्य का अभ्युपगम किया है वह अयुक्त है क्योंकि-'निरन्वयनश्वर वस्तु अपनी उत्पत्ति के अनन्तर ही नष्ट हो जाती है ॥ २४ ॥

२५ वीं कारिका में उत्पत्ति के अनन्तर नष्ट होने वाली वस्तु अर्थक्रियासमर्थ क्यों नहीं हो सकती इस का प्रतिपादन किया गया है—

कथम् ? इत्याह—

मूलम्—अर्थक्रिया यतोऽसौ वा तदन्यो वा द्वयी गतिः ।
तत्त्वे न तत्र सामर्थ्यमन्यतस्तत्समुद्भवात् ॥२५॥

अर्थक्रिया यतोऽसौ वा=जनकत्वाभिमतः पदार्थ एव वा स्यात्, तदन्यो वा=तदनन्तरभावी पदार्थ एव वा ? द्वयी गतिः=द्वाविमावत्र प्रकारौ। आद्ये दूषणमाह—तत्त्वे=अर्थक्रियायास्तदात्मकत्वे न तत्र-अर्थक्रियायाम् सामर्थ्यं, 'तस्य' इति योगः। कुतः ? इत्याह—अन्यतः=स्वहेतोः तत्समुद्भवात्=तस्याखिलस्वधर्मान्वितस्योत्पादात्। स्वस्य जनकत्वं च दृष्टे-ष्टाभ्यां विरुद्धम्। तस्माद् नार्थक्रियायास्तदभेदे तस्यार्थक्रियाया उत्पादे सामर्थ्यम् ॥ २५ ॥

[अर्थक्रिया स्वजनकस्वरूप नहीं है]

अर्थक्रिया के दो प्रकार सम्भावित हैं-एक यह कि अर्थक्रिया जिससे उत्पन्न होती है-तत्स्वरूप होती है। अर्थात् जो पदार्थ अर्थक्रिया का जनक माना जाता है वह पदार्थ ही अर्थक्रिया है। अथवा दूसरा यह कि अर्थक्रिया जिससे होती है उसके अनन्तर होने वाले पदार्थस्वरूप होती है, अर्थात् जो पदार्थ अर्थक्रिया का जनक माना जाता है उस पदार्थ के अनन्तर होने वाला पदार्थ ही अर्थक्रिया है। इनमें प्रथम प्रकार में यह दोष है कि अर्थक्रिया स्वजनकस्वरूप होगी तो अर्थक्रिया में जनक का सामर्थ्य नहीं होगा। क्योंकि वह अपने हेतु से अपने समस्त धर्मों से अन्वित ही उत्पन्न होता है। अतः जब वह अर्थक्रियात्मक होगा तो अर्थक्रियारूप से भी अपने हेतु से ही उत्पन्न होगा अतः अर्थक्रिया में उसका सामर्थ्य न होकर उसके हेतु का ही सामर्थ्य सिद्ध होगा। दूसरी बात यह है कि स्व में स्व का जनकत्व दृष्ट और इष्ट से विरुद्ध है। अर्थात् स्व में स्व की जनकता कहीं दृष्ट नहीं है और वह आत्माश्रय के कारण इष्ट भी नहीं हो सकती। अतः अर्थक्रिया को जनक से अभिन्न मानने पर अर्थक्रिया की उत्पत्ति में जनक का सामर्थ्य नहीं हो सकता।

२६ वीं कारिका में यह बात बतायी गयी है कि अर्थक्रिया और उसके जनक में अभेद मानने पर अर्थक्रियाजनकत्वरूप से अभिमत पदार्थ अर्थक्रिया के धारण और नाश में भी समर्थ नहीं हो सकता—

नापि तद्धारण-नाशयोरित्याह—

मूलम्—न स्वसंधारणे न्यायाज्जन्मानन्तरनाशतः ।
न च नाशेऽपि युक्तता तद्धेतोस्तत्समुद्भवात् ॥ २६ ॥

न स्वसंधारणे=अर्थक्रियास्थापने, न्यायादस्य सामर्थ्यम् । कुतः ? इत्याह-जन्मानन्तरनाशतः=उत्पत्त्यनन्तरं स्वधर्ममादायैव स्वस्य नाशात् । न च नाशेऽप्यर्थक्रियायाः तत्सामर्थ्यं सद्युक्त्यायुक्तम् । कुतः ? इत्याह-तद्धेतोस्तत्समुद्भवात्-स्वहेतोरेव नश्वरस्वभावोत्पत्तेः ॥२६॥

[अर्थक्रिया का धारकत्व और नाशकत्व अनुपपन्न]

अर्थक्रिया जनकस्वभावरूप होने पर अर्थक्रियाजनक में अर्थक्रिया के धारण=स्थापन का भी सामर्थ्य न्यायतः सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि-'जो अर्थक्रिया का जनक होगा उसका जन्म के अनन्तर नाश हो जाता है । अतः जब वह अर्थक्रिया से अभिन्न होगा तो उत्पत्ति के अनन्तर अपने अर्थक्रियात्मकधर्म को लेकर ही नष्ट होगा । अर्थात् उसके नाश के साथ अर्थक्रिया भी नष्ट हो जायगी ऐसी स्थिति में वह अर्थक्रिया का धारक कैसे हो सकेगा । इसीप्रकार नाश में भी अर्थक्रिया का सामर्थ्य युक्तिसिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि—'जो अर्थक्रिया का जनक है वह अपने हेतु से ही नश्वरस्वभाव उत्पन्न होता है । जब अर्थक्रिया उससे अभिन्न होगी तो वह भी उसके हेतु से ही नश्वरस्वभाव होगी न कि उससे नश्वरस्वभाव होगी । अतः अर्थक्रिया का जनक अर्थक्रिया से अभिन्न होने पर अर्थक्रिया का नाशक भी नहीं हो सकता ।। २६ ।।

२७ वीं कारिका में, अर्थक्रिया स्वजनक से भिन्न है-इस दूसरे प्रकार में दोष बताया गया है-

द्वितीयप्रकारे दोषमाह—

मूलम्—अन्यत्वेऽन्यस्य सामर्थ्यमन्यत्रेति न संगतम् ।
ततोऽन्यभाव एवैतन्नासौ न्याय्यो दलं विना ॥ २७ ॥

अन्यत्वे=अर्थक्रियायाः स्वभिन्नत्वेऽभ्युपगम्यमाने, अन्यस्य=हेतोः, अन्यत्र=अर्थक्रियायाम् सामर्थ्यम्, इत्य**संगतम्**=अयुक्तम्, सामर्थ्य-सामर्थ्यवतोरभेदात् सामर्थ्यवदन्यत्र तदभावात् । स्यादेतत् 'ततः—दण्डादेः अन्यभाव एव=घटाद्युत्पाद एव, एतत्-सामर्थ्यम्, नान्यदिति अत्राह-**नासौ**=अन्यभावः न्याय्यः=घटमात्रकः दलं विना=तथाभाविनमुपादानमन्तरेण ।। २७ ॥

[अर्थक्रिया स्वजनकभिन्नस्वरूप है—दूसरा विकल्प]

अर्थक्रिया को स्वजनक से अन्य मानने पर स्वजनक का अर्थक्रिया में सामर्थ्य युक्तिसंगत नहीं हो सकता । क्योंकि-'सामर्थ्य और सामर्थ्यवान् में अभेद होता है । इसलिये सामर्थ्यवान् से अन्य में सामर्थ्य नहीं रह सकता । आशय यह है कि अर्थक्रियाजनक ही अर्थक्रियासमर्थ होता है । अतः अर्थक्रियासामर्थ्य अर्थक्रियासमर्थ से अभिन्न होने के कारण वह अर्थक्रियाजनकनिष्ठ होगा, न कि इस

से भिन्न अर्थक्रियानिष्ठ होगा अतः 'अर्थक्रिया में अर्थक्रियाजनक का सामर्थ्य है' यह कहना अयुक्त है।

यदि यह कहा जाय कि -'दण्डादि से जो घटादि का उत्पाद होता है वही घटादि में दण्डादि का सामर्थ्य है-उससे भिन्न नहीं है और घटादि का उत्पाद घटादिनिष्ठ ही है अतः जनकसामर्थ्य अर्थक्रियानिष्ठ होने में कोई बाधा नहीं है'।-तो यह कथन अर्थात् दण्डादि से घटादि के उत्पाद का अभ्युपगम घटादिरूप से भवनशील किसी उपादान कारण को विना माने न्यायतः सिद्ध नहीं हो सकता। जब कोई ऐसा उपादान कारण माना जायगा तो उसका उत्तरभावी कार्य में अन्वय होने से भाव की अपरिहार्य निरन्वयनश्वरतारूप क्षणिकता का साधन नहीं हो सकता ।। २७ ।।

२८ वीं कारिका में पूर्वकारिका के उत्तरभाग में कथित अर्थ को घटादि रूप से भवनशील उपादान कारण माने विना दण्डादि से घटादि का उत्पाद असम्भाव्य है-इस विषय को स्पष्ट किया गया है—

एतदेव स्पष्टयति—

मूलम्—नासत्सज्जायते यस्मादन्यसत्त्वस्थितावपि ।
तस्यैव तु तथाभावे नन्वसिद्धोऽन्वयः कथम् ? ॥२८॥

यस्मादन्यसत्त्वस्थितावपि, किमुत तन्निवृत्तौ, असत् सद् न जायते, तच्छक्त्यभावेनातिप्रसङ्गात्। तस्यैव च पूर्वक्षणस्य, तथाभावे-उत्तरक्षणरूपतया भवने, ननु=निश्चितम् अन्वयः कथमसिद्धः, भावाऽविच्छेदस्यैवान्वयत्वात् ? ॥२८॥

[असत् सत् नहीं होता]

अन्यभाव अर्थात् कार्यरूप से भवनशील भाव के स्थित होने पर भी असत् यानी कारणात्मना अविद्यमान पदार्थ सत् नहीं होता-उत्पन्न नहीं होता जैसे मृत्पिण्ड के अभाव में घटरूप से भवनशील दण्ड-चक्रादि के रहने पर भी दण्ड-चक्रादिरूप में असत् घट की उत्पत्ति नहीं होती। तो फिर ऐसे अन्य भाव की निवृत्ति होने पर असत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः बौद्ध का यह मन्तव्य कि-'उत्तरभाव अपने से सर्वथा भिन्न पूर्वभाव की निवृत्तिकाल में उत्पन्न होता है'--अयुक्त है। क्योंकि जो कारणरूप में असत् होता है उसमें कार्यरूप से उत्पन्न होने की शक्ति नहीं होती। उस शक्ति के अभाव में भी उत्पत्ति मानने पर खपुष्पादि के भी उत्पत्ति का प्रसंग होगा। एवं सर्वत्र सब की उत्पत्ति का अतिप्रसंग होगा क्योंकि जैसे उत्तरभाव पूर्वभावरूप से असत् होने पर भी उत्पन्न होता है उसी प्रकार खपुष्प असत् होने पर भी उत्पन्न हो सकता है। तथा जैसे मृत्पिण्डरूप से असत् भी घट मृत्पिण्ड में उत्पन्न होता है उसी प्रकार तन्तु आदि रूप में असत् होने से तन्तु आदि में भी उसकी उत्पत्ति का अतिप्रसंग हो सकता है क्योंकि मृत्पिण्ड और तन्तु दोनों में असत्त्व समान है। यदि उक्त दोष के भय से पूर्वक्षण का ही उत्तरक्षणरूप में भवन माना जायगा तो निश्चितरूप से उत्तरभाव में भाव का अविच्छेदरूप अन्वय होने से कार्य में कारण का अन्वय असिद्ध कैसे होगा ? ।।२८।।

२९ वीं कारिका में बौद्धमत में एक अन्य दोष प्रदर्शित किया गया है-

दोषान्तरमाह—

मूलम्—भूतिर्येषां क्रिया सोक्ता न चासौ युज्यते क्वचित् ।
कर्तृभोक्तृस्वभावत्वविरोधादिति चिन्त्यताम् ॥२९॥

या एषां=प्रस्तुतभावानाम् भूतिः सा क्रियोक्ता भवता । न चासौ=भूतिः न्यायतः क्वचिद् युज्यते । कथम् ? इत्याह-कर्तृ-भोक्तृस्वभावत्वविरोधात्; तथाहि-सा किं कर्तृस्वभावा वा स्यात्, भोक्तृस्वभावा वा ? । कर्तृस्वभावत्वे न भोक्तृत्वम्, भोक्तृस्वभावत्वे च न कर्तृत्वं स्यात् । न च 'कर्तृस्वभावत्वमेव भोक्तृस्वभावत्वम्', घट-कलशादिपदानामिव कर्तृ-भोक्तृ-पदयोरभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेन पर्यायत्वापातात्, चरमस्य कर्तृत्वाभावाच्च, भावे वा चरमत्व-विरोधात् । न चादौ कर्तृस्वभावैव, अन्ते च भोक्तृस्वभावा, अन्तरा तूभयस्वभावेति वाच्यम्; द्वैरूप्यविरोधादिति चिन्त्यतां सूक्ष्मधिया ॥ २९ ॥

[भूति ही क्रिया है—इस पक्ष में दोषापत्ति]

भावों की भूति को बौद्धमत में क्रिया कहा गया है-अर्थात् बौद्ध की यह मान्यता है कि संसार केवल विभिन्न क्रिया सन्तानों का पुञ्ज है-अर्थात् जगत् में क्रिया का ही अस्तित्व है-कर्ता का नहीं । जैसे यह कहा जा सकता है कि संसार में जनन क्रिया होती है किन्तु जनन क्रिया का कोई कर्ता नहीं होता उसी प्रकार मरणक्रिया भी होती है-उसका भी कोई कर्ता नहीं होता एवं ज्ञानादि क्रिया होती है उनका भी कोई कर्ता नहीं होता क्योंकि कर्ता का अस्तित्व मानने पर स्थिरवाद का प्रवेश हो जाता है । तो इस प्रकार भूतिक्रिया का भी आश्रयभूत कोई भावात्मकपदार्थ नहीं है किन्तु भूतिक्रिया ही है । इस स्थिति में बौद्ध मत में यह दोष प्रसक्त होता है कि क्रिया न्यायतः किसी के स्वभावरूप में सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि क्रिया से अतिरिक्त का अस्तित्व बौद्धमत में मान्य नहीं है । यदि यह कहा जाय कि बौद्ध मत में भी कर्ता और भोक्ता व्यवहारसिद्ध है अत एव उसके स्वभाव रूप में क्रिया की सिद्धि हो सकती है—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कर्तृस्वभावत्व और भोक्तृस्वभावत्व में विरोध है । जैसे--भूतिक्रिया को कर्तृस्वभाव माना जाय या भोक्तृस्वभाव माना जाय ? कर्तृस्वभाव मानने पर भोक्तृस्वभावता नहीं होगी और भोक्तृस्वभाव मानने पर कर्तृस्वभावता नहीं होगी, क्योंकि कर्तृस्वभावभूति और भोक्तृस्वभावभूति विभिन्नकालिक होती है । यदि कर्तृस्वभावत्व और भोक्तृस्वभावत्व को अभिन्न मान लिया जाय तो घट-कलश आदि पद के समान कर्तृ पद और भोक्तृ-पद का प्रवृत्ति निमित्त एक हो जाने से उनमें पर्यायवाचिता की आपत्ति हो जायगी । इसके अति-रिक्त दूसरा दोष यह होगा कि चरम भाव में कर्तृत्व न हो सकेगा । जिसमें कर्तृत्व होगा वह भाव चरम न हो सकेगा । यदि इन दोषों के परिहार के लिये यह कहा जाय कि 'आद्यभूति कर्तृस्वभाव होती है और अन्त्यभूति भोक्तृस्वभाव होती है और मध्यवर्त्ती भूति कर्तृ भोक्तृ उभयस्वभावा होती है'-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि इसमें एकभूति में व्यापारात्मकत्व और भोगात्मकत्व ऐसे विरुद्ध-रूपद्वय की प्रसक्ति होगी । क्योंकि कर्ता के अभाव में व्यापारात्मक-कर्मात्मक क्रिया ही कर्तृस्वभाव होती है और व्यापाररूप क्रिया और भोगरूप क्रिया में भेद है । अतः एक क्रिया को कर्तृ और भोक्तृस्वभाव मानने में विरोध स्पष्ट है ।

३० वीं कारिका में अब तक किये गये विचारों का उपसंहार किया गया है –

प्रस्तुतमुपसंहरति—

मूलम्—न चातीतस्य सामर्थ्यं तस्यामिति निदर्शितम् ।
न चान्यो लौकिकः कश्चिच्छब्दार्थोऽत्रेत्ययुक्तिमत् ॥३०॥

न चातीतस्य वस्तुनः सामर्थ्यं स्वहेतोरव्यतिरिक्तम्, तस्यां अर्थक्रियायां द्वितीयक्षणलक्षणायाम्, इति=एतत् निदर्शितम्, 'अन्यस्य सामर्थ्यमन्यत्रेति न संगतम्' [का० २७] इत्यनेन । न चान्यो लौकिकः=लोकप्रसिद्धः कश्चिच्छब्दार्थः, अत्र='अर्थक्रियायां सामर्थ्यमि'ति वाक्ये, इति=एवम् अयुक्तिमदर्थक्रियासमर्थत्वं, क्षणिकत्वे यद् गीयत इति ।

[क्षणिकत्व में अर्थक्रिया सामर्थ्य अयुक्त है]

सामर्थ्य स्वाश्रय से अव्यतिरिक्त है । अतः द्वितीयक्षणरूप अर्थक्रिया का सामर्थ्य अतीत वस्तु में नहीं हो सकता क्योंकि-'वस्तु के अतीत होने के साथ ही उससे अव्यतिरिक्त सामर्थ्य भी अतीत हो जाता है । अतः उसके साथ अर्थक्रिया का सम्बन्ध नहीं हो सकता । यह बात 'अन्यस्य सामर्थ्यं अन्यत्र न संगतम्' [का० २७] इस कारिकांश द्वारा बताया जा चुका है और स्वाश्रय से व्यतिरिक्त सामर्थ्य स्वरूप कोई अर्थ लोक में प्रसिद्ध नहीं है जिसे 'अर्थक्रियायां सामर्थ्य' इसमें सामर्थ्य शब्द का अर्थ कहा जा सके । इसलिये क्षणिकत्वपक्ष में अर्थक्रियाकारणत्वेन अभिमत भाव में अर्थक्रिया-सामर्थ्य युक्तिसंगत नहीं है ।

यच्च क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रिया स्थिराद् व्यावर्तमाना क्षणिकतायामेवावतिष्ठत इत्युच्यते । तत् कदाशामात्रम्, स्वभिन्नक्रमिकार्थक्रियाभेदेऽपि हेतोरभेदात् । न च हेतोः प्रतिक्षणमभिन्नत्वेऽर्थक्रियापि युगपद् भवेदिति वाच्यम्, नियमाभावात्, यथा दर्शनम् हेतोरभेदस्यार्थक्रियाभेदस्य च संभवात् । न च प्रतिक्षणविशरारुताऽविनाभूतः क्रमवदर्थक्रियोत्पादः क्वचिदुपलब्धः येन तदुदयक्रमात् तद्धेतोः प्रतिक्षणभेदः सिद्धिमासादयेत् । न चार्थक्रियापि प्रतिक्षणं भेदवती सिद्धा, तत् कथं स्वयमसिद्धहेतोः प्रतिक्षणभेदमवगमयेत् ? । न च सौगतानां कालाभावादर्थक्रियाक्रमोऽपि युक्तः, कार्यपरम्पराव्यतिरिक्तस्य कालस्य तैरनभ्युपगमात् । न च फलभेदमात्राद् हेतुभेदव्यवस्था, एकेनापि प्रदीपादिनानेककार्याणामेकदा करणात् । परपरिकल्पितकालाभ्युपगमेन कार्यक्रमश्च प्रमाणाभावे दुर्घटः । न च तदभ्युपगमेन कारणक्रमोपपत्तावपि स्थैर्यभङ्गः । 'जनकत्वा-ऽजनकत्वस्वभावभेदादसौ स्यादि'ति चेत् ? न, क्रमोपेतकार्योपलम्भात्, कल्पनाध्यवसितेन जनका-ऽजनकत्वस्वभावभेदेनापि भावाऽभेदात्, अन्यथा भावानामेकत्वमध्यवस्यन्ती कल्पना तव स्थैर्यमपि किं न दर्शयेत् ? । तस्मादुदितफलापेक्षया कल्पना भावानां जनकत्वमध्यवस्यति, अनुदितफलापेक्षया तु तत्रैव जनकत्वमध्यारोपयतीति न भेदः । न चेदेवम्, एकस्यापि क्षणस्य परोपजनितकार्यापेक्षयाऽजनकत्वम्, स्वोत्पाद्यकार्यापेक्षया

तु जनकत्वमिति भेदः स्यात्। कल्पनाप्रदर्शितभेदबाधकोऽभेदनिर्भासस्तूभयत्र तुल्य इति ध्येयम्। 'समर्थो यदि हेतुः, तदोत्पन्नमात्र एव कार्यं किं न जनयेत्?' इति चेत्। तत्र कुर्वद्रूपः क्षणस्तदा किं न भवेत्?। 'सहकार्यभावादि'ति चेत्? तुल्यमिदमन्यत्र।

[क्रम-यौगपद्य से अर्थक्रिया का स्थिर वस्तु में असंभव नहीं है]

बौद्ध की ओर से जो यह बात कही जाती है कि-"स्थिर पदार्थ में अर्थक्रियाजनकत्व क्रम से अथवा युगपद् नहीं उपपन्न होता-क्योंकि-

क्रम से अर्थक्रियाजनकत्व मानने पर पूर्व अर्थक्रिया के जनक को अनन्तरभावी अर्थक्रिया का अजनक मानना होगा क्योंकि 'यदि वह अनन्तरभावी अर्थक्रिया का भी जनक होगा तो पूर्व अर्थक्रियाकाल में ही अनन्तरभावी अर्थक्रिया की उत्पत्ति का अतिप्रसङ्ग होगा। तथा अनन्तरभावी अर्थक्रिया के जनक को पूर्वभावी अर्थक्रिया का अजनक मानना होगा अन्यथा अनन्तरभावी अर्थक्रियाकाल में पूर्वभावी अर्थक्रिया की भी उत्पत्ति का अतिप्रसङ्ग होगा। इस प्रकार पूर्वभावी अर्थक्रिया के जनक और अनन्तरभावी अर्थक्रिया के जनक में भेद होने से स्पष्ट है कि पूर्वभावी और अनन्तरभावी अर्थक्रिया की जनकता स्थिर पदार्थ में नहीं होती। इसी प्रकार—

स्थिर पदार्थ को युगपद् भी अर्थक्रिया का जनक नहीं माना जा सकता क्योंकि-'जो स्थिरतया अभिमत पदार्थ अपनी सम्पूर्ण अर्थक्रियाओं को एक काल में ही पैदा कर देगा उससे अतिरिक्त काल में उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण न होगा। इस प्रकार अर्थक्रियाकारित्व स्थिर वस्तु में सम्भव न होने से क्षणिक वस्तु में ही प्रतिष्ठित होता है।"-

इस बौद्ध कथन से भाव के क्षणिकत्व की सिद्धि की आशा दुराशा है क्योंकि- एक हेतु को भी अपने से भिन्न अर्थक्रियाओं को क्रम से उत्पादक मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

[सर्व अर्थक्रियाओं का एक ही क्षण में जनकत्व का नियम असिद्ध]

यदि यह कहा जाय कि-'हेतु यदि प्रतिक्षण एक ही होगा अर्थात् पहली अर्थक्रिया से लेकर अन्तिम अर्थक्रिया तक एक ही होगा तो जिस समय उससे पहली अर्थक्रिया उत्पन्न होती है उसी समय अन्य अर्थक्रियाओं की भी उत्पत्ति अनिवार्य होगी, क्योंकि विभिन्न कालों में होने वाली अर्थक्रियाओं को जब एक ही हेतु उत्पन्न करता है तब तो वही हेतु पहली अर्थक्रिया के समय में विद्यमान है अतः उसी समय उन सभी अर्थक्रियाओं को उत्पन्न करने में उसे कौन रोक सकेगा?'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि-'जिस जिस अर्थक्रिया का जनक जिस क्षण में होता है उस क्षण में उन सभी अर्थक्रियाओं को वह उत्पन्न करे' ऐसा नियम नहीं है। अत एव लोक में कार्यकारण की जो स्थिति देखी जाती है उसके अनुसार हेतु का अभेद और अर्थक्रिया का भेद युक्तिसंगत है। क्योंकि-'जो क्रमिक अर्थक्रिया का उत्पादक होता है वह प्रतिक्षण नश्वर होता है' यह व्याप्ति कहीं उपलब्ध नहीं है। अतः अर्थक्रिया के जन्मक्रम से अर्थक्रिया के हेतु में प्रतिक्षण भेद की सिद्धि नहीं हो सकती।

यह भी द्रष्टव्य है कि अर्थक्रिया का भेद भी प्रतिक्षण में सिद्ध नहीं है, इसलिये जब अर्थक्रिया का प्रतिक्षण में भेद स्वयं असिद्ध है तो अर्थक्रिया भेद से उसके हेतु का प्रतिक्षण में भेद कैसे सिद्ध हो सकता है? कहने का आशय यह है कि यदि यह सिद्ध हो कि दण्डचक्रादि से उत्पन्न होनेवाला घट

मुद्गराभिघात के पूर्वक्षण तक एक नहीं रहता किन्तु प्रतिक्षण में बदलता रहता है अर्थात् प्रथम क्षणोत्पन्न घट द्वितीय क्षण में नहीं रहता किन्तु तत्सदृश दूसरा घट उत्पन्न होता है और यह क्रम घट का विनाश न होने तक चलता है। तब तो यह मानना आवश्यक होता है कि प्रथमक्षणोत्पन्नघट का कारण दूसरा है और द्वितीय-तृतीयक्षण में उत्पन्न होने वाले घट का कारण दूसरा है। किन्तु यही बात प्रमाण के अभाव होने से असिद्ध है। अतः अर्थक्रिया से प्रतिक्षण भिन्न कारण की सिद्धि असम्भव है।

[काल असिद्ध होने पर अर्थक्रियाक्रम भी असिद्ध]

यह भी ज्ञातव्य है कि बौद्ध मत में अतिरिक्त काल की सत्ता नहीं है क्योंकि कार्य परम्परा से भिन्न काल की सत्ता उन्हें मान्य नहीं है। अतः अर्थक्रियाओं का क्रम भी युक्ति सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि क्रम कालमूलक होता है और काल उनके मत में है नहीं। साथ में यह भी ज्ञातव्य है कि कार्य के भेदमात्र से कारणभेद की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि प्रदीप आदि एक कारण से भी प्रकाश-दाह-कज्जल आदि अनेक कार्य की युगपद् उत्पत्ति होती है। यदि इस पर यह कहा जाय कि-"बौद्ध मत में काल मान्य न होने पर भी अन्य मत में स्वीकृत काल द्वारा कार्य के क्रमिकत्व की उपपत्ति की जा सकती है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कार्य का क्रम यदि प्रमाण से सिद्ध हो तब उसकी उपपत्ति के लिये अन्यमत स्वीकृत काल के अवलम्बन की बात हो सकती है किन्तु कार्य-क्रम ही अप्रामाणिक है। विशेष रूप से ज्ञातव्य यह है कि यदि परमत अभ्युपगत काल का अवलम्बन कर कार्य-क्रम की और कार्य-क्रम से कारण-क्रम की उपपत्ति कर भी दी जाय तो भी स्थैर्य का भङ्ग नहीं सिद्ध हो सकता है क्योंकि क्रमिक कार्य का क्रमिक कारण भी स्थिर रह सकता है। अर्थात् विभिन्न क्षणों में उत्पन्न होने वाले घट का कारण विभिन्न क्षणों में भिन्न भिन्न होते हुये भी उन्हें चिरस्थायी मानने में कोई बाधा नहीं है।

[एक हेतु से क्रमिक कार्य प्रत्यक्ष सिद्ध]

यदि यह कहा जाय कि–"स्थैर्य का अर्थ तो है एक में क्रमिक अनेक क्षणों का सम्बन्ध, किन्तु यह सम्भवित नहीं है। क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रथमक्षण-सम्बद्ध भाव को द्वितीयक्षणसम्बन्ध का भी जनक मानना होगा, किन्तु यह असंगत है; अन्यथा प्रथम क्षण में ही द्वितीयक्षण सम्बन्ध की आपत्ति होगी। इसी प्रकार द्वितीयक्षणस्थ भाव को प्रथमक्षणसम्बन्ध का अजनक मानना होगा अन्यथा द्वितीयक्षण में प्रथमक्षणसम्बन्ध की आपत्ति होगी। इसी प्रकार प्रथमक्षणस्थ भाव में प्रथमक्षण-सम्बन्ध-जनकत्व और द्वितीयक्षणसम्बन्ध का अजनकत्व, एवं द्वितीयक्षणस्थ भाव में द्वितीयक्षण-सम्बन्ध-जनकत्व और प्रथमक्षणसम्बन्धाऽजनकत्व होने से प्रथमक्षणस्थ और द्वितीयक्षणस्थ भाव में ऐक्य नहीं हो सकता; क्योंकि जनकत्व और अजनकत्व ये दोनों विरोधी स्वभाव एक व्यक्ति में नहीं हो सकते।"–

तो यह ठीक नहीं है क्योंकि एक हेतु का क्रमिक कार्य प्रत्यक्ष-सिद्ध है। जनकत्व और अजनकत्वरूप स्वभाव भेद यह कल्पना का विषय है इसलिये उस काल्पनिक स्वभावभेद से भाव का भेद नहीं सिद्ध हो सकता। यदि कल्पना को भी वस्तु की साधक माना जाय तो–भावों में अर्थात् एक भाव की उत्पत्ति से उसके विनाश न होने तक उस भाव में जो 'स एवायं घटः' इत्यादि रूप बुद्धि होती है

यह बुद्धि बौद्ध मत में कल्पनारूप है क्योंकि अपनी उत्पत्ति से लेकर अपने विनाश तक भाव एक नहीं होता है किन्तु भेद का ज्ञान नहीं होने से उक्त कल्पनात्मक बुद्धि होती है,–फिर उस कल्पनात्मकबुद्धि से भाव में एकत्व की सिद्धि अनिवार्य हो जायगी। कहने का निष्कर्ष यह है कि कल्पना उत्पन्नकार्य की अपेक्षा जिस भाव में जनकत्व को ग्रहण करती है, अनुत्पन्न कार्य की अपेक्षा उसी भाव में अजनकत्व का आरोप करती है। अतः प्रथमक्षणस्थ भाव में प्रथमक्षण में द्वितीयक्षणसम्बन्ध का उत्पाद न होने से द्वितीयक्षणसम्बन्ध के अजनकत्व का आरोप होता है। अतः द्वितीयक्षणसम्बन्ध के आरोपित अजनकत्व से उसमें-प्रथमक्षणस्थ भाव में द्वितीयक्षणसम्बन्धजनक का भेद सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वही भाव द्वितीयक्षण में द्वितीयक्षणसम्बन्ध का जनक होता है। यदि अपेक्षाभेद से भी एक कार्य के जनकत्व-अजनकत्व में अविरोध न माना जायगा तो एकक्षण में भी भेद हो जायगा। अर्थात् तत्क्षण में भी तत्क्षण का भेद हो जायगा। क्योंकि जो क्षण स्वजन्य व्यापार द्वारा कालान्तर में जिस कार्य का जनक होता है वह अन्यजन्यकार्य (व्यापार) द्वारा उसी कार्य का अजनक भी होता है तो इस प्रकार एक क्षण में भी एक कार्य के जनकत्व और अजनकत्व इन दोनों विरुद्ध धर्मों के समावेश का प्रसङ्ग होने से उस क्षण में स्व से ही भिन्नता की आपत्ति होगी। जिस का पर्यवसान शून्यवाद में होगा। यदि यह कहा जाय कि–'तत्क्षण में तत्क्षण के अभेद का बोध तत्क्षण में तत्क्षण के कल्पनारोपित भेद का बाधक होगा अतः तत्क्षण में तत्क्षण के भेद का प्रसंग नहीं होगा'–तो यह युक्ति स्थैर्यपक्ष में भी तुल्य है क्योंकि–'उस पक्ष में भी यह कहा जा सकता है कि स्थिर बीज में अभेद का बोध कुशूलस्थ दशा में अङ्कूरजनकत्व की कल्पना से उपनीत भेद का भी बाधक हो सकता है। अतः कुशूलस्थबीज में क्षेत्रस्थ बीज का भेद सिद्ध नहीं हो सकता।

स्थैर्य पक्ष के विरुद्ध यदि यह प्रश्न किया जाय कि 'स्थिर भाव यदि कालान्तर में होने वाले कार्य के प्रति समर्थ माना जायगा तो उससे स्व की उत्पत्ति अनन्तर ही कालान्तरभावी कार्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ?' तो इसके उत्तर में क्षणिकत्ववादी बौद्ध के प्रति स्थैर्यवादी की ओर से यह प्रश्न हो सकता है कि तत्तत्कार्यानुकूल कुर्वद्रूपक्षण भी निश्चितसमय के पूर्व ही अर्थात् जिस सन्तान में वह उत्पन्न होता है उस सन्तान के प्रथमक्षण की उत्पत्ति के अनन्तर ही क्यों नहीं उत्पन्न होता ? यदि उत्तर में बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि कुर्वद्रूपक्षण को उत्पन्न करने में अपेक्षित सहकारी का पूर्व में अभाव होने से पूर्व में उस क्षण की उत्पत्ति नहीं होती तो यह उत्तर स्थैर्यवादी के मत में भी समान है–अर्थात् यह स्थैर्यवादी कह सकता है कि कुशूलस्थबीज कुशूल में रहते समय अंकूर का उत्पादक इसलिये नहीं होता कि अंकूर की उत्पत्ति में अपेक्षित क्षेत्र जैसे उपजाउ भूमि आदि सहकारी का संनिधान नहीं रहता।

स्यादेतत्, मम कुर्वद्रूपाणां दण्ड-घटादिक्षणानामेकेन घटकुर्वद्रूपत्वेनैव घटव्याप्यत्वम्, परेषां स्थिरसहकारिसमवहितदण्डत्वादिना घटादिव्याप्यत्वम्, तत्रावच्छेद्यावच्छेदकभावेऽविनिगमस्त्वेस्यतिगौरवम्। न च घटसामग्रीत्वेन घटव्याप्यता, सामग्र्या एवाऽनिरुक्तेः, तथाहि-न तावद् यावन्ति कारणानि सामग्री, क्रमिककारणसमुदायेऽतिव्याप्तेः, नाप्येकक्षणावच्छिन्नानि यावन्ति कारणानि, यागादेश्चिरातीतत्वेन स्वर्गादिसामग्र्यामव्याप्तेः। न च तादृशयावत्कारणसमवधानं सा, अस्ति च चिरातीतस्यापि हेतोर्व्यापाररूपसमवधानमिति वाच्यम्, त्रिशक-

लिततावत्कारणसमवधानाऽसामग्रीभावात् । न चेतरकारणविशिष्टचरमकारणमेव सा; न च विनिगमनाविरहः, कार्यैकदेशताया विनिगमकत्वादिति वाच्यम्, इतरेषामपि कयाचित् प्रत्यासत्त्या कार्यैकदेशत्वात्, अन्यथा चरमकारणे तद्वैशिष्ट्यानिरुक्तेः । न च चरमकारणमेव सा, तस्य संयोगत्वादिनाऽसामग्रीत्वात्, चरमत्वेन तत्त्वे चाऽव्यवहितपूर्ववर्तिना संबन्धेन फलविशिष्टोत्पत्तिकत्वं तदिति लाघवात् तेन संबन्धेन फलस्यस्यैव सामग्रीत्वौचित्यात् । एवं च 'सामग्र्यभावात् कार्याभावः' इत्यत्र फलतः 'स्वाभावादेव स्वाभावः' इति, सामग्रीभेदात् कार्यभेद इत्यत्र च फलतः स्वभेदादेव स्वभेद इत्यापतितमिति न किञ्चिदेतत् । एतेन 'प्रागभावेतरकादाचित्कयावत्कारणप्रागभावानाधारः कार्यप्रागभावाधारः क्षण एव सामग्री, नेयं कार्यजनिका, किन्तु तद्व्याप्या, कार्याधिकरणीभूतस्य क्षणस्य कार्यप्रागभावानधिकरणत्वात्, तदधिकरणीभूतस्य च कार्यानधिकरणत्वात्, अधिकरणीभूतानामेव च कालोपाधीनां हेतुत्वात्' इत्यपि निरस्तम्, एतस्यास्तत्र तदुत्पत्त्यनियामकत्वादिति ।

[सामग्री के निर्वचन का असम्भव-पूर्वपक्ष]

यदि बौद्ध की ओर से अपने पक्ष के समर्थन के लिये यह युक्ति प्रस्तुत की जाय कि-'दण्ड-घटादि क्षण को कुर्वद्रूपत्व से कारण मानने पर दण्ड-घटादि रूप सभी कुर्वद्रूपक्षणों को घटकुर्वद्रूपत्व-स्वरूप अनुगत धर्म के द्वारा घट का व्याप्य यानी घट का उत्पादक माना जा सकता है, किन्तु स्थैर्यवादी के मत में दण्ड आदि को दण्डत्व आदि रूप से घट के प्रति कारणता होती है । अतः दण्डादिसमूह को 'एक विशिष्ट अपरत्व' रूप से घट का उत्पादक मानना होगा । तो फिर सामग्री घटक दण्डचक्रादि कारणों के अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव यानी विशेष्य-विशेषण भाव में विनिगमनाविरह होने से गुरुरूप से अनेक उत्पादकता की कल्पना करने में गौरव होगा । यदि इस गौरव के परिहार के लिये घटसामग्रीत्व रूप से दण्ड-चक्रादि को घटव्याप्य यानी घटोत्पादक माना जाय तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि-सामग्रीत्व का निर्वचन नहीं हो सकता । जैसे-

यदि समस्त कारणों को सामग्री माना जायगा तो जिस कार्य के कारण, क्रम से प्रादुर्भूत होते हैं और उनका कहीं युगपत् समवधान नहीं हो पाता, ऐसे कारणों के समुदाय में सामग्रीलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । यदि एकक्षणवृत्ति यावत्कारणों को सामग्री माना जायगा तो स्वर्गादि सामग्री में अव्याप्ति हो जायगी क्योंकि स्वर्ग के कारणभूत यज्ञ इच्छात्मक होने से चिरपूर्व में अतीत हो जाने के कारण वह स्वर्ग के अन्य कारणों का समानक्षणवृत्ति नहीं हो सकता ।

यहाँ यदि स्थैर्यवादी की ओर से यह कहा जाए कि "एकक्षण में यावत् कारणों का समवधान ही सामग्री है, तथापि स्वर्गादि सामग्री में अव्याप्ति नहीं हो सकती, कारण यह ज्ञातव्य है कि कार्योत्पत्ति के पूर्व किन्हीं कारणों का तो साक्षात् समवधान होता है और किन्हीं कारणों का व्यापार द्वारा होता है । तो इस प्रकार साक्षात् और व्यापार द्वारा दोनों रूप में होने वाला समवधान एक ही क्षण में यावत्कारणों का समवधान कहा जाता है । स्वर्गोत्पत्ति के पूर्व यज्ञ का स्वयं समवधान न होने पर भी उसके व्यापार का समवधान होता है "-

बौद्धों का उत्तर है कि यह ठीक नहीं है क्योंकि विशकलित कारणों के समवधान में असामग्रीभाव होता है [किन्तु उक्त निर्वचन के अनुसार उसमें भी सामग्रीत्व की आपत्ति होगी] जैसे, जिस क्रम से कारणों के एकत्र होने पर कार्य का उदय होता है उससे विपरीत क्रम से यदि कारणों का समवधान हो तो यह विशकलित कारणसमवधान कहा जायगा और इससे कार्य का उदय न होने से उसे सामग्री नहीं कहा जाता किन्तु सामग्री के उक्त निर्वचन के अनुसार इस प्रकार के कारणसमवधान में भी सामग्रीत्व की आपत्ति अनिवार्य होगी।

यहाँ स्थैर्यवादी कह सकता है कि "इस दोष के परिहार के लिये इतरकारणविशिष्ट चरम कारण ही सामग्री है, ऐसा मानने पर इतर कारण और चरमकारण के विशेषण-विशेष्यभाव में विनिगमना-विरह नहीं हो सकता क्योंकि कार्य का सामानाधिकरण्य ही चरम कारण के विशेष्य होने में विनिगमक होगा। अभिप्राय यह है कि चरम कारण कार्योत्पत्तिमद्देश में विद्यमान होकर कार्य का उत्पादक होता है। यदि चरम कारण को विशेषण बना कर, इतर कारण को विशेष्य बनाया जाय तो इतर कारण कार्योत्पत्तिमद्देश में वृत्ति न होने से उसमें कार्योत्पादकता की सिद्धि नहीं होगी।"–

किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि इतर कारण भी किसी सम्बन्ध से कार्योत्पत्तिमद्देश में वृत्ति होते हैं। यदि सर्वथा कार्योत्पत्तिमद्देश में अवृत्ति होंगे तो चरमकारण को विशेष्य मानने पर भी उसमें इतर कारणों का सामानाधिकरण्य रूप वैशिष्ट्य नहीं हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि– 'केवल चरम कारण ही सामग्री है' तो यह भी ठीक नहीं हो सकता क्योंकि–घटादि के चरमकारणीभूत कपालसंयोग आदि को केवल संयोगत्व रूप सामग्री नहीं माना जा सकता क्योंकि–कपालादि के व्युत्क्रमसंयोग से भी घटादि के उत्पत्ति का प्रसंग होगा और यदि चरमसंयोगत्वरूप से उसको सामग्री कहा जायगा तो चरमत्व अव्यवहितपूर्वत्व सम्बन्ध से फलविशिष्टोत्पत्तिकत्व से भिन्न नहीं हो सकता –इस स्थिति में अव्यवहितपूर्वत्व सम्बन्ध से फलविशिष्टोत्पत्तिकत्व की अपेक्षा अव्यवहितपूर्वत्व सम्बन्धेन फलवत्त्व को ही सामग्री मानना उचित होगा, फलतः अव्यवहितपूर्वत्व सम्बन्ध से जब फल विशिष्ट ही सामग्री कही जायगी तो 'सामग्री के अभाव से कार्य का अभाव होता है'–यह व्यवहार असंगत हो जायगा क्योंकि अव्यवहित पूर्वत्व सम्बन्ध से फलविशिष्ट का अभाव फलाभाव को आधीन होगा, अतः अव्यवहितपूर्वत्व सम्बन्ध से फलविशिष्ट के अभाव से कार्य का अभाव है– अर्थात् इसका स्वरूप यह होगा कि 'फल के अभाव से ही फलका अभाव होता है' और इसमें आत्माश्रय दोष स्पष्ट है। इसीप्रकार सामग्रीभेद से कार्यभेद होता है इस व्यवहार का भी पर्यवसित रूप 'कार्यभेद से कार्यभेद होता है' यही प्राप्त होता है। इसमें भी आत्माश्रय स्पष्ट है। अतः सामग्री के निर्वचन का उक्त सम्पूर्ण प्रयास अकिञ्चित्कर है।

यदि यह कहा जाय कि–"प्रागभाव से अतिरिक्त किसी कार्य के जितने कादाचित्क यानी कालिकअव्याप्यवृत्ति कारण होते हैं उन सभी कारणों के प्रागभाव का अधिकरण जो क्षण वही कार्य की सामग्री है। ऐसा क्षण कार्योत्पत्ति का अव्यवहित पूर्व क्षण ही हो सकता है क्योंकि उस समय तक कादाचित्क सभी कारणों की उत्पत्ति हो जाने से वह क्षण कादाचित्क यावत्कारणों के प्रागभाव का अनधिकरण होता है और कार्य की उत्पत्ति तब तक नहीं होती है। अतः वह क्षण कार्य के प्रागभाव का अधिकरण भी है। इस प्रकार इस क्षण को सामग्री मानने पर दोष नहीं हो सकता"–तो इस प्रसंग में यह ध्यान देना आवश्यक है कि उक्त क्षणरूप सामग्री कार्य का जनक नहीं होगी क्योंकि कार्य का

अधिकरणीभूत क्षण कार्य प्रागभाव का अनधिकरण नहीं होता और कार्य प्रागभाव का अधिकरणीभूत क्षण कार्य का अधिकरण नहीं होता। और जो कालोपाधि कार्य का अधिकरण होती है वही कारण मानी जाती है। अतः उक्त क्षण कार्याधिकरण न होने से कार्य का जनक नहीं है किन्तु कार्य को व्याप्य है। अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध से उक्त क्षण जिसमें होता है उसमें अव्यहितपूर्वत्व सम्बन्ध से कार्य रहता है। किन्तु उक्त क्षणरूप सामग्री कार्योत्पत्ति का नियामक नहीं है और कार्योत्पत्ति नियामक में ही सामग्रीपद का प्रयोग शिष्ट-सम्मत है।

नैवम्, सामग्र्याः समग्रव्यतिरिक्ता-ऽव्यतिरिक्तपरिणामविशेषरूपत्वात्, घनस्य विविच्यमानस्य भूतादाविव विविच्यमानायास्तस्या दण्डादौ विश्रामेऽप्यविविच्यमानायास्तद्वदेकत्वात्। अभिन्नकालकृतार्थान्तरभावेन च सा विभिन्नव्यवहारनिबन्धनम्, भिन्नकालकृतार्थान्तरभावेन च कार्योपधायिकेति तत्त्वम्। नैयायिकादिनापि हि मानसादौ चाक्षुषसामग्र्यादिप्रतिबन्धकतादिना लाघवादपि तस्या अर्थान्तरभूतायाः कल्पयितुं युक्तत्वात्। इति नैकान्तदोषेऽप्यनेकान्ते किमपि दूषणं पश्यामः। 'तत्र तत्कार्योत्पत्तौ तदवच्छिन्नयावत्कारणसमवधानरूपायाः सामग्र्या नियामकत्वम्' इत्यपरेषां शब्दान्तरम्। अधिकं स्वधियाऽभ्यूह्यम् ॥ ३० ॥

[जैन की ओर से सामग्री का स्पष्ट निर्वचन]

सामग्री के उक्त निर्वचन के बौद्ध द्वारा किये गये निराकरण का उत्तर देते हुये जैन मनीषियों का यह कथन है कि सामग्री को समग्र कारणों से कथञ्चिद् भिन्नाभिन्न परिणामविशेषरूप मानने से उक्त दोषों का प्रसङ्ग नहीं हो सकता। जैसे भू-तेजः-जल और वायु से बने हुये मेघ का विश्लेषण करने पर उसका तत्तद्भूतों में विश्राम होता है किन्तु अविश्लेषण की स्थिति में मेघ एक होता है उसी प्रकार दण्डचक्रादि सामग्री का विश्लेषण करने पर उसका दण्डचक्रादि तत्तत्कारणों में विश्राम होने पर भी अविविक्तभाव से दण्डचक्रादि का परिणामविशेषरूप सामग्री एक होती है। आशय यह है कि जब कालविशेष से सामग्री में अर्थान्तरभाव यानी भेद का अवभास होता है तब वह भेदव्यवहार का निमित्त होता है अर्थात् उस समय 'सामग्री एक व्यक्ति नहीं है' इस प्रकार का भेदज्ञान होता है। किन्तु जब कालविशेष से उसमें अर्थान्तरभाव गृहीत नहीं होता अर्थात् वह तत्कारण व्यक्तिरूप से अविविक्त दीखती है तब वह कार्य की उत्पादिका होती है।

जैन विद्वानों ने नैयायिक आदि को भी सामग्री का उक्त स्वरूप स्वीकार करने के लिये विवश होने का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि नैयायिक मानस प्रत्यक्षादि में चाक्षुषसामग्री आदि को प्रतिबन्धक मानते हैं किन्तु सामग्री यदि कारणसमुदायरूप होगी तो उसे 'एकविशिष्ट-अपरत्व' रूप से ही प्रतिबन्धकत्व मानना आवश्यक होने से विशेषणविशिष्य भाव में विनिगमनाविरह होने के कारण गौरव होगा। किन्तु यदि सामग्री को सम्पूर्ण कारणों से भिन्न-भिन्न एक परिणामविशेषरूप माना जायगा तो उसे तत्तद्व्यक्तित्वरूप से या तत्तत्कार्यसामग्रीत्व रूप से प्रतिबन्धकता मानने में लाघव होगा। अतः सामग्री को समस्त कारणों से भिन्नाऽभिन्न परिणामविशेषरूप मानना ही न्यायोचित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामग्री को कारणों से एकान्ततः भिन्न अथवा अभिन्न मानने में दोष होने पर भी भिन्नाऽभिन्नरूप अनेकान्त के अभ्युपगम में कोई दोष नहीं है।

कुछ अन्य लोगों ने तत्कार्य की उत्पत्ति में तत्कार्य से अवच्छिन्न अर्थात् अव्यवहितपूर्वत्व सम्बन्ध से तत्कार्यविशिष्ट यावत्कारणसमवधानरूप सामग्री को नियामक माना है। उनका आशय यह है कि घटादि और दण्डादि में घटत्व और दण्डत्वरूप से ही सामान्य कार्यकारणभाव है। तद्घटत्व और तद्दण्डत्व आदि रूप से कार्यकारणभाव नहीं है किन्तु घटत्वावच्छिन्न के दण्डत्वाद्यवच्छिन्न कारण, जिस घटव्यक्ति के अव्यवहितपूर्वत्व से अवच्छिन्न होता है उनका समवधान तद्घटोत्पत्ति का नियामक होता है। व्याख्याकार का कहना है कि उक्त कथन भी सामग्री को समग्र कारणों से भिन्न-अभिन्न परिणाम विशेषरूप बताने का शब्दान्तर से एक प्रकार ही है। इस सम्बन्ध में पाठकों द्वारा अपनी बुद्धि के अनुसार अधिक विचार किया जा सकता है ॥ ३० ॥

३१ वीं कारिका में क्षणिकत्व के साधक परिणामरूप तीसरे हेतु को दोषयुक्त बताया गया है–

'परिणामात्' इति तृतीयहेतुं दूषयितुमाह—

मूलम्—**परिणामोऽपि नो हेतुः क्षणिकत्वप्रसाधने ।**
सर्वदैवान्यथात्वेऽपि तथाभावोपलब्धितः ॥ ३१ ॥

परिणामोऽपि=अतादवस्थ्यलक्षणः **नो हेतुः**=न समर्थः, **क्षणिकत्वप्रसाधने**=निरन्वयनाशसाधने। कथम् ? इत्याह-**सर्वदैव**=सर्वकालमेव **अन्यथात्वेऽपि**=बाल-कुमारादिभावेन घट-शरावादिभावेन च विभिन्नरूपत्वेऽपि **तथाभावोपलब्धितः**=देह-मृदादिभावोपलब्धेः। अयं भावः-चित्रज्ञाने नानाकारोपलम्भेऽप्येकरूपोपलम्भाद् यथा चित्रैकरूपताऽविरोधः, तथा परिणामित्वेन भेदसिद्धावपि 'सोऽयं देहः' इत्याद्यभेदोपलम्भाद् न स्थैर्यबाधः, अनुभवसिद्धयोर्भेदाऽभेदयोरपि समावेशात्। प्रपञ्चयिष्यते चेदमुपरिष्टात् ॥ ३१ ॥

[क्षणिकत्व साधक तीसरे 'परिणाम' हेतु की परीक्षा]

बौद्धों का कहना है कि "जो वस्तु जिस क्षण में उत्पन्न होती है उत्तरक्षणों में वह अपनी प्रथमक्षण की अवस्था में ही नहीं रहती किन्तु प्रतिक्षण उसमें अतादवस्थ्य यानी कुछ वैलक्षण्य होता रहता है। इस अतादवस्थ्य को ही परिणाम कहा जाता है। यह परिणाम वस्तु की क्षणिकता का साक्षी है। कहने का आशय यह है कि उत्पन्न वस्तु का उत्तर क्षणों में उपचय अपचयात्मक जो भी परिवर्तन [होता है] वह उत्पन्न वस्तु के ज्यों का त्यों अक्षुण्ण रहते हुये नहीं हो सकता। यदि अपचय होगा तो अवश्य ही उसके कुछ अंश पृथक् होंगे। यदि उपचय होगा तो वह भी उसकी पूर्वरचना के ठोसरूप में यथावत् बने रहने पर नये अंशों के मिश्रण से होने वाला उपचय सम्भव नहीं है; अतः दोनों ही प्रकार के परिवर्तन के लिये यह मानना आवश्यक होगा कि उत्पन्न वस्तु की रचना दूसरे-तीसरे क्षणों में टूटती है और उसी से उसमें नया परिवर्तन होता है। इसप्रकार अतादवस्थ्य से उसका प्रतिक्षण विनाश होना निर्विवाद है।"

किन्तु इसके विपरीत ग्रन्थकार का कहना है कि वस्तु के अतादवस्थ्यरूप परिणाम से उसका निरन्वय नाश नहीं हो सकता क्योंकि 'जब उत्पन्न वस्तु अपनी पूर्वावस्था से विलक्षण अवस्था में दृष्ट होती है तब सदैव उत्तर अवस्थाओं में उत्पन्न वस्तु का मूलरूप में अविच्छेद स्वरूप अन्वय

अवश्य होता है जैसे कोई बालक पैदा होता है तो बाल-कुमार-युवा-वृद्ध आदि रूपों में उसमें अताद-वस्थ्य होने पर भी उन सभी अवस्थाओं में देहात्मकता बनी रहती है। एवं मृत्पिण्ड का घटशराव-उदञ्चन आदि रूपों में परिवर्तन होने पर भी उन सभी रूपों में मिट्टीरूपता बनी रहती है, इस तथ्य को कोई भी विवेकशील अस्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि यह सार्वजनीन अनुभव पर आधारित है। कहना यह है कि जहाँ चित्राकार ज्ञान होता है वहाँ नील-पीतादि विभिन्न आकारों का भी अवश्य उपलम्भ होता है किन्तु उसमें एकरूपता का उपलम्भ भी अबाधितरूप से उत्पन्न होता है। अतः उस वस्तु में चित्रैकरूपता मानने में कोई विरोध नहीं होता। उसी प्रकार बाल-कुमारादि परिणामरूप से देह में भेद सिद्ध होने पर भी 'स एवायं देहः यह वही शरीर है' इस प्रकार बाल-कुमार आदि सभी अवस्थाओं में अभेद ग्रह होने के कारण बाल-कुमार आदि विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्त्तित होने वाले देह के स्थैर्य का बाध नहीं हो सकता। क्योंकि-उसमें बाल-कुमारादि रूप में भेद और देहरूप में अभेद दोनों ही अनुभवसिद्ध है। अत एव दोनों का एकत्र समावेश सर्वथा संगत है। इस विषय का विस्तृत विचार आगे किया जायगा ॥ ३१ ॥

३२ वीं कारिका में उक्त विचारों के फलस्वरूप जो अवश्य स्वीकार्य सिद्ध होता है उसका उपपादन किया गया है—

इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—

मूलम्—नार्थान्तरगमो यस्मात्सर्वथैव न चागमः।
परिणामः प्रमासिद्ध इष्टश्च खलु पण्डितैः ॥ ३२ ॥

यस्मात् कारणाद् **नार्थान्तरगमः**=न सर्वथाऽर्थान्तरगमनम्, न च **सर्वथैवागमः**-एकान्तेनार्थान्तरागमनम्, परिणामः **प्रमासिद्धः**=प्रमाणप्रतिष्ठितः **इष्टश्च खलु**=निश्चितम्, **पण्डितैः**="तद्भावः परिणामो यत् तत्तेन तथा भूयते" इति वचनात्। युक्तं चैतत्, सुवर्णं हि कुण्डलतया परिणममानं न सर्वथैव कुण्डलभावं भजते, सुवर्णरूपस्यापि परित्यागापत्तेः, न च सर्वथा न भजतेऽपि, अकुण्डलत्वप्रसङ्गात्। येन च रूपेण यत्र स्वकालीनस्वाभिन्नोत्पाद-प्रतियोगित्वं तेन रूपेण तत्र तत्परिणामत्वव्यवहारः, यथा 'कुण्डलं सुवर्णपरिणामः' इति, न तु 'सुवर्णं परिणामः' इति ॥ ३२ ॥

[पंडितों को मान्य परिणाम की व्याख्या]

परिणाम का यह स्वरूप प्रमाण द्वारा सिद्ध है कि परिणाम में वस्तु का अन्य अर्थ में सर्वथा परिवर्त्तन नहीं होता और सर्वथा उसका अपरिवर्त्तन भी नहीं होता किन्तु वस्तु का किसी एकरूप को त्याग कर किसी नये रूप को ग्रहण करना ही इसका परिणाम कहा जाता है। विद्वानों ने परिणाम का स्वरूप निश्चित किया है। इसी आशय का एक प्रसिद्ध वचन है जिसका अर्थ यह है-किसी वस्तु का अन्यादृश रूप में अवस्थित होना ही उस वस्तु का परिणाम है जिसको "तस्य तथाभावः' अर्थात् वस्तु मूलतः वही है किन्तु उसकी अवस्था नयी है' इस प्रकार कहा जाता है। विचार करने पर परिणाम का यह स्वरूप युक्तिसङ्गत भी प्रतीत होता है। जैसे सुवर्ण कुण्डल के रूप में परिणत

होता है तो वह सर्वथा कुण्डल नहीं बन जाता क्योंकि ऐसा होने पर उसकी सुवर्णरूपता समाप्त हो जायगी। और यह भी नहीं है कि-'जब सुवर्ण कुण्डलरूप में परिणत होता है तब वह सुवर्ण सर्वथा यथापूर्व ही बना रहता है उसमें कोई नवीनता नहीं आती।' ऐसा मानने पर कुण्डल का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा। इस सम्बन्ध में नियम यह है कि,-'जिस रूप से जो अपने समान काल में अपने से अभिन्न उत्पत्ति का प्रतियोगी अर्थात् उत्पत्ति का आश्रय होता है, वह उस रूप से अपने ही परिणाम रूप में व्यवहृत होता है।' जैसे कि सुवर्ण अपने समानकाल में अपने से अभिन्न उत्पाद का कुण्डलत्वरूप से प्रतियोगी होता है अत एव कुण्डलत्वरूप से अपने ही परिणामरूप में व्यवहृत होता है यथा 'कुण्डल सुवर्ण का परिणाम है'। इसका अर्थ है कि सुवर्ण स्वयं अपना ही कुण्डलात्मक परिणाम है। किन्तु सुवर्ण सुवर्णत्वरूप से उक्त उत्पत्ति का प्रतियोगि न होने से 'सुवर्ण अपना सुवर्णात्मक परिणाम है' इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता। कहने का आशय यह है कि सुवर्ण द्रव्य स्वयं अपने एकरूप से निवृत्त होता है और अपने रूपान्तर से उत्पन्न होता है। निवृत्ति और उदय किसी भी अवस्था में उसका सारा का सारा स्वरूप परिवर्तित नहीं होता। इसीलिये सुवर्ण अपनी पिण्डावस्था का त्याग करते हुये और कुण्डलाकार को धारण करते हुये दोनों ही अवस्था में अपने सुवर्णरूप में अवस्थित रहता है ॥ ३२ ॥

३३ वीं कारिका में बौद्ध द्वारा भावों की कथित अनित्यता का निरास किया गया है-

अत्र परोक्ताऽनित्यतामपाकुर्वन्नाह—

मूलम्—यच्चेदमुच्यते ब्रूमोऽतादवस्थ्यमनित्यताम् ।
एतत्तदेव न भवत्यतोऽन्यत्वे ध्रुवोऽन्वयः ॥ ३३ ॥

यच्चेदमुच्यते निरन्वयनाशवादिभिः-किम्? इत्याह-ब्रूमोऽतादवस्थ्यं भावानामनित्यताम्, परिणामित्व इष्टसिद्धिस्तदस्माकमिति। अत्रोत्तरम् एतत्=अतादवस्थ्यम्, तदेव न भवतीति-'न तत्र किञ्चिद् भवति' [४-३२] इत्याद्युक्तेः, तथा चाऽभवनलक्षणमनित्यत्वं न वस्तुलक्षणम्। अतः=अस्मादभवनात् अन्यत्वेऽतादवस्थ्यस्य, ध्रुवोऽन्वयः, तस्यैव तथाभवनादिति ॥ ३३ ॥

[बौद्धसम्मत अनित्यत्व वस्तुधर्म नहीं है]

बौद्धों का वक्तव्य यह है कि-"भावों का अतादवस्थ्य पूर्णरूप से भाव की अनित्यता अर्थात् उसका निरन्वयनाशरूप है, परिणाम का यही स्वरूप है।" अतः यदि अन्यवादियों द्वारा भाव को परिणामी कहा जाता है तो यह बौद्धों को इष्ट है। बौद्धों के इस कथन का उत्तर देते हुये ग्रन्थकार का यह कहना है कि भाव के अतादवस्थ्य का जो स्वरूप बौद्धों को अभिमत है वह 'तदेव न भवति' इस रूप में है, अर्थात् 'कोई भी भाव अतदवस्थ ही होता है' इसका अर्थ होता है 'उसका सर्वथा अभवन'। क्योंकि-'न तत्र किञ्चिद् भवति' इसप्रकार भाव के किञ्चिद्भवन का निषेध करके वस्तु के पूर्णरूप से अभवन का ही बौद्धमत में अनित्यता अथवा अतादवस्थ्य माना जाता है। किन्तु यह वस्तु का लक्षण (धर्म) नहीं हो सकता। अभवन तो अलीकनिष्ठ ही हो सकता है इसलिये अतादवस्थ्य को अभवन से भिन्न ही मानना होगा। अर्थात् 'वस्तु का पूर्वस्वरूप की अपेक्षा अन्य विधिस्वरूप का हो

जाना' ही वस्तु का अतादवस्थ्य है। अलीक से व्यावृत्ति के लिये यही कहना होगा और ऐसा मानने पर वस्तु का उत्तरोत्तर अवस्था में अन्वय दुर्निवार होगा ॥ ३३ ॥

३४ वीं कारिका में अतादवस्थ्य को अभवन से अभिन्न मानने पर दोष बताया गया है–

अतोऽभिन्नत्वे चायं दोष इत्याह—

मूलम्—तदेव न भवत्येतत्तच्चेन्न भवतीति च।
विरुद्धं हन्त किञ्चान्यदादिमत्तत्प्रसज्यते ॥ ३४ ॥

'तदेव न भवति' एतद् वाक्यम् 'तच्चेद् न भवती'ति च विरुद्धम्, भवनस्वभावस्याऽभवनत्वायोगात्, 'न भवती'त्यतश्च त्वन्नीत्याऽभवनस्वभावत्वस्यैव प्रतीतेः 'घटोऽघटः' इति तुल्यत्वात्। 'हन्त' इत्युपदर्शने। 'किञ्चान्यत्' इति दोषान्तरद्योतने। तच्चेदम्-अभवनमादिमत् प्रसज्यते, तदा भवनात्, इत्याद्युक्तपूर्वम् ॥ ३४ ॥

['तदेव' और 'न भवति' का परस्पर विरोध]

बौद्धों का यह कहना कि–"अग्रिमक्षण में 'तदेव न भवति' अर्थात् पूर्वक्षण में जो वस्तु है वही उत्तरक्षण में नहीं होती"–विरोधग्रस्त है। क्योंकि–तत्शब्द व्यपदेश्य वही वस्तु हो सकती है जो भवनस्वभाव हो और 'न भवति' इन शब्द से जो वर्णित होता है वह अभवनस्वभाव ही होता है इस प्रकार भवन और अभवनस्वभाव परस्पर विरुद्ध होने से भवनस्वभाव के बोधक तत्पद का और अभवनस्वभाव के बोधक 'न भवति' शब्द का सहप्रयोग विरुद्ध है। क्योंकि बौद्ध मतानुसार 'न भवति' ये शब्द अभवनस्वभाव का ही बोधक है, अतः 'तदेव न भवति' ये शब्द 'घटोऽघटः=घट अघट है' इन शब्द के समान निराकांक्ष हो जाता है। व्याख्याकार का कहना है कि ग्रन्थकार ने कारिका के उत्तरार्ध में बौद्ध के उक्त कथन में अज्ञानातिशय को प्रकट करने के लिये 'हन्त' इस खेद-सूचक शब्द का प्रयोग किया है। व्याख्याकार ने यह भी कहा है कि–कारिका के उत्तरार्ध में किञ्चान्यत् शब्द से ग्रन्थकार ने अन्य दोष को प्रदर्शित किया है जो यह है कि पूर्वक्षणात्मकभाव का अग्रिम क्षण में अभवन मानने पर उस अभवन की सादिता यानी सहेतुकता की प्रसक्ति होगी क्योंकि 'वह पूर्वक्षण में नहीं है और उत्तरक्षण में होता है। इसप्रकार बौद्धों की यह मान्यता 'अभाव तुच्छ और निर्हेतुक होता है' व्याहत होगी ॥ ३४ ॥

३५ वीं कारिका में जैन दृष्टि से उक्त परिणामस्वरूपता का ही समर्थन किया गया है–

प्रकृतमेव समर्थयन्नाह–

मूलम्—क्षीरनाशश्च दध्येव यद् दृष्टं गोरसान्वितम्।
न तु तैलाद्यतः सिद्धः परिणामोऽन्वयावहः ॥ ३५ ॥

दध्येव चोत्पद्यमानं क्षीरनाशः=क्षीरनाशाभिन्नम्, गोरसान्वितम्=गोरसस्थित्यनुविद्धम्, न तु तैलादि तदनन्वितं तदत्यन्तभिन्नस्वभावम्, यद्=यस्मात् दृष्टम्, अतः=अस्माद्धेतोः, परिणामोऽन्वयावहः=अन्वयाक्षेपकः सिद्धः, उत्पादस्य व्यय-स्थित्यविनाभूत-

त्वात्,—"दध्न 'उत्पाद' आद्यक्षणसंबन्धरूपो भाव इति कथं स एव दुग्धनाशः ?" इति केषांचिदविचारिताभिधानम्, स्वयमेव प्रागभावनाशस्य प्रतियोगिरूपस्याभ्युपगमात्। यदपि केचिदभिमन्यन्ते 'दुग्ध-दध्नोर्गोरसान्वयस्तैलादिव्यावृत्तो न द्रव्याऽविच्छेदरूपः किन्तु जात्यविच्छेदरूपः' इति तदपि प्रत्यभिज्ञाप्रतिहतम्, गोरसानन्वये निराश्रयस्य दध्न एवानुत्पत्तेश्च। दुग्धोपादानान्येव दध्न आश्रयः' इत्युक्त्वा च नामान्तरेण गोरसान्वय एवाभिहितो भवति, त्यक्तोपात्तोभयरूपस्योभयोपादानस्य कथञ्चिदुभयापृथग्भूतत्वादिति दिग्॥ ३५॥

[क्षीर-गोरस दृष्टान्त से सान्वय परिणाम की सिद्धि]

उत्पद्यमान दही ही दुग्धनाश है और वह गोरस की स्थिति से युक्त है। अर्थात् जो गोरस क्षीरावस्था में था वह दधि अवस्था में भी अनुवर्त्तमान रहता है। किन्तु तैलादि गोरस से अनुविद्ध नहीं होता क्योंकि तैलादि का स्वरूप गोरस से अत्यन्त भिन्न है। इस प्रकार दुग्धात्मक गोरस के-'दध्यात्मक परिणाम से यह स्पष्ट है-परिणाम अन्वय का साधक होता है। क्योंकि—उत्पाद यह विनाश और स्थिति से व्याप्य होता है अर्थात् जब कोई वस्तु उत्पन्न होती है तब वह किसी रूप से विनष्ट होती है और किसी रूप से अवस्थित भी रहती है। इस संदर्भ में कुछ लोगों का यह कहना है कि 'दधि का उत्पाद आद्यक्षण सम्बन्धरूप है अत एव भावात्मक है और दुग्धनाश कालसम्बन्ध की निवृत्ति रूप होने से अभावात्मक है अतः उत्पद्यमान दधि को दुग्धनाशात्मक कहना असंगत है' व्याख्याकार के कथनानुसार यह कथन अत्यन्त अविचारपूर्ण है क्योंकि—जिन का (नैयायिक का) यह कथन है वे स्वयं प्रागभावनाश को प्रतियोगिस्वरूप मानते ही हैं, जैसे घटपटादि के प्रागभाव का नाश घटपटादिस्वरूप होता है। कुछ लोगों का इस संदर्भ में यह कहना है कि—'दुग्ध और दधि में गोरस का जो अन्वय है और जो तैलादि में नहीं होता वह अन्वय गोरस नाम के किसी द्रव्य का अविच्छेदरूप नहीं है किन्तु गोरसत्व नामक जाति के अविच्छेदरूप है। किन्तु यह कथन भी 'दुग्ध ही अब दधि हो गया' इस प्रकार की लोकसिद्ध प्रत्यभिज्ञा से निरस्त हो जाता है। दूसरी बात यह है कि यदि दुग्धकाल में विद्यमान गोरस द्रव्य का दधिकाल में अन्वय नहीं माना जायगा तो आश्रय का अभाव होने से दधि की उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी। यदि यह कहा जाय कि दुग्ध के उपादान कारण ही दधि के आश्रय हैं तो इस कथन से शब्दान्तर से दुग्ध के आश्रयभूत गोरस द्रव्य का ही दधि काल में अन्वय सूचित होता है क्योंकि उपादान वही होता है जो एकरूप का त्याग और अन्य रूप का उपादान करता है। अत एव उपादान द्रव्य अपने पूर्वोत्तररूपों से कथञ्चित् अभिन्न होता है॥ ३५॥

३६ वीं कारिका में पूर्व कारिका में सूचित विषय का ही समर्थन किया गया है-

एतदेव समर्थयन्नाह—

मूलम्—नासत्सज्जायते जातु सच्चाऽसत्सर्वथैव हि।
शक्त्यभावादतिव्याप्तेः सत्त्वभावत्वहानितः॥ ३६॥

नासत्=एकान्ततुच्छम्, **सज्जायते**=अतुच्छं जायते **जातु**=कदाचित् शक्त्यभावादतिव्याप्तेः, तुच्छस्य प्रतिनियताऽतुच्छजननशक्त्यभावेन तदभावाऽविशेषात् तद्वदन्यभवना-

पत्तेः । तथा, सर्वथैव हि सचासद् न जायते, सत्स्वभावत्वहानितः–असद्भवनस्वभावस्य सद्भवनस्वभावस्य विरोधात् सद्भावस्याऽप्यप्राप्तेः । निरूपिततत्त्वमेतत् ॥ ३६ ॥

[असत् सत् नहीं होता, सत् असत् नहीं होता]

असत् यानी एकान्तरूप से तुच्छ वस्तु सत् यानी अतुच्छ कभी भी नहीं होती एवं सद् वस्तु असद् भी नहीं हो सकती क्योंकि–'तुच्छ का अतुच्छ बनाने वाली तथा अतुच्छ को तुच्छ बनाने वाली किसी भी शक्ति का अस्तित्व जगत में नहीं है । यदि बिना शक्ति के भी तुच्छ अतुच्छ हो जायगा तो शशविषाणादि को भी सत्ता होने का अतिप्रसङ्ग होगा । क्योंकि-तुच्छ में व्यवस्थित रूप से अतुच्छ को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होने से, सभी तुच्छों के सम्बन्ध में शक्ति का अभाव समान होने से, एक तुच्छ के भवन के समान अन्य तुच्छों के भी भवन की आपत्ति दुर्निवार होगी । इस संदर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि जो सर्वथा सत् है वह असत् भी नहीं होता क्योंकि असत् होने पर सत्स्वभाव की हानि हो जायगी । कारण, असद्भवन स्वभाव और सद्भवनस्वभाव में विरोध होने से असद्भवन होने पर सद्भवन की स्थिति सुरक्षित नहीं रह सकती । 'असत् सत् नहीं होता और सत् असत् नहीं होता' इस विषय को चर्चा पूर्व में विस्तार से की जा चुकी है ।। ३६ ।।

३७ वीं कारिका में इस सम्बन्ध में अब तक किये गये विचारों का उपसंहार किया गया है ।

प्रस्तुतमुपसंहरन्नाह—

मूलम्— नित्येतरदतो न्यायात्तत्थाभावतो हि यत् ।
प्रतीतिसचिवात्सम्यक्परिणामेन गम्यते ॥ ३७ ॥

अतः=असदादेः सदाद्यनापत्तेः, तत्तथाभावतः=तस्यैव तथाभवनेन, हि=निश्चितम्, तत्=वस्तु, परिणामेन प्रतीतिसचिवात्=अनुभवसध्रीचीनात्, सम्यग्=न्यायात् नित्येतरद् गम्यते, नित्यं च तदितरच्चेति कर्मधारयः, इतरत्=अनित्यम् ।

असत् सत् नहीं हो सकता और सत् असत् नहीं हो सकता किन्तु सद्भूतवस्तु अन्यरूप में प्रादुर्भूत होती है अतः अनुभव सहकृत युक्ति से यह सिद्ध है कि वस्तु परिणाम से ही रूपांतर को प्राप्त होती है अतः वस्तु केवल एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य न होकर कथञ्चित् नित्य-अनित्य उभय-स्वरूप होती है ।

अत्र वैशेषिकादयः—प्रत्यभिज्ञया तत्तेदंताविशिष्टयोरभेदलक्षणे स्थैर्ये सिद्धेऽपि कथमेकस्य नित्याऽनित्यरूपस्य वस्तुनः सिद्धिः, घटप्रतियोगिकत्वेन ध्वंसानुभवकाले समानसंविसंवेद्यतया घटे ध्वंसप्रतियोगित्वलक्षणाऽनित्यत्वानुभवेऽपि नित्यत्वाननुभवात्, ध्वंसप्रतियोगित्वतदप्रतियोगित्वलक्षणयोर्नित्यत्वाऽनित्यत्वयोर्विरोधाच्च ? ।

अथ प्रतियोगिसत्त्वमात्रेण नाभावविरोधः, किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिसत्त्वेन, अतः एकैकघटवत्यपि द्वित्वावच्छिन्नतदभावः (विद्यते) । न च—'घट-पटौ न स्तः'

इति धीरेकत्वत्यन्याभावावगाहिनी, तदितरत्रैव चोभयत्वगाहिनी। न चैकैकाभावविषयो 'द्वौ न स्तः' इति धियोऽवैलक्षण्यम्, शब्दादिना 'द्वौ न स्तः' इति निश्चयेऽप्येकैकाभावसंशयापत्तिः विषयानुगमं विनाऽनुगताकारप्रत्ययाऽयोगश्च । द्वित्वाधिकरणप्रतियोगित्वमात्रावगाहित्वे च तादृशद्वित्वाधिकरणव्यक्तिविशेषविरहिणी तथाविधोभयशालिनि 'तादृशौ द्वौ न स्तः' इति प्रत्ययापत्तिः, सामानाधिकरण्याद्यभावेऽपि प्रतीतेरनुगताकारत्वाच्च न तस्या द्वित्वविशेष्यतावच्छेद-कावच्छिन्नत्वसंसर्गेण द्वित्वसमानाधिकरणविशिष्टाभावावगाहित्वम्, घटत्व-पटत्वाद्यन्यतरावच्छि-न्नप्रतियोगिताकाभावविषयत्वं वा; द्वित्वाधिकरणयोरेव प्रतियोगित्वोल्लेखात् स्वपर्याप्त्यधि-करणसंबन्धेन द्वित्वाभावविषयत्वमपि न युक्तमिति वाच्यम्, द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन घटादिमति पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावादिविषयतया, तत्तद्घटादिमति च तत्तद्घटान्य-घटत्वावच्छिन्नाभावादिविषयतयोपपत्तेरिति वाच्यम्, अनन्ताभावे द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-कत्वकल्पने गौरवात् एकाभावसिद्धेः। एवं च घटस्य घटत्वावच्छिन्नध्वंसप्रतियोगित्वेऽपि द्रव्य-त्वावच्छिन्नध्वंसाऽप्रतियोगित्वमुपपत्तिमत्। तदुक्तम्-"तद्भावाऽव्ययं नित्यम्" [त०सू०५-३०] इति; इति चेत् ?

न, तद्भावेन व्ययस्याऽप्रसिद्धौ तदभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्, असतोऽनिषेधात्, स्वीकृतं चैतदन्यैरपि-"असओ नत्थि निसेहो" [वि० आ० भा० १५७४] इत्यादिना।

[वस्तु नित्यानित्य उभयरूप कैसे ? वैशेषिकों का पूर्वपक्ष]

इस प्रसंग में वैशेषिक आदि का यह कहना है कि --

'सोऽयम्' इस प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतीति से तत्ताविशिष्ट और इदन्तादिविशिष्ट में ऐक्य से स्थैर्य सिद्ध होने पर भी नित्यानित्यरूप एक वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि घटप्रतियोगित्वरूप से ध्वंस के अनुभव के समय समानसामग्री से वेद्य होने के कारण घट में ध्वंस-प्रतियोगिकत्व रूप अनि-त्यत्व का अनुभव होने पर भी नित्यत्व का अनुभव नहीं होता, अतः अनित्य वस्तु की नित्यता में कोई प्रमाण नहीं है, बल्कि, ध्वंस प्रतियोगित्व रूप अनित्यत्व और ध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व में विरोध है। अतः एक के साथ दूसरे का रहना सम्भव नहीं हो सकता।

[अथ प्रतियोगिसत्त्वमात्रेण........] इस पर यदि जैनों की ओर से कहा जाय कि प्रतियोगी की सत्ता मात्र से अभाव का विरोध नहीं होता किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्ट प्रतियोगी की सत्ता के साथ अभाव का विरोध होता है, इसीलिये तो एक घट के आश्रय देश में द्वित्वावच्छिन्नप्रति-योगिताक घटाभाव रहता है, क्योंकि-ऐसे देश में 'घटौ न स्तः' 'द्वौ न स्तः' यह प्रतीति सर्वसम्मत है। इसलिये द्रव्यत्वावच्छिन्नध्वंसप्रतियोगित्वाभावरूप नित्यत्व का प्रतियोगी ध्वंसप्रतियोगित्व घटत्वावच्छिन्न ध्वंसप्रतियोगित्वरूप से घट में यद्यपि रहता है, फिर भी द्रव्यत्वावच्छिन्न ध्वंसप्रतियो-गितात्वरूप से ध्वंसप्रतियोगित्व घट में न रहने से उस में उक्त अभाव के रहने में कोई विरोध

नहीं है। अतः ध्वंस का प्रतियोगी यह ध्वंस का अप्रतियोगी भी होना सम्भवित होने से नित्यानित्यरूप एक वस्तु की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है।

[न च घटपटौ न स्त........] जैनों के इस प्रतिपादन के बीच में वैशेषिक की ओर से यदि यह कहा जाय कि–एक घट के आश्रय देश में द्वित्वरूप से घटाभाव का दृष्टान्त लेकर उपरोक्त रीति से किसी एक ध्वंसप्रतियोगित्व के आश्रय में रूपान्तर-ध्वंसप्रतियोगितात्व रूप से ध्वंसप्रतियोगित्व का अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि–उक्त दृष्टान्त ही असिद्ध है। जैसे, घट या पट के आश्रय में होने वाली 'घटपटौ न स्तः' यह प्रतीति घट के आश्रय में पटाभावविषयक और पट के आश्रय में घटाभावविषयक एवं घटपट दोनों के अनाश्रय देश में घटाभाव और पटाभाव उभयविषयक होती है। अतः द्वित्वरूप से घटपटोभयाभाव असिद्ध है। इसी प्रकार तद्घट के आश्रय देश में 'घटौ न स्तः' यह प्रतीति तद्घटान्यघटाभाव को विषय करती है और तद्घटान्यघटाश्रयदेश में तद्घटाभाव को विषय करती है अतः द्वित्वरूप से घटाभाव भी असिद्ध है।

जैनः–[न च एकैकाभावधियो०....] वैशेषिकों के इस कथन के बीच में अगर जैन यह कहें कि ऐसा मानने पर १. एक एक अभाव की बुद्धि में 'द्वौ न स्तः' इस उभयाभाव की बुद्धि का वैलक्षण्य नहीं होगा, क्योंकि–'जैसे 'घटो नास्ति' 'पटो नास्ति' ये बुद्धि घटाभावत्व-पटाभावत्व रूप से घटाभाव और पटाभाव को विषय करती है उसीप्रकार 'द्वौ न स्तः' यह बुद्धि भी उन्हीं रूपों से उन उन अभाव को विषय करती है। २. उपरांत, 'द्वौ न स्तः' इन शब्द से एकैक अभाव का निश्चय होने पर भी एक एक अभाव के संशय की आपत्ति होगी क्योंकि–'उक्त शब्दजन्य निश्चय एक एक अभाव को घटाद्यभावत्वरूप से विषय न करके द्वित्ववत्प्रतियोगिकाभावत्वरूप से विषय करता है। ३. एवं घटाभाव पटाभाव का किसी एक रूप से अनुगमन होने से घटाभाव-पटाभाव की 'द्वौ न स्तः' इस रूप में अनुगताकार प्रतीति भी नहीं होगी।

[द्वित्वाधिकरण प्रतियोगित्व०....का अवतरण] वैशेषिक की ओर से यदि यह कहा जाय कि १ "उक्त प्रतीति प्रत्यक्ष या शब्दबोध हो, सभी द्वित्वाधिकरणप्रतियोगिकत्वमात्र रूप से एक अभावविषयक होती है अतः एक एक अभावज्ञान और 'द्वौ न स्तः' इन ज्ञान का वैलक्षण्य नहीं हो सकता, क्योंकि–'दोनों ज्ञान भिन्न-भिन्न रूप से एक एक अभाव को विषय करते हैं। २. तथा, 'द्वौ न स्तः' इन शब्द से एक एक अभाव का निश्चय होने पर भी एक-एक अभाव के संशय की आपत्ति भी नहीं दी जा सकती। क्योंकि 'द्वौ न स्तः' इन सभी प्रतीतियों के द्वित्वाधिकरण प्रतियोगित्वेन एक एक अभावविषयक होने से उक्त सभी प्रतीतिकाल में एक एक अभाव का संशय इष्ट है। ३. द्वित्वाधिकरणप्रतियोगिकत्वरूप से प्रत्येक अभाव का अनुगम हो जाने से प्रत्येक अभाव को विषय करने वाले 'द्वौ न स्तः' इस प्रतीति के अनुगताकारत्व की अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती है।

[द्वित्वाधिकरणप्रतियोगित्व....] जैनः-वैशेषिकों का यह तीनों कथन ठीक नहीं है क्योंकि–'द्वौ न स्तः' यह प्रतीति यदि द्वित्वाधिकरण प्रतियोगित्व रूप से अभावविषयक होगी तो यत्किञ्चित् एक-एक घटपट व्यक्ति से शून्य और अन्य यत्किञ्चित् घट-पट यह व्यक्ति द्वय के आश्रयीभूत देश में भी 'घटपटौ न स्तः' इस प्रतीति की आपत्ति होगी; क्योंकि–'उस देश में भी द्वित्व का अधिकरण जो तद्देश में अविद्यमान घट-पटव्यक्तिद्वय है तत्प्रतियोगिक अभाव विद्यमान है।

[सामानाधिकरण्याद्यभावेपि....का अवतरण] वैशेषिकः –'घटपटौ न स्तः' यह प्रतीति द्वित्व का विशेष्यतावच्छेदक जो घटत्वपटत्वादि धर्म, तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से द्वित्वसमानाधिकरण घटत्वादि से विशिष्ट अभाव को विषय करती है अथवा घटत्व पटत्व एतदन्यतर धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को विषय करती है तो-पूर्वोक्त दोष नहीं होगा क्योंकि-'यत्किञ्चित् घट और यत्किञ्चित् पट के आश्रय देश में जो अन्य यत्किञ्चित् घट और पट व्यक्ति का अभाव है वह द्वित्व के विशेष्यतावच्छेदकीभूत घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से द्वित्वसमानाधिकरणीभूत घटत्वादि से विशिष्ट नहीं है और न वह अभाव घटत्व-पटत्व अन्यतरावच्छिन्न प्रतियोगिताक है। अत एव उस अभाव को विषय कर 'घटपटौ न स्तः' इस प्रतीति की आपत्ति नहीं हो सकती'।

[सामानाधिकरण्या०....] जैनः-यह भी ठीक नहीं है क्योंकि-'द्वित्वसामानाधिकरण्य का और घटत्व-पटत्व अन्यतरत्व का ज्ञान न रहने पर भी 'घटपटौ न स्तः' इस अनुगताकारप्रतीति का उदय होता है। किन्तु उसे द्वित्वसमानाधिकरणविशिष्ट अभावत्वरूप से अथवा घटत्व-पटत्वान्यतरावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वरूप से अभावविषयक मानने पर सामानाधिकरण्य और अन्यतरत्व की अज्ञान दशा में उक्त प्रतीति न हो सकेगी।

[द्वित्वाधिकरणयोरेव०....का अवतरण] वैशेषिकः—उक्त प्रतीति को स्वपर्याप्ति अधिकरण सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकद्वित्वाभावविषयक मानकर उक्त समस्त दोषों का परिहार किया जा सकता है।

[द्वित्वाधिकरणयोरेव०....] जैनः–यह भी ठीक नहीं है क्योंकि–'उक्त प्रतीति द्वित्वाधिकरण में हो प्रतियोगित्व को विषय करती है अत एव द्वित्वाधिकरण में प्रतियोगित्व का अपलाप कर उसे द्वित्व में प्रतियोगित्व का ग्राहक मानना अयुक्त है। अतः एक एक घटपटादि वाले देश में घटपटोभयत्वेन घटपटादि के अभाव को मानना अनिवार्य होने से प्रतियोगी के साथ अभाव का विरोध सिद्ध न होकर प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न के साथ ही अभाव का विरोध सिद्ध होता है।

[द्वित्वावच्छिन्नप्रति०....] वैशेषिक प्रतिपादन के बीच में जैनों की ओर से न चैकैका० इत्यादि से जो उपरोक्त निवेदन किया गया उसके उत्तर में वैशेषिक कह रहा है कि इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि 'घटपटौ न स्तः' इस प्रतीति द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप से घटाश्रय देश में पटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव और पटाश्रय देश में घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वकत्वेन तद्घटान्यघटाभाव को विषय करती है अतः उक्त प्रतीति से द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अतिरिक्त घटपटोभयाभाव की सिद्धि न होने से प्रतियोगि के साथ अभाव विरोध निर्बाध है। वैशेषिकों के न च 'घट-पटौ० इत्यादि से किये गये प्रतिपादन के विरुद्ध जैन की ओर से कहा जाय कि यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'अनन्त घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव में द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व की कल्पना में गौरव है। अत. द्वित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक एक अभाव की सिद्धि लाघव से होती है। और जब द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव सिद्ध है तो यह भी सिद्ध मानना होगा कि अभाव का विरोध प्रतियोगी की सत्ता के साथ नहीं होता किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न की सत्ता के साथ होता है। अतः घट में घटत्वावच्छिन्नध्वंसप्रतियोगित्व के होने पर भी द्रव्यत्वावच्छिन्नध्वंसप्रतियोगित्व का अभाव युक्तिसंगत है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है-'तद्भावाव्ययं नित्यम्' अर्थात् तद्भावरूप में व्यय का अभाव ही तद्भावरूप से वस्तु की नित्यता है।'

[इति चेत् ? न, तद्भावेन....] वैशेषिक:-अथ प्रतियोगि०....इत्यादि से जैनों का यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि-'तद्भाव से अर्थात् द्रव्यत्वरूप से नाश अप्रसिद्ध होने से द्रव्यत्वरूप से नाश के अभाव को नित्यता कहना शक्य नहीं है क्योंकि असत् का निषेध नहीं होता है। विशेषावश्यक-भाष्य के प्रथमगणधरवाद की 'असओ णत्थि निसेहो' इस १५७४ वीं गाथा के अनुसार 'असत् का निषेध नहीं होता है' यह बात जैन को भी मान्य है।

किञ्च, 'घटो नास्ति' इति प्रतीत्याऽत्यन्ताभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेऽपि ध्वंसस्य न तथात्वम्, 'कपाले घटध्वंसः' इत्यत्र प्रतियोगितामात्रेणैव घटस्य ध्वंसेऽन्वयात्, 'अन्तरा श्यामे घटे रक्तं नास्ति' इति प्रतीतौ च सामयिकरक्तात्यन्ताभावस्यैव विषयत्वात्, अन्यथा रक्ततादशायामपि तथाप्रत्ययापत्तेः। न च ध्वंसप्रागभावयोरव्याप्यवृत्तिरक्तत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वकल्पनाद् रक्ततादशायां ध्वंसादेस्तदसत्त्वाद् न तथाप्रत्यय इति वाच्यम्, अनन्तध्वंसप्रागभावेषु तादृशप्रतियोगिताकत्व-तदव्याप्यवृत्तित्वयोः 'रक्तं नास्ति' इत्यादिप्रतीता-वनन्तध्वंसादिविषयकत्वस्य च कल्पनामपेक्ष्यान्यत्र क्लृप्ततादृशप्रतियोगिकात्यन्ताभावस्यैवा-न्तरा श्यामादौ सामयिकसंबन्धस्य युक्तत्वात्, तत्कारणबाधेन भाविरक्तादिध्वंसाद्यसंभवाच्च।

[किं च. घटो नास्ति....] इसके अतिरिक्त यह ज्ञातव्य है कि घटो नास्ति इस प्रतीति से अत्यन्ताभाव में घटत्वरूप सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व की सिद्धि होने पर भी ध्वंस में सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व असिद्ध है क्योंकि-'कपाले घटध्वंसः' इस प्रतीति में ध्वंस में प्रतियोगितामात्र सम्बन्ध से घट का भान मानने से उक्त प्रतीति की उपपत्ति हो जाने से ध्वंस में घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्ध से घट का भान अयुक्त है। इसी प्रकार 'अन्तरा श्याम घट' यानी जिस घट में यत्किञ्चित् पूर्वरक्तरूप का नाश होकर श्यामरूप की उत्पत्ति हुई है और उत्तरकाल में श्यामरूप का नाश होकर नया रक्तरूप उत्पन्न होनेवाला है ऐसे घट में श्यामत्व दशा में जो 'रक्तं नास्ति' यह प्रतीति होती है उसमें ध्वंस में रक्तत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से रक्त का विशेषण-विधया भान नहीं माना जा सकता, क्योंकि-उस समय भावि रक्त का ध्वंस नहीं है और पूर्व रक्त के ध्वंस की प्रतियोगिता रक्तत्वावच्छिन्न नहीं हो सकती क्योंकि-रक्तत्व उसका अतिरिक्तवृत्ति धर्म है और यदि उसमें प्रतियोगितामात्र सम्बन्ध से ध्वंस में रक्त का विशेषणविधया भान माना जायगा तो 'मध्यरक्त घट' में अर्थात् जिस घट में यत्किञ्चित् रक्तरूप का नाश हो चुका है और भविष्य में अन्य रक्तरूप पैदा होने वाला है और वर्तमान में यत्किंचित् रक्त है उसमें 'रक्तं नास्ति' इस प्रतीति की आपत्ति होगी क्योंकि उस घट में भी प्रतियोगिता सम्बन्ध से रक्त विशिष्ट पूर्व रक्त का ध्वंस विद्यमान है, अतः अन्तरा श्यामघट में 'जो रक्तं नास्ति' यह प्रतीति होती है वह रक्तध्वंस को विषय न कर सामयिक रक्तात्यन्ताभाव को विषय करती है। अतः उक्त प्रतीति भी ध्वंस के सामान्य-धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व में प्रमाण नहीं है।

[न च ध्वंसप्राग०....] यदि यह कहा जाय कि "ध्वंस और प्रागभाव में रक्तत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व को अव्याप्यवृत्ति मानने से अन्तराश्याम घट में ध्वंसप्रागभाव की रक्तत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वरूप से प्रतीति हो सकती है किन्तु मध्यरक्त घट में रक्तकाल में ध्वंसादि में रक्तत्वा-

वच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व न मानने से 'रक्तं नास्ति' इस प्रतीति की आपत्ति नहीं हो सकती। अतः अन्तराश्याम घट में 'रक्तं नास्ति' इस प्रतीति के विषयरूप में एक अतिरिक्त सामयिक रक्तात्यन्ताभाव की कल्पना उचित नहीं है। अतः इस रीति से ध्वंस में सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व की सिद्धि युक्तिसंगत है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अनंतध्वंस और प्रागभावों में रक्तत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व और उसमें अव्याप्यवृत्तित्व तथा 'रक्तं नास्ति' इत्यादि प्रतीति में अनंत ध्वंसप्रागभावादि विषयकत्व की कल्पना में महागौरव है। अतः त्रिकाल में रक्तशून्य जल आदि द्रव्य में जो नित्य रक्तात्यन्ताभाव क्लृप्त है उसका अन्तराश्यामघट में सामयिक सम्बन्ध और मध्यरक्तघट में उसके सामयिकसम्बन्ध का अभाव स्वीकार करने में ही लाघव है। रक्तादि और इसके ध्वंस का कारण न होने से उसमें भाविरक्तादि का ध्वंस सम्भव न होने से अन्तराश्यामघटनिष्ठ रक्तध्वंसादि में अव्याप्यवृत्ति रक्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व की कल्पना भी सम्भव नहीं हो सकती है।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि यदि अन्तिम रक्तध्वंस प्रामाणिक हो तो उसमें रक्तत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सिद्ध होने से अन्तराश्याम घटादि में विद्यमान रक्तध्वंस में भी रक्तत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व की कल्पना हो सकती है किन्तु कारण के अभाव से अन्तिमरक्त और उसका ध्वंस असम्भव है क्योंकि-'यह तभी सम्भव हो सकता है जब सर्वजीवमुक्ति से महाप्रलय का होना प्रामाणिक हो। किन्तु सर्वजीवमुक्ति सम्भव न होने से महाप्रलय का सम्भव न होने के कारण अन्तिमरक्त और उसका ध्वंस असिद्ध है अतः किसी भी ध्वंस में रक्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व की सिद्धि न होने पर अन्तरा श्यामघटादिनिष्ठ रक्तध्वंस में उस की कल्पना भी नहीं हो सकती।

इत्थं च "तद्भावाव्ययं नित्यम्" [त० सू० ५/३०] इत्यस्य 'ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवद् नित्यम्' इत्यर्थः, ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकरूपवच्चाऽनित्यम्, इति नोभयासमावेशः, न चाप्रसिद्धिः" इत्यपि न सुष्ठु समाधानम्। अथ वृक्षे शाखा-मूलाद्यवच्छेदेन कपिसंयोगतदभाववदेकत्रापि द्रव्यतया पर्यायतया च नित्याऽनित्यत्वमुपपत्स्यते, गुञ्जाफलादौ श्यामता-रक्ततयोर्भिन्नदेशावच्छेदरूपायाः खण्डशो व्याप्तेर्वैलक्षण्येनैवान्योन्यव्याप्तिव्यवस्थितेर्विभिन्न-देशानवच्छिन्नाऽपृथग्भावस्यैव तदर्थत्वादिति चेत् ? न, आश्रयन्यूनवृत्तेरेवावच्छेदकत्वेन घटत्वेन घटेऽनित्यतायाः, द्रव्यत्वेन च नित्यतायाः असंभवात्। न हि भवति शाखायां शाखात्वावच्छेदेन कपिसंयोगाभावः, वृक्षत्वावच्छेदेन च कपिसंयोग इति। किञ्च, एवं नित्यत्वादिज्ञानस्याऽनित्यत्वादिधीप्रतिबन्धकतायामव्याप्यवृत्तित्वज्ञानाद्युत्तेजकत्वं वाच्यमिति गौरवमिति।

[नित्यत्व-अनित्यत्व के सह समावेश में विवाद]

यदि आप जैनों की ओर से 'तद्भावाऽव्ययं नित्यम्' इस सूत्र का 'ध्वंसप्रतियोगिता का अनवच्छेदक जो रूप, तद्रूपवान् नित्य है' इस प्रकार नित्य का लक्षण किया जाय, और 'ध्वंस-प्रतियोगिता का अवच्छेदक जो रूप तद्रूपवान् अनित्य है' इस प्रकार अनित्य का लक्षण किया जाय, तो नित्यत्व और अनित्यत्व का एकवस्तु में समावेश अनुचित नहीं होगा, जैसे द्रव्यत्वेन घट का

ध्वंस न होने से ध्वंसप्रतियोगिता का अनवच्छेदकीभूत द्रव्यत्व का आश्रय होने से घट नित्य होगा और घटत्वेन घट का ध्वंस होने से ध्वंसप्रतियोगिता का अवच्छेदकीभूत घटत्व का आश्रय होने से अनित्य भी होगा और इस प्रकार नित्यत्व की परिभाषा करने पर अप्रसिद्धि भी नहीं होती।"

वैशेषिकः-किन्तु यह समाधान भी समीचीन नहीं है। क्योंकि, ध्वंसप्रतियोगिता के धर्मावच्छिन्नत्व में प्रमाण न होने से एक ही वस्तु में नित्य और अनित्य के उक्त दोनों लक्षण असम्भवग्रस्त हैं।

यदि जैनों की ओर से इस प्रकार विचार प्रस्तुत किया जाय कि जैसे "वृक्ष में शाखा और मूल आदि अवच्छेदक भेद से कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव का एक वृक्ष में समावेश होता है उसी प्रकार द्रव्यत्व और पर्यायरूप अवच्छेदकभेद से एक व्यक्ति में नित्यत्व और अनित्यत्व का भी समावेश उपपन्न हो सकता है। यदि इस पर यह आपत्ति उठाई जाय कि-'कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव के दृष्टान्त से नित्यत्व-अनित्यत्व के एकत्र समावेश का समर्थन युक्तिसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव ये दोनों तो यावदाश्रयभावी नहीं है किन्तु जैन मत में वस्तु का नित्यत्वाऽनित्यत्व तो यावदाश्रयभावी माना गया है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने पूरे काल में द्रव्यतया नित्य और पर्यायतया अनित्य होती है।' तो इस आपत्ति के उत्तर में जैनों की ओर से यह कहा जा सकता है कि-"गुञ्जाफल की श्यामता और रक्तता की भांति यावदाश्रयभावी नित्यत्व-अनित्यत्व का एकत्र समावेश होने में कोई बाधा नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि गुञ्जाफल में श्यामता और रक्तता की विभिन्नदेशावच्छेदेन खण्डशः व्याप्तिः है और नित्यत्वाऽनित्यत्व की अन्योन्यव्याप्ति उससे विलक्षण है और यह वैलक्षण्य विभिन्नदेश से अनवच्छिन्न अपृथग्भाव-अविनाभावरूप है। क्योंकि गुञ्जा का वृन्तलग्नभाग और उससे अतिरिक्तभाग गुञ्जा के देश है उनमें वृन्तलग्नदेशावच्छेदेन श्यामता है और अन्यदेशावच्छेदेन रक्तता है किन्तु द्रव्यत्व-पर्याय ये घटादि के देश नहीं है किन्तु घटादिनिष्ठ धर्म हैं। अतः उनसे अवच्छिन्न अविनाभाव विभिन्नदेशानवच्छिन्न अविनाभावरूप है।"-

किन्तु हमारे (वैशेषिकों के) मत से जैनों का यह कथन भी समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि आश्रय का न्यूनवृत्ति धर्म अर्थात् 'अवच्छेद्य के आश्रय में विद्यमान अभाव का प्रतियोगी धर्म' ही अवच्छेदक होता है। जैसे कपिसंयोगाभावाश्रय वृक्ष में तादात्म्यसम्बन्ध से देशतः अविद्यमान शाखा-अभाव की प्रतियोगीभूत शाखा, यह वृक्षनिष्ठ कपिसंयोगाभाव की अवच्छेदक होती है। यहां घटत्व अनित्यतारूप अवच्छेद्य के आश्रय घट में न्यूनवृत्ति न होने से अनित्यता का, एवं द्रव्यत्व नित्यतारूप-अवच्छेद्य के आश्रय द्रव्य में न्यूनवृत्ति न होने से नित्यता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। यदि 'अवच्छेदक आश्रयन्यूनवृत्ति होता है' यह नियम न माना जाय तो शाखा में कपिसंयोग न होने की दशा में शाखा में शाखात्वावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव, एवं वृक्ष में कपिसंयोग होने की दशा में वृक्षत्वावच्छेदेन वृक्ष में कपिसंयोग की आपत्ति होगी।

इससे अतिरिक्त नित्यत्व-अनित्यत्व का एकत्र समावेश मानने में यह भी दोष है कि अनित्यत्वज्ञान में जो नित्यत्वज्ञान की प्रतिबन्धकता होती है उसमें अव्याप्यवृत्तित्व ज्ञान को उत्तेजक मान कर अनित्यत्व बुद्धि में अव्याप्यवृत्तित्वज्ञानाभावविशिष्ट नित्यत्वज्ञान को प्रतिबन्धक मानना होगा और ऐसा मानने से प्रतिबन्धकतावच्छेदक में गौरव होने से प्रतिबन्धकता में गौरव की आपत्ति अनि-

वार्य होगी। अतः न्यायसंगत तथ्य यह है कि एक वस्तु में नित्यत्वाऽनित्यत्व का समावेश न माना जाय।" (यह वैशेषिकों का कथन पूरा हुआ।)

अत्र ब्रूमः–प्रत्यभिज्ञैव वस्तुनो नित्याऽनित्यत्वे मानम्, पूर्वोत्तरतत्तेदंतास्वभावभेदानुविद्धस्यैवोर्ध्वतासामान्याख्याभेदस्य तया विषयीकरणात्। न च तत्तेदंतोभयनिरूपितैकस्वभावमेव तत्, भिन्नकाले तदभावादेव च तदननुभव इति सांप्रतम्, 'इदानीं तत्तास्वभावमिदम्' इति व्यवहारप्रामाण्यप्रसङ्गात्। किञ्च, विशिष्टात्यन्ताभाववद् विशिष्टध्वंसोऽपि परेणाऽकामेनापि स्वीकर्तव्यः 'शिखी विनष्टः' इति प्रतीतेरन्यथानुपपत्तेः। न च विशेष्यनाशसामग्र्यभावाद् विशिष्टनाशानुपपत्तिः, विशेषणाद्यत्यन्ताभावकृतविशिष्टात्यन्ताभाववद् विशेषणादिनाशकृतविशिष्टनाशसंभवात्। विशेषणनाशादेव परम्परासंबन्धेन तत्प्रतीत्युपपत्त्या विशिष्टनाशाऽसिद्धौ च स्वपर्याप्त्यधिकरणसंबन्धेन द्वित्वाभावादिनैव 'द्वौ न स्तः' इत्यादिप्रतीत्युपपत्तौ द्वित्वावच्छिन्नाभावादेरप्युच्छेदप्रसङ्गः। एवं च क्षणविशिष्टध्वंसादस्थैर्यमंकलितं स्थैर्यं सिद्धम्, विशिष्टातिरिक्तत्ववादिनः सार्वभौमस्य मते च सुतराम्। न च तन्मते विशिष्टसत्तानिश्चयेऽपि सत्तासंदेहापत्तिः, परस्यापि विशिष्टसत्तानिश्चयस्य सत्तानिश्चयत्वशून्यतया विशिष्टसत्तानिश्चयत्वेन पृथक्प्रतिबन्धकतावश्यकत्वात्। न चानन्तविशिष्टपदार्थकल्पनापत्तिः, परस्यापि विशिष्टनिरूपिताधिकरणतानन्त्यकल्पनस्यावश्यकत्वात्। विना च विशिष्टातिरेकं 'शिखरविशिष्टे पर्वते न वह्निधीः' इति धीर्न सुघटा।

[वैशेषिकों के विस्तृत पूर्वपक्ष का जैनों की ओर से प्रतिकार]

वैशेषिक के उक्त कथन के विरुद्ध जैन विद्वानों की ओर से यह कहा जा सकता है कि वस्तु के नित्यत्वाऽनित्यत्व में प्रत्यभिज्ञा ही प्रमाण है। क्योंकि पूर्ववर्ती तत्ता और उत्तरवर्ती इदन्ता, इन दो स्वभावों के भेद से मिलित अभेद ही उस प्रत्यभिज्ञा का विषय होता है। जिसे न्याय की परिभाषा में ऊर्ध्वतासामान्य कहा जाता है और उसके इस नामकरण का बीज यह है कि–'पूर्व से प्रारम्भ होकर उत्तर उत्तर में अनुवर्त्तित होना।' यह पूर्वोत्तरभावी वस्तुओं में अनुगत होने वाले मूलद्रव्यस्वरूप होता है। जैसे प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाला घटादि तथा मुद्गरादि के अभिघात से उत्पन्न होने वाले कपालादिरूप उसके विलक्षण परिणाम में अनुस्यूत होने वाला मिट्टी द्रव्य।

[तत्ता–इदंतानिरूपित एक स्वभाव वस्तु होने की शंका]

इस पर यदि यह शंका की जाय कि–"तत्ता और इदन्ता रूप विभिन्न स्वभाव की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है किन्तु वस्तु तत्ता और इदन्ता उभय से निरूपित एकस्वभावरूप ही होती है। इदन्ताकाल में तत्तानिरूपितत्वेन और तत्ताकाल में इदन्तानिरूपितत्वेन वस्तु स्वभाव का अनुभव इसलिये नहीं होता कि उस समय स्वभाव के निरूपक तत्ता और इदन्ता विद्यमान नहीं होती। और स्वभाव का अनुभव निरूपक के अनुभव के साथ ही होता है।"–तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि, तत्ता और इदन्ता इन दोनों से निरूपित एक ही स्वभाव वाली वस्तु मानने पर 'इदानीं तत्तास्वभावमिदम्'

इस व्यवहार में प्रामाण्य की आपत्ति होगी। क्योंकि जो स्वभाव इदन्तानिरूपित है वही तत्ता से निरूपित है और तत्तानिरूपितत्वेन स्वभावव्यवहार के लिये तत्ता का अस्तित्व अपेक्षित नहीं है किन्तु ज्ञानमात्र अपेक्षित है क्योंकि व्यवहार के प्रति व्यवहर्तव्य पदार्थ स्वरूपतः कारण नहीं होता किन्तु उसका ज्ञान कारण होता है।

[विशेषणनाश से विशिष्टनाश अवश्य मान्य]

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि-जैसे विशेषण के अभाव से विशिष्ट का अत्यन्ताभाव होता है उसी प्रकार विशेषण के नाश से विशिष्ट का नाश भी इच्छा विरुद्ध होते हुये भी वैशेषिक को मानना होगा। अन्यथा शिखा का नाश होने पर 'शिखी विनष्टः=शिखाधर नष्ट हो गया' यह प्रतीति नहीं हो सकेगी। इसके विरुद्ध यह नहीं कहा जा सकता कि-'विशेष्य के नाश की सामग्री न होने से विशेष्य का नाश नहीं हो सकता'-क्योंकि जैसे विशेषण के अत्यन्ताभाव से विशिष्ट का अत्यन्ताभाव होता है उसी प्रकार विशेषण के नाश से विशिष्ट का नाश भी हो सकता है अर्थात् जैसे विशेष्यनाश की सामग्री विशिष्ट की नाशक है इसी प्रकार विशेषणनाश की सामग्री भी विशिष्ट की नाशक है।

[परम्परासम्बन्ध से विशिष्टनाश अघटित]

यदि यह कहा जाय कि विशेषण के नाश से विशिष्ट का नाश मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि शिखा के नाश होने पर 'शिखी नष्टः' यह प्रतीति परम्परा से यानी स्वप्रतियोगीवत्त्व सम्बन्ध से शिखावान् में शिखानाश को विषय समझ कर उपपन्न हो सकती है।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर 'द्वौ न स्तः' इत्यादि प्रतीति को स्वपर्याप्त्यधिकरण सम्बन्ध से द्वित्वाभावविषयक मानना सम्भव होने के कारण द्वित्वावच्छिन्नाभाव-विषयक मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी; फलतः द्वित्वावच्छिन्नाभाव के उच्छेद की आपत्ति होगी। अतः अब तक के विचारों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि क्षणविशिष्टवस्तु का ध्वंस होने से अस्थिर एवं विभिन्नक्षणों से सम्बद्ध होने वाली वस्तु का अपने मूलस्वरूप से ध्वंस न होने से स्थिर, इस प्रकार स्थिरास्थिर उभयात्मक वस्तु की सिद्धि निर्बाध है।

[शुद्ध-विशिष्ट भेद पक्ष में शुद्धसत्ता संदेह का निराकरण]

यह विशेष ज्ञातव्य है कि विशिष्ट-शुद्ध में भेद मानने वाले वासुदेव सार्वभौम के मतानुसार वस्तु का विशिष्टरूप से नाश और शुद्ध रूप से अवस्थान निर्बाध एवं अनायास सिद्ध है। यदि सार्वभौम के मत के सम्बन्ध में यह शंका की जाय कि-'विशिष्ट और शुद्ध में भेद मानने पर घटादि द्रव्य में गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता का निश्चय होने पर भी शुद्ध सत्ता का निश्चय न होने से सत्ता के संदेह की आपत्ति होगी' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'विशिष्ट और शुद्ध में अभेदवादी के मत में भी विशिष्ट सत्तानिश्चय में सत्तानिश्चयत्व न होने के कारण विशिष्ट सत्तानिश्चय को सत्तासंदेह के प्रति विशिष्ट सत्तानिश्चयत्वेन पृथक् प्रतिबन्धक मानना आवश्यक होता है। अतः सार्वभौममत में भी विशिष्ट सत्तानिश्चय को सत्तासंदेह के प्रति पृथक् प्रतिबन्धक मान लेने से उक्त आपत्ति नहीं हो सकती। कहने का आशय यह है कि 'सत्ताभावः सत्तावद्वृत्तिः' इस प्रकार सत्ताभाव में सत्तासामानाधिकरण्यावगाही ज्ञान रहने पर 'सत्तावान्' यह निश्चय सत्ता संदेह का प्रतिबन्धक नहीं होता।

अतः उक्त निश्चयविरहविशिष्ट सत्तानिश्चयत्व रूप से सत्तानिश्चय को सत्तासंदेह के प्रति प्रतिबन्धक मानना आवश्यक रहेगा। किन्तु उक्त निश्चय के रहने पर भी 'सत्ताभावः गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट-सत्तावद्वृत्तिः' यह निश्चय न रहने पर 'गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावान्' इस निश्चय को सत्तासंदेह के प्रति प्रतिबन्धकता होती है अतः विशिष्टसत्तानिश्चय को सत्तासंदेह के प्रति पृथक् प्रतिबन्धकता माननी होगी। क्योंकि-'सत्तानिश्चय को जिस पूर्वोक्त रूप से प्रतिबन्धकता होती है वह रूप उक्त निश्चयसमानकालीन विशिष्टसत्तानिश्चय में नहीं है, अतः उक्तरूप से विशिष्ट सत्तानिश्चय को सत्ता-संदेह के प्रति प्रतिबन्धकता नहीं हो सकती।

[शुद्ध-विशिष्ट अभेद पक्ष में गौरव का निरसन]

यदि यह कहा जाय कि-"विशिष्ट और शुद्ध में भेद मानने पर अनन्त विशिष्टपदार्थ की कल्पना में गौरव होगा अतः विशिष्ट और शुद्ध का भेदपक्ष समीचीन नहीं है"-तो यह कथन भी असंगत है क्योंकि-'विशिष्ट शुद्ध के अभेदवाद में भी शुद्धनिरूपिताधिकरणता से भिन्न विशिष्टनिरू-पित अनन्त अधिकरणता की कल्पना आवश्यक होती है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि शुद्ध और विशिष्ट में भेद माने बिना 'शिखरविशिष्टे पर्वते न वह्निधीः=शिखरविशिष्ट पर्वत में वह्निज्ञान का अभाव है' यह बुद्धि उपपन्न न हो सकेगी क्योंकि-उक्त बुद्धि शिखरविशिष्टपर्वत में विशेष्यतासम्बन्ध से वह्निज्ञानाभाव को विषय करती है। किन्तु पर्वत में विशेष्यता सम्बन्ध से वह्नि ज्ञान रहने के कारण शिखरविशिष्टपर्वत में उसका अभाव नहीं हो सकता क्योंकि-विशेष्य-वृत्तिधर्म का विशिष्ट में अभाव नहीं माना जाता। कारण 'गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता न गुणवृत्ति' यह बुद्धि विशिष्टशुद्ध के अभेद वादीयों को प्रमान्य नहीं है। यहां सत्तारूप विशेष्य में गुणवृत्तित्व विद्यमान होने से विशिष्ट सत्ता में उसके अभाव को नहीं माना जाता।

वस्तुतः क्षणानामिदानीमिति धीव्यपदेशनियामकः संबन्धविशेषः क्षणेषु क्षणपरिणतेषु च द्वेधा परेण वक्तव्यः, स्वस्मिन्नपि तथाधीव्यपदेशप्रवृत्तेः। तथा चान्तरङ्गत्वात् तादात्म्य-नियत एव स उचितः, इति सिद्धं क्षणरूपतया जगतः पर्यायतया क्षणभंगुरत्वम्। तदुक्तं ग्रन्थकृतैव धर्मसंग्रहण्याम्-"[1]जं वत्तणादिरूवो कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ" इति। "[2]किमेयं भंते! कालो त्ति पवुच्चइ? गोयमा! जीवा चेव, अजीवा चेव" इति पारमर्षमप्येतद-र्थानुपाति। यस्मिन्नेव क्षणे घटस्तस्मिन्नेव पट इति तु शब्दमात्रम्, इति न साधारणातिरि-क्तक्षणसाधकम्।

[सारा जगत् पर्यायतः क्षणभंगुर है]

विशेषण के नाश से विशिष्ट का नाश होता है इस विचार के संदर्भ में वस्तुस्थिति यह है कि 'इदानीं' इस बुद्धि और व्यवहार की प्रवृत्ति क्षण और क्षणस्थ दोनों में होती है। वैशेषिक मत में क्षण और क्षणस्थ में भेद होने से उन दोनों के साथ क्षण का दो प्रकार का सम्बन्ध मानना होगा।

१. यद् वर्तनादिरूपः कालो द्रव्यस्यैव पर्यायः।
२. क एष भगवन्! काल इति प्रोच्यते? । गौतम! जीवाश्चैव, अजीवाश्चैव।

जैसे क्षण के साथ क्षण का तादात्म्य संबंध यह क्षण में 'इदानीं' इस बुद्धि का नियामक है, एवं क्षणस्थ वस्तुओं में क्षण का कालिक सम्बन्ध 'इदानीं' इस बुद्धि और व्यवहार का नियामक है। इस प्रकार दो संबन्ध के स्थान में उचित यह है कि क्षण और क्षणस्थ वस्तुओं के साथ क्षण का ऐसा ही सम्बन्ध माना जाय जो तादात्म्यनियत हो, क्योंकि-'जो सम्बन्ध तादात्म्य नियत होगा वह अन्तरंग यानी अपृथक् सिद्ध होने से अकृत्रिम होगा, अतः ऐसा सम्बन्ध एकोपादानोपादानकत्व ही हो सकता है। क्षण और क्षणस्थ दोनों ही एकोपादान के उपादेय होते हैं। इस प्रकार क्षण और क्षणस्थ वस्तु दोनों में क्षण का जो समानोपादानकत्व सम्बन्ध है वही उन दोनों में 'इदानीं' इस बुद्धि और व्यवहार का नियामक है। इस प्रकार यह क्षण और क्षणस्थ पदार्थों में तादात्म्य नियत सम्बन्ध सिद्ध होता है तो उन दोनों का तादात्म्य सिद्ध होने से क्षण क्षणभंगुर होने के कारण क्षणात्मक पर्यायरूप से क्षणस्थ वस्तु की भी क्षणभंगुरता सिद्ध होती है।

[काल जीवाजीव के वर्त्तनापर्याय रूप है]

क्षण और क्षणस्थ वस्तु के तादात्म्यनियत सम्बन्ध का समर्थन 'धर्मसंग्रहणी' ग्रन्थ में ग्रन्थकार श्रीमद् हरिभद्रसूरि महाराज के ही शब्दों से सम्पन्न होता है-उनके शब्द का स्पष्टार्थ यह है कि 'वर्त्तनादि रूप काल यह द्रव्य का ही पर्याय है' इस प्रकार काल को द्रव्य का पर्याय कहने से दोनों का तादात्म्य स्फुट रूप से प्रकट होता है, क्योंकि-'द्रव्य और पर्याय का तादात्म्य सुप्रसिद्ध है। इस तथ्य को श्री गौतम गणधर के काल सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में परमर्षि भगवान महावीर का इस आशय का उत्तर वचन भी अनुमोदक है कि जीव और अजीव ही काल है'। ऐसा मानने पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि क्षण और क्षणस्थ अभिन्न है तो क्षणस्थ के भेद से क्षण का भेद मानना भी आवश्यक होने से 'जिस क्षण में घट होता है उसी क्षण में पट होता है' इस प्रकार क्षणस्थ घट-पट के भेद का और क्षण के ऐक्य का प्रतिपादक यह व्यवहार किस प्रकार उत्पन्न होगा? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह है कि उक्त व्यवहार केवल शब्द मात्र है। अर्थात् उसका अर्थ बाधित है। अतः वह भिन्नभिन्न वस्तुओं से सम्बद्ध अतिरिक्त क्षण का साधक नहीं हो सकता।

प्रतियन्ति च लोका अपि नित्याऽनित्यत्वं वस्तुनः-'घटरूपेण मृद्‌द्रव्यं नष्टं, मृद्रूपेण न नष्टम्' इति, 'घटरूपेण घटो नष्टः, न तु मृद्रूपेण' इत्यादि। अत्र च 'दण्डत्वेन दण्डे घटहेतुत्वम्, न तु द्रव्यत्वेन' इत्यत्रेवावच्छिन्नत्वं तृतीयार्थः, स्वाश्रयन्यूनवृत्तेरेवावच्छेदकत्वमित्यस्य च (नियमस्य) प्रकृतदृष्टान्त एव भङ्गः। अथाऽन्यथासिद्धिनिरूपकतानवच्छेदकनियतपूर्ववर्तितावच्छेदकरूपवत्त्वं हेतुत्वं नाऽव्याप्यवृत्तिः, इति तत्र 'दण्डे' इति दण्डवृत्तित्वम्, 'दण्डत्वेने'ति च दण्डत्वाऽभिन्नत्वम्, 'न द्रव्यत्वेने'ति च द्रव्यत्वाभेदाभावो भासत इति चेत्? न, विशिष्टरूपेऽविशिष्टरूपाऽभेदान्वयस्य निराकांक्षत्वात्, अन्यथा 'दण्डत्वं घटहेतुत्वम्' इत्यस्यापि प्रसङ्गात्।—"तथाप्येकविशेष्यकत्वानुरोधाद् 'न द्रव्यत्वेन' इत्यत्र द्रव्यत्वावच्छिन्नत्वाभाव एवार्थः। न हि 'दण्डत्वेन दण्डो घटहेतुर्न द्रव्यत्वेन' इत्यत्र 'दण्डवृत्तिघटहेतुत्वं दण्डत्वावच्छिन्नं, दण्डवृत्तिस्तदभावश्च द्रव्यत्वावच्छिन्न' इति भिन्नाश्रयो बोधोऽनुभूयते, किन्तु

'दण्डवृत्ति घटहेतुत्वं दण्डत्वावच्छिन्नं द्रव्यत्वानवच्छिन्नं चे'त्येकाश्रय एवेति'' चेत् ? सत्यम्, तात्पर्यभेदेनोभयथापि बोधदर्शनात् 'मृद्रूपेण घटो(न)नष्टः' इत्यत्रापि कदाचिद् मृद्रूपानवच्छिन्ननष्टत्वबोधात्, नानापर्यायत्वाद् वस्तुनः । यदि च तत्र तदभावावच्छेदकत्वालम्बनः प्रत्ययस्तत्र तदवच्छेदकत्वाभावावलम्बनतयैवान्यथासिद्धः क्रियते, तदा संयोगाभावोऽप्यव्याप्यवृत्तिर्न स्यात्, 'मूले वृक्षे न कपिसंयोगः' इत्यस्यापि मूले वृक्षनिष्ठकपिसंयोगावच्छेदकत्वाभावविषयतयैवोपपत्तेः।

अथ 'कपिसंयोगाभावो न वृक्षवृत्तिः' इति बाधकाभावाद् मूलस्य वृक्षवृत्तिकपिसंयोगाभावावच्छेदकत्वम्, 'नष्टत्वाभावो न घटवृत्तिः' इति बाधकसत्त्वाच्च न घटवृत्तिनष्टत्वाभावावच्छेदकत्वं मृद्रूपस्येति चेत् ? न, तत्र तद्वृत्तित्वाभावस्याप्यव्याप्यवृत्तित्वेन तद्धियस्तत्र तद्वृत्तिताधियोऽप्रतिबन्धकत्वात् । यत्तु-"वृत्तित्वस्य नाऽव्याप्यवृत्तित्वम्, 'अग्रे वृक्षे न कपिसंयोगः' इत्यत्राग्रावच्छिन्नकपिसंयोगाभावे वृक्षवृत्तित्वस्य, 'गुणान्यत्वविशिष्टा सत्ता न गुणवृत्तिः' इत्यत्र गुणान्यत्वविशिष्टसत्ताभावे गुणवृत्तित्वस्य, 'घट-पटत्वोभयं न घटवृत्ति' इत्यत्र च घटत्व-पटत्वोभयाभावे घटवृत्तित्वस्य विषयत्वात्' इति"–तत्तु 'मूले वृक्षे कपिसंयोगो न शाखायाम्', 'द्रव्ये गुणान्यत्वविशिष्टसत्ता न गुणे' इत्यादिधियामेकविशेष्यकत्वाननुरोधाद् न शोभते। नन्वेवं वृक्षे पटे न कपिसंयोगः' इत्यपि स्यादिति चेत् ? न, देशनिष्ठावच्छेदकत्वस्य पटेऽभावात्, इतरावच्छेदकत्वविवक्षायां चेष्टत्वादिति दिग् । गौरवादिकं च नित्यत्वा-ऽनित्यत्वयोर्वास्तवेऽवच्छिन्नत्वे न दोषायेति । एवमनुभवसिद्धं नित्यानित्यैकरूपं वस्तु प्रतिक्षिपन् विरोधभीतो वैशेषिकश्चित्रपटे चित्रैकरूपमपि कथमभ्युपेयात् ? ! इति संप्रदायः । तदाहुः—

"चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन् ।
योगो वैशेषिको वापि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् । १॥" [वीतरागस्तोत्र ८/९] इति ।

[एक वस्तु में नित्यत्वा-नित्यत्वोभय की लोकसिद्ध प्रतीति]

व्याख्याकार का कहना है कि–वस्तु के नित्यानित्यत्व में उक्त युक्तिओं के अतिरिक्त लोकप्रतीति भी प्रमाण है। क्योंकि घटनाश होने पर ऐसी प्रतीति निर्विवाद सिद्ध है कि 'मृद्द्रव्य घटरूप से नष्ट हो गया किन्तु मृत्तिकारूप से नष्ट नहीं हुआ।' एवं 'घट घटरूप से नष्ट हुआ, किन्तु मृत्तिका रूप से नष्ट नहीं हुआ।' 'घट चला गया मृत्तिका बनी हुई है'। कारण यह है कि 'घटरूप से मृद्द्रव्य नष्ट हो गया और मृद्रूप से नष्ट नहीं हुआ' इस के संस्कृत रूप 'घटरूपेण मृद्द्रव्यं नष्टं, मृद्रूपेण न नष्टम्' इसमें तृतीया विभक्ति का अर्थ अवच्छिन्नत्व है। इसलिये उक्त प्रतीति का विषय है मृद्द्रव्य में घटरूप से अवच्छिन्न नष्टता यानी ध्वंसप्रतियोगिता और मृद्रूपावच्छिन्न नष्टता=(ध्वंसप्रतियोगिता) का

अभाव । इस प्रकार उक्त लोक प्रतीति से एक द्रव्य में नष्टत्वरूप अनित्यत्व और नष्टत्वाभावरूप नित्यत्व की सिद्धि स्पष्ट है । इस मान्यता के विरुद्ध यह जो शंका है 'घटरूप-घटत्व यह नष्टता के आश्रय घट में न्यूनवृत्ति न होने से नष्टता का अवच्छेदक नहीं हो सकता' वह शंका असंगत है क्योंकि–'दण्डत्वेन दण्डे घटहेतुत्वं न तु द्रव्यत्वेन'–दण्ड में घटहेतुता दण्डत्वरूप से है, द्रव्यत्वरूप से नहीं है' इस वाक्य में तृतीया का अवच्छिन्नत्वरूप अर्थ सर्वमान्य है । और यहां हेतुता का अवच्छेदक दण्डत्व दण्ड में न्यूनवृत्ति नहीं है अत: 'अवच्छेद्याश्रय में न्यूनवृत्ति धर्म ही अवच्छेदक होता है' यह नियम इसी वाक्य में ही व्यभिचरित है ।

[दंडत्वादिस्वरूप होने से हेतुता अव्याप्यवृत्ति न होने की शंका]

यदि यह शंका की जाय कि-"कार्यवृत्ति अन्यथासिद्धि की निरूपकता का अनवच्छेदक और कार्यनियतपूर्ववृत्तिता का अवच्छेदक धर्मवत्ता ही हेतुता है, और एवंभूत दण्डत्वादि धर्मवत्ता रूप हेतुता अव्याप्यवृत्ति नहीं है । इसीलिये 'दण्डे दण्डत्वेन घटहेतुता, न द्रव्यत्वेन' इस वाक्य का अर्थ यह नहीं हो सकता कि 'दण्ड में दण्डत्वावच्छेदेन घटहेतुत्व और द्रव्यत्वावच्छेदेन घटहेतुत्वाभाव है,' क्योंकि-दण्डत्व व हेतुता एक होने से स्व. स्व का अवच्छेदक नहीं हो सकता । किन्तु 'दण्डे-दण्डत्वेन घटहेतुत्वं न तु द्रव्यत्वेन' इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार है–दण्ड में घटहेतुता दण्डत्वाभिन्न होती है किन्तु द्रव्यत्वाभिन्न नहीं होती, द्रव्यत्वाभेदाभाववती होती है । यह अर्थ इस रीति से लभ्य है,–'दण्डे' इस शब्द से दण्डवृत्तित्व का, 'दण्डत्वेन' इस शब्द से दण्डत्वाभिन्नत्व का और 'न द्रव्यत्वेन' इस शब्द से द्रव्यत्वाभेद के अभाव का-लाभ होता है । अत: उक्त वाक्य में तृतीया का अवच्छिन्नत्व अर्थ अमान्य होने के कारण 'अवच्छेद्याश्रय में न्यूनवृत्ति ही अवच्छेदक होता है' इस नियम का व्यभिचार असिद्ध है । अतः मृत्तिका घटरूपेण नष्टा न तु मद्रूपेण' इस वाक्य में घटात्मक रूप नष्टता का अवच्छेदक नहीं हो सकता ।"--

किन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि दण्डनिष्ठघटहेतुता जब उक्त प्रकार से दण्डत्वस्वरूप है तब उसमें 'दण्डत्वेन' इस शब्द से 'दण्डनिष्ठघटहेतुतारूप दण्डत्वं दण्डत्वाभिन्नं' इस प्रकार दण्डत्व के अभेद का अन्वयबोध नहीं हो सकता । क्योंकि किञ्चिद्विशिष्टतद्रूप में अविशिष्ट तद्रूप का अभेदान्वय निराकांक्ष होता है । अन्यथा घटहेतुतास्वरूप से दण्डत्व में दण्डत्व का अभेद-बोध कराने हेतु 'दण्डत्वं घटहेतुत्वम्' इस प्रयोग की भी आपत्ति होगी ।

[बोध एकविशेष्यक होने की शंका का निराकरण]

यदि उक्त के प्रतिवाद में वैशेषिक की ओर से यह कहा जाय कि-"उक्त वाक्य में तृतीया का अर्थ अवच्छिन्नत्व मानने पर भी उससे 'दण्डत्वं दण्डनिष्ठघटहेतुतावच्छेदकं, द्रव्यत्वं दण्डनिष्ठघट-हेतुतानवच्छेदकं' अर्थात् 'दण्डत्व दण्डनिष्ठ घटहेतुता का अवच्छेदक है और द्रव्यत्व घटहेतुता का अनव-च्छेदक है' इसप्रकार का बोध नहीं माना जा सकता क्योंकि इस बोध में दण्डत्व और द्रव्यत्व उभय-विशेष्यकत्व होने से एकविशेष्यकत्व की हानि हो जाती है । अतः 'न द्रव्यत्वेन' इस शब्द का द्रव्य-त्वावच्छिन्नत्वाभाव ही अर्थ मान कर उक्त वाक्य से दण्डनिष्ठ घटहेतुता को एक ही को विशेष्य बना कर उस दण्डनिष्ठ घटहेतुता में दण्डत्वावच्छिन्नत्व और द्रव्यत्वावच्छिन्नत्वाभाव का बोध मानना होगा; और वही एकविशेष्यकबोध अनुभवसिद्ध है किन्तु 'दण्डत्वेन दण्डो घटहेतुः न द्रव्यत्वेन' इस वाक्य से

'दण्डवृत्तिघटहेतुत्व दण्डत्वावच्छिन्न है और दण्डवृत्तिघटहेतुत्वाभाव द्रव्यत्वावच्छिन्न है' इस प्रकार विभिन्नविशेष्यक बोध अनुभवसिद्ध नहीं है । अब जब 'दण्डवृत्तिघटहेतुत दण्डत्व से अवच्छिन्न है' इस प्रकार एकविशेष्यक बोध ही अनुभवसिद्ध है, तब इसी प्रकार 'मृद्द्रव्यं घटरूपेण नष्टम्, मृद्रूपेण न नष्टम्' इस वाक्य से भी 'मृद्द्रव्यनिष्ठ नष्टता घटरूपावच्छिन्न है और मृद्द्रव्यनिष्टत्वाभाव मृद्रूपावच्छिन्न है' इस प्रकार विभिन्नविशेष्यक बोध नहीं माना जा सकता; जिससे मृद्द्रव्य में नष्टत्व नष्टत्वाभाव सिद्ध हो सके । अतः एकवस्तु में उक्त लोकप्रतीति से नित्यत्व-अनित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ।''-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि तात्पर्यभेद से लोक में दोनों प्रकार का बोध देखा जाता है । इसलिये 'मृद्रूपेण घटो (न) नष्टः' इस वाक्य से मृद्रूप में घटवृत्ति नष्टता के अवच्छेदकत्वाभाव के बोध की तरह कदाचित् घट में मृद्रूपावच्छिन्ननष्टता के अभाव का बोध भी हो सकता है । क्योंकि वस्तु विभिन्नपर्यायात्मक होती है अतः यह भी घट का पर्याय हो सकता है ।

[विरोधी उभय के एकत्र समावेश पर शंका]

यदि यह कहा जाय कि-''उक्त स्थल में अर्थात् 'घटरूपेण घटो नष्टः न तु मृद्द्रव्यरूपेण' एवं 'दण्डत्वेन दण्डो घटहेतुः न तु द्रव्यत्वेन' इस में जो क्रम से घटात्मकरूप में नष्टतावच्छेदकत्व और मृद्द्रव्यत्व में नष्टत्वाभावावच्छेदकत्व तथा दण्डत्व में घटहेतुतावच्छेदकत्व, और द्रव्यत्व में घटहेतुत्वाभाव के अवच्छेदकत्व को विषय करने वाली प्रतीति अवगत होती है उसकी उपपत्ति क्रमशः मृद्द्रव्यत्व में नष्टतावच्छेदकत्वाभाव और द्रव्यत्व में घटहेतुतावच्छेदकत्वाभाव को विषय मानने पर भी हो सकती है अतः एकवस्तु में परस्पर विरोधी भावाभावोभय का समावेश उक्त प्रतीति द्वारा समर्थित नहीं हो सकता''-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर आपत्ति यह है कि संयोग और संयोगाभाव भी अव्याप्यवृत्ति नहीं होगा । क्योंकि 'मूले वृक्षे न कपिसंयोगः' इस प्रतीति की भी 'मूल में वृक्षनिष्ठकपिसंयोगावच्छेदकत्व का अभाव है' इसप्रकार के बोधरूप में उपपत्ति हो सकती है । अतः इस प्रतीति से भी वृक्ष में कपिसंयोगाभाव की सिद्धि न होने से कपिसंयोगाभाव की अव्याप्यवृत्तिता भी अप्रामाणिक हो जायगी ।

इस आपत्ति से बचने के लिये यदि यह कहा जाय कि 'कपिसंयोगाभावः न वृक्षवृत्तिः ।' ऐसी बाधक प्रतीति न होने से उक्त प्रतीति में मूल में वृक्षवृत्तिकपिसंयोगाभाव के अवच्छेदकत्व का भान युक्तिसंगत है किन्तु 'नष्टत्वाभावः न घटवृत्तिः' इस प्रकार बाधक प्रतीति होने से मृद्रूप में घटवृत्तिनष्टत्वाभाव के अवच्छेदकत्व का भान 'मृद्रूपेण घटो न नष्टः' इस प्रतीति में नहीं माना जा सकता' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तन्निरूपितवृत्तित्वाभाव भी अव्याप्यवृत्ति होता है । अत एव तन्निरूपितवृत्तित्वाभाव का ज्ञान तन्निरूपितवृत्तिता के ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता । अतः नष्टत्वाभाव में घटवृत्तित्वाभाव का ज्ञान रहने पर उसमें घटवृत्तित्व का ज्ञान सम्भव होने से 'मृद्रूपेण घटो न नष्टः' इस प्रतीति में मृद्रूप में घटवृत्तिनष्टत्वाभाव के अवच्छेदकत्वभान में कोई बाधा नहीं हो सकती ।

[वृत्तित्वाभाव अव्याप्यवृत्ति न होने की शंका]

इस संदर्भ में यदि यह कहा जाय कि-''वृत्तित्व अव्याप्यवृत्ति नहीं होता क्योंकि 'अग्रे वृक्षे न कपिसंयोगः' इस स्थल में अग्रदेशावच्छिन्न कपिसंयोगाभाव में वृक्षवृत्तित्व का भान होता है न कि

कपिसंयोग में अप्रदेशावच्छिन्न वृक्षवृत्तित्व का भान होता है। इसीप्रकार 'गुणान्यत्वविशिष्टसत्ता न गुणवृत्तिः' इस स्थल में गुणान्यत्वविशिष्टसत्ताभाव में गुणवृत्तित्व का भान होता है न कि सत्ता में गुणान्यत्वविशिष्टत्वावच्छेदेन गुणवृत्तित्वाभाव का भान होता है। इसीप्रकार 'घटपटोभयत्वं न घटवृत्ति' इस स्थल में भी घटत्व-पटत्व उभयाभाव में घटवृत्तित्व का ही भान होता है न कि उभयत्वावच्छेदेन घटत्वपटत्वोभय में घटवृत्तित्वाभाव का भान होता है। अतः वृत्तित्वाभाव के अव्याप्यवृत्तित्व में कोई प्रमाण न होने से नष्टत्व में घटवृत्तित्व होने से नष्टत्वाभाव में घटवृत्तित्व का भान सम्भव नहीं है।"–तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि 'मूले वृक्षे कपिसंयोगः न शाखायाम्' और 'द्रव्ये गुणान्यत्वविशिष्टसत्ता न गुणे' इत्यादि प्रतीतियों में क्रमशः 'मूल में वृक्षवृत्तिकपिसंयोगानवच्छेदकत्व और शाखा में वृक्षवृत्तिकपिसंयोगावच्छेदकत्व' का भान मानने पर, एवं 'द्रव्यत्व में गुणान्यत्वविशिष्ट सत्ता का अवच्छेदकत्व और गुणत्व में गुणान्यत्वविशिष्टसत्ता का अनवच्छेदकत्व' का भान मानने से विशेष्यभेद हो जाता है। अतः उन प्रतीतियों में एकविशेष्यकत्व के अनुरोध से क्रम से कपिसंयोग में शाखावच्छेदेन वृक्षवृत्तित्व और मूलावच्छेदेन वृक्षवृत्तित्वाभाव का एवं गुणान्यत्वविशिष्टसत्ता में गुणान्यत्वविशिष्टसत्तात्वावच्छेदेन द्रव्यवृत्तित्व और उसमें सत्त्वत्वावच्छेदेन विद्यमान गुणवृत्तित्व का भी गुणान्यत्वविशिष्टसत्तात्वावच्छेदेन अभाव का बोध मानना ही उचित है। इसप्रकार ये प्रतीति तत्तद्रूपितवृत्तित्व के अव्याप्यवृत्तित्व होने में प्रमाण है।

['वृक्षे पटे न कपिसंयोगः' इस प्रयोग में प्रामाण्यशंका का निवारण]

इस पर यदि यह शंका की जाय कि "ऐसा मानने पर 'वृक्षे पटे न कपिसंयोगः' इस प्रयोग में भी प्रामाण्य-आपत्ति होगी क्योंकि इस से भी वृक्ष में कपिसंयोग और पट में कपिसंयोग के अभाव का बोध मानने पर भिन्नविशेष्यकत्व की आपत्ति होगी। अतः वृक्ष में पटावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव का भान मानना ही उचित है"–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पट देशविधया वृक्षनिष्ठ कपिसंयोगाभाव का अवच्छेदक नहीं हो सकता क्योंकि पट वृक्ष का अवयव न होने से देशविधया वृक्ष का सम्बन्ध नहीं है। और नियम यह है कि तत्सम्बन्धी देश ही तन्निष्ठधर्म का अवच्छेदक होता है। यदि यह कहा जाय कि–"उक्त वाक्य से होनेवाले बोध में, पट में कालविधया अवच्छेदकत्व विवक्षित है और पटात्मक काल वृक्ष का सम्बन्धी होने से वृक्षस्थित कपिसंयोगाभाव का अवच्छेदक हो सकता है–" तो इसका उत्तर यह है कि उस स्थिति में उक्त प्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ति इष्ट ही है।

वस्तु को नित्याऽनित्यात्मक मानने पर जो नित्यत्व ज्ञान के प्रति अनित्यत्वज्ञान की प्रतिबन्धकता में अव्याप्यवृत्तित्वज्ञान के उत्तेजकत्व की कल्पना से गौरव की आपत्ति प्रदर्शित की गई थी वह भी नहीं हो सकती, क्योंकि जब नित्यत्व और अनित्यत्व का अवच्छिन्नत्व अर्थात् अवच्छेदकभेद से दोनों का एकत्र संनिवेश प्रामाणिक है तो उक्त गौरव फल मुख होने से दोषावह नहीं हो सकता। अतः उक्त गौरव वस्तु के नित्यत्व-अनित्यत्व के अभ्युपगम में बाधक नहीं हो सकता।

यदि वैशेषिक विद्वान् विरोध से भयभीत होकर अनुभवसिद्ध भी नित्याऽनित्यात्मक एकवस्तु के अस्तित्व का प्रतिषेध करेगा, तो चित्रपट में एकचित्ररूपसत्ता का अभ्युपगम भी उस के मत में कैसे सम्भव होगा? जैसा कि आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने अपने वीतराग स्तोत्र में कहा है कि-एक चित्रवस्तु में एकरूपता और अनेकरूपता को प्रामाणिक मानने वाले नैयायिक और वैशेषिक मतानुयायी अनेकान्तवाद का निषेध नहीं कर सकते।

अत्र नव्याः-'चित्रपटेऽव्याप्यवृत्तीन्येव नील-पीतादीनि नानारूपाणि' 'एकं रूपम्' इति प्रतीतिः 'एको धान्यराशिः' इतिवत् समूहैकत्वविषयत्वात् । सविषयाऽवृत्तिव्याप्यवृत्तिवृत्तिजातेरव्याप्यवृत्तिवृत्तित्वविरोधस्त्वप्रामाणिक एव । अत एव—

"लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः ।
श्वेतः खुर-विषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥ १ ॥"

इत्यादिकमुपपद्यते । तत्र चित्रैकरूपकल्पने तु गौरवम्, तथाहि-चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति न नीलत्वादिना हेतुत्वम्, व्यभिचारात् । नापि रूपत्वेन, नीलमात्रारब्धेऽपि तदापत्तेः । अथ नीलेतर-पीतेतररूपादेरपि तत्र हेतुत्वाद् न तदापत्तिः, यत्रैकावयवे नीलम्, अपरत्र च पीतजनकाग्निसंयोगः, तत्रावयवे पीतरूपोत्पत्त्यनन्तरमेवावयविनि चित्रोत्पत्तिस्वीकाराद् न व्यभिचारः । न च नीलाभावादिषट्कस्यैव समवायेन विजातीयचित्रं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वेन हेतुत्वमस्त्विति वाच्यम्, नील-पीतोभयकपालारब्धे घटे पाकनाशितावयवपीतस्य चित्रेऽवयवे व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकाले चित्रोत्पत्त्यापत्तेः । न च कार्यसहभावेन नीलाभावादीनां तद्धेतुत्वाद् नायं दोष इति वाच्यम्, नील-पीत-श्वेतत्रितयकपालारब्धे पाकेन पीत-श्वेतयोः क्रमेण नाशे श्वेतनाशकालेऽपि तदापत्तेः । नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नाभावत्वादिना हेतुत्वे तु गौरवम्, संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वेन प्रतियोगिव्यधिकरणत्वनिवेशे च सुतराम् । न चानवच्छिन्नविशेषणतया प्रतियोगितावच्छेदकाविशेषितोक्ताभावहेतुत्वसंभवः, प्रतियोगिकोटावुदासीनप्रवेशाऽप्रवेशाभ्यामविनिगमादिति चेत् न, पाकमात्रादपि चित्रोत्पत्तेः ।

[चित्ररूपमीमांसा में नव्य नैयायिक मत]

अनेकरूपसमूहात्मकचित्ररूपवादी नव्य नैयायिकों का यह मत है कि चित्रपट में अव्याप्यवृत्ति नील-पीतादि नानारूपों की उत्पत्ति होती है । न कि नील-पीतादि से विलक्षण अतिरिक्त चित्ररूप की उत्पत्ति होती है । चित्रपट में 'अत्र एकं रूपम्'--इस पट में एक रूप है' यह प्रतीति 'एको धान्यराशिः' इस प्रतीति के समान समूहगत एकत्व के द्वारा उपपन्न होती है । अतः चित्रपट में एक चित्र रूप की सत्ता असिद्ध है । यदि यह कहा जाय कि—"सविषयकपदार्थ में अवृत्ति और व्याप्यवृत्ति (पदार्थ) में वृत्ति जो जाति होती है वह अव्याप्यवृत्ति नहीं होती'-इस नियम का, नीलपीतादि का अव्याप्यवृत्ति मानने पर, विरोध होगा क्योंकि सविषयकज्ञानादि में अवृत्ति और व्याप्यवृत्ति जलीयरूपादि में वृत्ति जो रूपत्वादिजाति, उस में अव्याप्यवृत्ति नीलपीतादिवृत्तित्व हो जायगा ।"-सो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्तजाति के अव्याप्यवृत्तिवृत्तित्व में विरोध होने का कोई प्रमाण नहीं है बल्कि उसके विरुद्ध शास्त्रवचन उपलब्ध होता है । जिस में नीलवृष की इस प्रकार परिभाषा दी गई है कि—'जिस वृष का वर्ण रक्त हो, तथा मुख और पुच्छ में पाण्डुर, (एक विलक्षणरूप जो रक्ताभश्वेत होता है) और खुर तथा विषाण में श्वेतरूप होता है उसे नीलवृष कहा जाता है ।' यह वचन अतिरिक्तचित्ररूप

के पक्ष में नहीं उपपन्न हो सकते किन्तु एक द्रव्य में अव्याप्यवृत्ति नीलपीतादि की उत्पत्ति मानने पर ही उपपन्न हो सकता है।

[एक चित्ररूप के साथ कार्य-कारणभाव में गौरवादि]

यदि यह कहा जाय कि–'उक्तवचन में विभिन्नरूपों का वर्णन जो किया गया है वह वृष के विभिन्न अंगों के रूप का वर्णन है न कि स्वयं वृष का। वृष का रूप तो नीलपीतादि से अतिरिक्त चित्ररूपात्मक ही है।'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि उक्तवृष में एक चित्ररूप की कल्पना की जायगी तो गौरव होगा; क्योंकि चित्ररूप के प्रति एक अतिरिक्त कार्यकारणभाव की कल्पना करनी होगी। अब प्रश्न यह होगा कि (१) चित्ररूप के प्रति किस को कारण मानेंगे ? यदि चित्ररूप के प्रति नीलादिरूप को नीलत्वादिरूप से कारण मानेंगे तो अन्वय व्यभिचार होगा क्योंकि नीलकपालमात्र से आरब्ध घट में स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलरूप के होने पर भी चित्ररूप की उत्पत्ति नहीं होती। (२) यदि नीलत्वादिरूप से नीलपीतादि सभी रूपों को चित्ररूप के प्रति परस्पर सापेक्ष कारण माना जायगा, तो दो तीन प्रकार के रूपों से युक्त अवयवों के द्वारा आरब्ध द्रव्य में भी चित्र की उत्पत्ति होने से व्यतिरेक व्यभिचार होगा। (३) यदि चित्ररूप के प्रति रूपत्वेन कारण माना जायगा तो नीलमात्र से आरब्ध द्रव्य में भी चित्ररूप की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा। फलतः इस कार्यकारणभाव में भी अन्वयव्यभिचार की आपत्ति होगी।

[एक चित्ररूप सिद्ध करने का विस्तृत प्रयास]

(४) यदि कहें-चित्ररूप प्रति नीलेतर-पीतेतर रूपादि को कारण मानेंगे तब उक्त दोष नहीं हो सकता क्योंकि जहां नीलरूपवत् मात्र अवयव से किसी द्रव्य का आरम्भ होता है वहां नीलेतररूप कारण नहीं है, और जहाँ नील-पीत उभयविध अवयवों से द्रव्य का आरम्भ होगा वहाँ नीलेतर-पीतेतर रक्तेतरादि सभी रूपों के रहने से चित्ररूप की उत्पत्ति में कोई बाधा न होगी। इस पर यदि यह शंका की जाय कि–'जहाँ एक अवयव में नीलरूप है और अन्य अवयव में पीतजनक अग्निसंयोग है वहाँ ऐसे दो अवयवों से आरब्ध घट में चित्ररूप की उत्पत्ति तो होती है किन्तु चित्ररूपोत्पत्ति के पूर्व नीलेतर रूप उस द्रव्य में नहीं है, अतः उक्त कार्यकारण भाव में व्यभिचार होगा'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त स्थल में नीलातिरिक्त अवयव में अग्निसंयोग से पीतरूप की उत्पत्ति हो जाने के बाद ही अवयवी में चित्ररूप की उत्पत्ति होती है, अतः उस स्थल में नीलेतर-पीतेतर रूपात्मक कारण का अस्तित्व होने से व्यभिचार नहीं हो सकता।

[नीलाभावादिषट्क की कारणता की आशंका]

इस पर यदि फिर से यह प्रश्न किया जाय कि–"चित्ररूप के प्रति नीलेतर पीतेतर रूपादि को स्वाश्रय-समवेतत्व सम्बन्ध से कारण मानने की अपेक्षा नीलरूपाद्यभाव-षट्क को स्वाश्रय-समवेतत्व सम्बन्ध से चित्ररूप के प्रति कारण मानने में लाघव है। अतः नीलाभावादिषट्क ही कारण है; अत एव जहाँ एक अवयव में नीलरूप है और अन्य अवयवों में पीतजनक अग्निसंयोग है वहाँ अवयवों में पीतरूप उत्पत्ति के पूर्व भी अवयवी में चित्ररूप की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि नीलाभाव पीताभावादिषट्क स्वाश्रय समवेतत्व सम्बन्ध से उक्त अवयवी में विद्यमान है।"–तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि जहाँ नील-पीत दो कपालों से चित्रघट उत्पन्न होता है और पाक से पीत

अवयव के पीतरूप का और घट के चित्ररूप का नाश होता है वहाँ नष्टपीतरूप वाले अवयव में पाक द्वारा व्याप्यवृत्ति नीलरूप की उत्पत्तिकाल में घट में चित्ररूप की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि उसके पूर्व घट में नीलादिअभावषट्क स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से विद्यमान है। किन्तु नीलेतररूपादि को चित्ररूप के प्रति कारण मानने में यह आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि उक्त स्थल में नीलेतररूप स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से घट में विद्यमान नहीं है।

[कार्यसहभावेन अभावषट्क कारणता की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि 'नीलाभावादि में चित्ररूप के प्रति कार्यसहभाव से कारणता होती है अतः कार्यकाल में नीलादिअभाव के रहने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। उक्त स्थल में नष्टपीतरूप वाले कपाल में व्याप्यवृत्तिनीलरूपोत्पत्तिकाल में नीलरूपाभाव नहीं है, अतः उस काल में चित्रोत्पत्ति का प्रसङ्ग रूप दोष सम्भव नहीं है'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ नील-पीत और श्वेत इन तीन रूपवाले कपालों से कोई घट उत्पन्न होता है और उस में पाक से पीतरूप और श्वेत-रूप का नाश क्रम से होता है वहाँ उस घट में श्वेतरूप नाश काल में चित्ररूपोत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि उस काल में पीतश्वेतादिरूपों का अभाव स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से विद्यमान है।

यदि इस दोष के निवारणार्थ नीलाभावादि को नील और नीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वाव-च्छिन्न अभावत्वरूप से कारण माना जाय तो उक्त आपत्ति का वारण तो यद्यपि हो सकता है क्योंकि उक्त घट में पाक से पीतरूप नाश के अनन्तर श्वेतरूप नाशकाल में नीलजनकतेजःसंयोग होने से नील-नील जनकतेजःसंयोगान्यतराभाव नहीं है। तथापि ऐसा मानने में, नीलेतररूपत्वादिरूप से कारणता मानने की अपेक्षा गौरव है और संयोग अव्याप्यवृत्ति होने से नील-नीलजनकतेजःसंयोगान्यतराभाव के रह जाने से उक्त आपत्ति का परिहार नहीं हो सकेगा। यदि अभाव में प्रतियोगिव्यधिकरणता का निवेश करेंगे तो और अधिक गौरव होगा।

[निरवच्छिन्नविशेषणताघटितस्वाश्रयसमवेतत्व संबन्ध से कारणता की शंका]

इन सब दोषों के निवारणार्थ (५) यदि यह कहा जाय कि-"प्रतियोगितावच्छेदक से अवि-शेषित उक्त अभाव को निरवच्छिन्न विशेषणता से घटित स्वाश्रय समवेतत्व सम्बन्ध से कारण मानने में उक्त दोष नहीं है क्योंकि नीलजनकतेजःसंयोगकाल में नील-नीलजनकतेज.संयोगान्यतराभाव निरवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से (स्वाश्रय) अवयव में न रहने के कारण उक्त सम्बन्ध से स्वाश्रय समवेतत्व सम्बन्ध से उक्त अभाव घट में नहीं रहेगा, अत एव उस में चित्ररूपोत्पत्ति का प्रसङ्ग न हो सकेगा और प्रतियोगितावच्छेदक अभाव में विशेषण न रहने से गौरव भी नहीं होगा। क्योंकि तत्तदभाव तत्तद्व्यक्तित्वरूप से कारण होगा।"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रतियोगिकोटि में उदासीन के प्रवेशाऽप्रवेश में कोई विनिगमक न होने से नील-वायुसंयोगान्यतराभाव को भी प्रतियो-गितावच्छेदकाऽविशेषितरूप से निरवच्छिन्नविशेषणताघटित स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से कारणता की आपत्ति होगी। अतः नीलाभावादि षट्क को कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है किन्तु नीलेतर पीतेतर रूपादि को ही चित्ररूप के प्रति कारण मानना उचित है।

अनेकरूपवादीः—चित्ररूपवादी के इस विस्तृत कथन पर यहाँ विचार करने पर यह कार्य-कारणभाव भी उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि नीलघट के विभिन्न अवयवों में भिन्न प्रकार के लेप द्रव्य का प्रयोग कर जब घट पकाया जाता है तब पाक से अवयव और अवयवी के रूप का नाश

हो जाने पर एक साथ ही सभी अवयवों में नील-पीतादि विभिन्न रूपों की और अवयवी में चित्ररूप की उत्पत्ति होती है, यह उत्पत्ति चित्ररूप के प्रति नीलेतर-पीतेतरादि को हेतु मानने पर नहीं घट सकेगी।

अथ रूपजन्यतावच्छेदकं विजातीयचित्रत्वम्, अग्निसंयोगजन्यतावच्छेदकं चापरम्, अग्निसंयोगजचित्रं प्रत्यवच्छेदकत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताका नीलजनकाग्निसंयोगादेरभावा उक्तप्रत्यासत्त्या हेतवः, रूपजनकविजातीयाग्निसंयोगोऽपि, इति न वाय्वादौ तदापत्तिः। अस्तु वा तेजःसंयोगमात्रजन्ये विजातीयचित्रे विजातीयतेजःसंयोगस्य, पाकरूपोभयजन्ये विजातीय-चित्रे चोभयोरेव हेतुत्वम्, रूपमात्रजातिरिक्ते एव वा विजातीयतेजःसंयोगो हेतुः, फलबलेन वैजात्यकल्पनात्, अग्निसंयोगमात्रजातिरिक्ते रूपहेतुतया वक्तुमशक्यत्वात्, नीलेतरादिसमाजाभावात्, नीलाभावादिहेतुतावादिन एवात्र वैयग्र्यात्। पाकजचित्रे वा मानाभावः, पाकादवयवे नानारूपोत्पत्त्यनन्तरमेवावयविनि चित्रस्वीकारे लाघवात्। न चावयविनि चित्रजनकत्वाभिमतस्य पाकस्यावयवनील-पीतादिजनकत्वे नील-पीतादिजनकत्वावच्छेदकजातिसांकर्यम्, तत्र पाकनानात्वस्वीकारादिति चेत्? न, चित्रस्थले नीलादिसामग्रीसत्त्वाद् नीलाद्यापत्तिवारणाय नीलादौ नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवात् इत्याहुः।

[एक चित्ररूपवादी की ओर से पुनः स्वपक्ष स्थापन]

इस संदर्भ में यदि यह कल्पना की जाय कि "चित्ररूप की दो जाति होती है–एक रूपजन्यतावच्छेदक और दूसरी अग्निसंयोगजन्यतावच्छेदक। इन में अग्निसंयोगजन्यचित्ररूप के प्रति अवच्छेदकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलजनकाग्निसंयोगादि का अभाव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से कारण है और रूपजनक विजातीयअग्निसंयोग भी कारण है। ऐसा मानने पर पाकमात्र से चित्ररूपोत्पत्ति में कोई बाधा नहीं हो सकती क्योंकि जिस द्रव्य में पाकमात्र से चित्ररूप उत्पन्न होता है उसके विभिन्न उन्हीं अवयवों में नीलपीतादिजनकअग्निसंयोग होता है जिन में नीलपीतादि की उत्पत्ति होती है। अतः अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक नीलादिजनकाग्निसंयोगाभाव पीतादि-भाग में रहेगा, एवं पीतादिजनकाग्निसंयोगाभाव नीलादि में रहेगा। इसप्रकार नीलपीतादिजनकाग्निसंयोग का अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से अवयवी द्रव्य में रहने से उस में पाक मात्र से चित्ररूप की उत्पत्ति होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। रूपजनक विजातीय अग्निसंयोग को भी उन अभावों का सहकारी मानने से वायु आदि में चित्ररूपोत्पत्ति का प्रसंग भी नहीं हो सकता, क्योंकि यद्यपि वायु के अवयवों में अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक नीलपीतादिजनकाग्निसंयोग का अभाव रहने से उक्त अभाव स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से वायु में विद्यमान है किन्तु रूपजनकविजातीयअग्निसंयोग उस में न होने से चित्ररूपोत्पत्ति उस में नहीं हो सकती क्योंकि अग्निसंयोग का जन्यतावच्छेदक चित्रत्व अग्निसंयोग के जन्यतावच्छेदकरूपत्वका व्याप्य धर्म है और व्याप्यधर्मावच्छिन्न कार्य की उत्पत्ति में व्यापकधर्मावच्छिन्न कार्य की उत्पादक सामग्री प्रयोजक होती है। अतः रूपत्वावच्छिन्न का कारण विजातीयाग्निसंयोग वायु में न होने से उस में चित्ररूपोत्पत्ति का प्रसङ्ग न हो सकेगा। इस के अतिरिक्त एक और भी

कल्पना हो सकती है-जैसे तेजःसंयोगमात्र से जन्य विजातीय चित्ररूप में विजातीय तेजःसंयोग कारण है एवं पाक और रूप उभयजन्यविजातीयचित्र में पाक और रूप दोनों कारण है-अथवा तेजःसंयोगमात्रजन्य और पाकरूपोभयजन्य चित्र रूपों का रूपमात्रजन्यभिन्नत्वरूप से अनुगम कर उन दोनों के प्रति रूपमात्रजन्य से भिन्न चित्ररूप के प्रति विजातीय तेजःसंयोग कारण है । इसप्रकार उन दोनों रूपों के प्रति एक कारण की कल्पना की जा सकती है । क्योंकि फल के बल से वैजात्य की कल्पना हो सकती है ।

यदि यह शंका की जाय कि- जैसे तेजःसंयोगमात्रजन्य और पाकरूपोभयजन्य चित्ररूपों का रूपमात्रजभिन्नत्वरूप से अनुगम कर उन दोनों के प्रति यानी रूपमात्रजभिन्न के प्रति विजातीयतेजः-संयोग में एक कारणता की कल्पना की जाती है, उसीप्रकार रूपमात्रजन्यविजातीयचित्र और पाक-रूपोभयजन्य विजातीयचित्र इन दोनों का अग्निसंयोगमात्रजभिन्नत्वरूप से अनुगम कर उन दोनों के प्रति यानी अग्निसंयोगमात्रजभिन्न रूप के प्रति रूप कारण है यह कल्पना भी क्यों न की जाय ?'-तो यह शंका उचित नहीं है क्योंकि रूप में रूपत्वेन कारणता मानने पर नीलमात्रारब्धघट में भी चित्ररूप की आपत्ति होगी और नीलपीतेतररूपत्वादिना कारणता मानने पर पाक और रूप उभयजन्य चित्र में व्यभिचार होगा-जैसे, नीलकपालमात्रारब्धघट के एकभाग में पाक से नीलरूप का नाश होकर उस में पीतजनकअग्निसंयोग होने पर एक कपालगत नीलरूप और अन्यकपालगत पीतजनकाग्निसंयोग से घट में चित्ररूप की उत्पत्ति होती है किन्तु उस के पूर्व नीलेतररूप स्वाश्रय-समवेतत्वसम्बन्ध से घट में द है । तथा यह आपत्ति यानी अग्निसंयोगमात्रजभिन्नचित्ररूप में रूपकारणता की आपत्ति चित्ररूप के प्रति नीलाभावादिषट्क की कारणतावादी के मत में होगी, क्योंकि पाक और रूप उभयजन्य चित्ररूप में नीलाभावादि षट्क की कारणता का व्यभिचार नहीं है ।

नीलपीतेतररूपादि को चित्ररूप के प्रति कारणतावादी तो यह भी कह सकता है कि पाकमात्र-जन्यचित्ररूप में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि जहाँ पाकमात्र से चित्ररूप की उत्पत्ति होने का अनुभव होता है वहाँ यह मानने में लाघव है कि पाक से अवयव में अनेक रूपोत्पत्ति के बाद ही अवयवी में चित्र रूपोत्पत्ति होती है । इस पर यदि यह शंका की जाय कि-' अवयवी में चित्ररूप का जनक जो पाक है उस को अवयव में नील पीतादि का जनक मानने पर नीलपीतादि के जनकतावच्छेदक जाति में सांकर्य होगा क्योंकि चित्ररूप के अजनक नीलजनक अग्निसंयोग में नीलजनकतावच्छेदक जाति है किन्तु पीतजनकतावच्छेदक जाति नहीं है, ऐसे ही चित्ररूप के अजनक पीतजनकाग्निसंयोग में पीतजनकतावच्छेदक जाति है किन्तु नीलजनकतावच्छेदक जाति नहीं है और ये दोनों जाति चित्र-जनक अग्निसंयोग में विद्यमान है-" तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि चित्रजनक पाक और नीलपीता-दिजनक पाक भी विभिन्न है । अतः चित्र में नीलपीतेतरादिरूप को कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।

किन्तु नव्य नैयायिक की ओर से कहा जा सकता है कि विचार करने पर अतिरिक्त चित्ररूप-वादी का यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । क्योंकि चित्ररूपोत्पत्तिस्थल में अवयवी में नीलादिरूप की उत्पादकसामग्री भी विद्यमान रहती है । अतः चित्रावयवी में नीलादि की उत्पत्ति की आपत्ति का वारण करने के लिये समवाय सम्बन्ध से नीलादि के प्रति नीलेतररूपादि स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से प्रतिबन्धक है ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी जिसमें गौरव होगा । [नव्यमत समाप्त]

तत्रेति संप्रदायानुसारिणः–अव्याप्यवृत्तिनीलादिकल्पन एव गौरवात् । तथाहि–अवच्छेदकतासंबन्धेन नीलादिकं प्रति समवायेन नीलेतररूपादीनां प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्, अन्यथा पीतावयवावच्छेदेन नीलोत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च नीलस्य स्वाश्रयावच्छेदेन नीलजनकत्व-स्वाभाव्यादेव न तदापत्तिरिति **वाच्यम्**, विनैतादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावं तथास्वाभाव्याऽ-निर्वाहात् । ननु समवायेन नीलं जायत एव पीतावयवावच्छेदेनेत्यत्र चापादकाभाव इति **चेत्** ? **न**, समवायस्येवावच्छेदकताया अपि कारणनियम्यत्वात् । एवं च नीलादौ नीलेतर-रूपादीनां, नीलेतररूपादौ वा नीलादीनां प्रतिबन्धकत्वे विनिगमकाभावः, मम तु नीलेतररूपादौ नीलादीनां न प्रतिबन्धकत्वम्, नील-पीतारब्धे पीतरूपत्वप्रसङ्गस्य बाधकत्वात् ।

अथ ममापि नीलत्वादिकमेव प्रतिबध्यतावच्छेदकम्, न तु नीलेतररूपत्वादिकम्, गौरवात् । **न च** नीलत्वेन प्रतिबन्धकत्वम् न तु नीलेतरत्वेन, गौरवात्, इत्येव किं न स्यात् ? इति **वाच्यम्**, प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवस्याऽदोषत्वात् ।

[नव्यमतानुसार अव्याप्यवृत्तिरूप कल्पना में गौरव-प्राचीन मत]

साम्प्रदायिक नैयायिकों का इस संदर्भ में कथन यह है कि अतिरिक्त चित्ररूप पक्ष में गौरव नहीं है, किन्तु अव्याप्यवृत्ति नीलादिरूपों की उत्पत्तिपक्ष में ही गौरव है । जैसे–इस पक्ष में अवच्छेद-कता सम्बन्ध से नीलादिरूप के प्रति समवायसम्बन्ध से नीलेतररूप को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है, अन्यथा पीतावयवावच्छेदेन भी अवयवी में नीलरूप की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा ।

यदि यह कहा जाय कि– "नील में स्वाश्रयावच्छेदेन ही नीलजनन का स्वभाव है । इसलिये पीतादिभाग में नीलोत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं हो सकता है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव माने बिना नीलादि में उक्तस्वभाव की सिद्धि ही नहीं हो सकती । यदि यह कहा जाय कि– "नील समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता ही है किंतु पीतभाग में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलो-त्पत्ति का कोई आपादक न होने से पीतभाग में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलोत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं हो सकता"– तो यह ठीक नहीं है क्योंकि समवाय जैसे कारण से नियम्य होता है उसी प्रकार अवच्छे-दकता भी कारणनियम्य होती है अतः यह कहना कि 'नील समवाय से ही उत्पन्न होता है' उचित नहीं है क्योंकि अवच्छेदकता सम्बन्ध से नील की उत्पत्ति न मानने पर अवयवी में उत्पन्न होने वाले नील रूप की नील अवयव में भी अवच्छेदकता न हो सकेगी । अतः इस स्थिति में जैसे अवच्छेदकता-सम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवायसम्बन्ध से नीलेतर रूपादि में प्रतिबन्धकता होती है उसीप्रकार, कोई विनिगमना न होने से अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलेतररूपादि के प्रति नीलादि में भी प्रतिबन्ध-कता सिद्ध होगी । इसलिये इस मत में दो प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव की कल्पना में गौरव है ।

चित्ररूपवादी के मत में यह गौरव नहीं हो सकता । क्योंकि उन के मत में समवाय से नीलादि के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलरूपादि ही प्रतिबन्धक होगा । किन्तु समवाय से नीलेतररूपादि के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलादि को प्रतिबन्धक मानने की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि इस दूसरी प्रतिबन्धकता को मानने पर नीलापीतारब्ध घट में नीलरूपत्व की

आपत्ति प्रसक्त होती है– वह इस प्रकार, नीलपीतारब्ध घट में चित्ररूपवादी के पक्ष में नीलादिरूप की उत्पत्ति तो होती ही नहीं है- होती है केवल चित्ररूप की उत्पत्ति, किन्तु उक्त प्रतिबन्धकता को मानने पर चित्ररूप नीलेतररूपत्वेन नील से प्रतिबध्य हो जाने के कारण न उत्पन्न हो सकेगा ।

[नव्यमत की ओर से गौरव का आपादान-पूर्वपक्ष]

नव्य नैयायिक : — साम्प्रदायिक नैयायिकों के मत में भी नीलत्वादि ही नीलेतररूपादि का प्रतिबध्यतावच्छेदक होगा, न कि नीलेतररूपत्वादि नीलादि का प्रतिबध्यतावच्छेदक । क्योंकि नीलत्वादि को प्रतिबध्यतावच्छेदक मानने की अपेक्षा नीलेतरत्वादि को प्रतिबध्यतावच्छेदक मानने में गौरव है । इस पर यदि साम्प्रदायिकों की ओर से यह प्रश्न किया जाय कि नीलत्व को प्रतिबध्यतावच्छेदक मानने पर नीलेतरत्व को प्रतिबन्धकतावच्छेदक मानना होगा और नीलेतरत्व को प्रतिबध्यतावच्छेदक मानने पर नीलत्व प्रतिबन्धकतावच्छेदक होगा अतः नीलत्व को प्रतिबन्धकतावच्छेदक मानने की अपेक्षा नीलेतरत्व को प्रतिबन्धकतावच्छेदक मानने में गौरव होने से नीलेतररूपादि के प्रति नीलत्वेन प्रतिबन्धकता वाला पक्ष ही उचित है"-तो साम्प्रदायिकों की यह उक्ति ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिबध्यतावच्छेदक का गौरव ही दोषरूप होता है, प्रतिबन्धकतावच्छेदक का गौरव दोषरूप नहीं, कारण जो प्रतिबध्यतावच्छेदक होता है वह प्रतिबन्धकाभाव का कार्यतावच्छेदक होता है । अतः प्रतिबन्धकाभावनिष्ठ कारणता जो कार्याऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तिअभावप्रतियोगित्वाभाव रूप है उस के प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में गुरुतरप्रतिबध्यतावच्छेदकरूप कार्यतावच्छेदक का प्रवेश करने से कारणता के शरीर में गौरव होगा, किन्तु प्रतिबन्धकतावच्छेदक के गुरु होने से प्रतिबन्धकतावच्छेदकावच्छिन्नाभावरूप प्रतिबन्धकाभाव के गुरुतरशरीरक होने पर भी कारणता के शरीर में उस का प्रवेश न होने से कारणता के शरीर में लाघव होगा ।

दूसरी बात यह है कि प्रतिबन्धकतावच्छेदकावच्छिन्नाभाव को गुरुशरीरक होने पर भी उसे तद्व्यक्तित्वरूप से कारण मानने में लाघव होगा । किन्तु प्रतिबध्यतावच्छेदक के गुरु होने पर कार्यकारणभाव में लाघव नहीं होगा क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव का कार्यतावच्छेदक गुरु होगा ।

अस्तु वाऽवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलादीनामेव हेतुत्वम् । न च नानारूपवत्कपालारब्धघटनीलस्य तत्कपालावच्छेदेनोत्पत्तिप्रसङ्गः, केवलनीलत्वादिनैव तद्धेतुत्वात् । समवायेन नीलादौ च स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलादीनां हेतुत्वम् । व्याप्यवृत्तिनीलस्थलेऽव्याप्यवृत्तित्ववारणाय चावच्छेदकतया नीलादौ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायित्वसंबन्धेन नीलेतररूपादीनां हेतुत्वम् , इत्यष्टादश कार्यकारणभावाः । चित्ररूपेऽप्येतावन्त एव, चित्ररूपे नीलेतररूपादिषट्कस्य, नीलादौ नीलादिषट्कस्य हेतुत्वात् , नीलादौ नीलेतरादिषट्कस्य प्रतिबन्धकत्वाच्चेति नाधिक्यम् ।

नव्य नैयायिक कहते हैं- अथवा अवयवी में उत्पन्न होने वाले अव्याप्यवृत्तिनीलादि की अवच्छेदकतासम्बन्ध से पीतादि भाग में उत्पत्ति का परिहार करने के लिये अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवायसम्बन्ध से नीलादि को कारण मान लेने से अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि के प्रति नीलेतरादि को प्रतिबन्धक मानने की आवश्यकता न होने से उक्तप्रतिबन्धकता की कल्पना

प्रयुक्त गौरव नहीं होगा। यदि इस पर यह शंका की जाय कि-'नीलपीतादि अनेकरूपवान् कपालों से उत्पन्न होनेवाले घट में जो अव्याप्यवृत्ति नीलरूप उत्पन्न होता है उसको अवच्छेदकता सम्बन्ध से कपाल में उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा क्योंकि उसमें भी नीलरूप समवायसम्बन्ध से विद्यमान है"– तो यह ठीक नहीं है-क्योंकि-अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति केवल नीलादि अर्थात् नीलेतर-रूपाभावविशिष्टनीलत्वादिरूप से कारण मान लेने पर उक्त दोष नहीं हो सकता। इस प्रकार अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवायसम्बन्ध से केवल नीलत्वादिरूप से छः कार्य-कारणभाव सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार नीलादिकपाल से अनारब्ध घट में समवायसम्बन्ध से नीलादि की उत्पत्ति की आपत्ति का परिहार करने के लिये समवायसम्बन्ध से नीलादि के प्रति स्व-समवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलादि को भी कारण मानना होगा। इसप्रकार ये कार्यकारणभाव भी छः होगा। एवं नीलादिकपालमात्र से आरब्ध घट में उत्पन्न होने वाले नील को उस घट के अवयवों में अवच्छेदकतासम्बन्ध से उत्पत्ति की आपत्ति रूप अव्याप्यवृत्तित्व का वारण करने के लिए अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति स्वसमवायिसमवेतद्रव्य समवायित्वसम्बन्ध से नीलेतररूपादि को कारण मानना होगा। ये भी छः कार्यकारणभाव हुए। इस प्रकार अव्याप्यवृत्ति नीलादि के उत्पत्ति पक्ष में १८ कार्यकारणभाव हुये। अब चित्ररूपवाद में देखिये—

चित्ररूपपक्ष में भी इतने ही कार्यकारणभाव होंगे जैसे-चित्ररूप में नीलेतर रूपादि के छः कार्यकारणभाव तथा समवाय से नीलादि के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलादि के छः कार्य-कारणभाव। तथा समवाय से नीलादि के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलेतरादि के प्रतिबन्धक होने से समवायसम्बन्ध से नीलादि के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलेतरादिरूपाभाव के छः कार्यकारणभाव हुये। इस प्रकार अव्याप्यवृत्तिनीलरूपादि की उत्पत्ति पक्ष में तथा अतिरिक्त चित्ररूप की उत्पत्ति पक्ष में कार्यकारणभाव की संख्या में साम्य होने से अतिरिक्त चित्ररूप की कल्पना में गौरव का उद्भावन असंगत है। यद्यपि ऐसा कह सकते हैं, तथापि—

वस्तुतोऽवच्छेदकतया नीलादावुक्तसंबन्धेन नीलेतररूपविशिष्टनीलत्वादिनैव हेतुत्वम्। न च नीलेतरत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति नीलविशिष्टनीलेतरत्वादिना हेतुत्वे विनिगमकाभावः, नीलत्वा-पेक्षया नीलेतरत्वस्य गुरुत्वात्। एतेन 'उक्तसंबन्धेन नीलेतरादेर्नीलादिकं प्रति हेतुत्वम्, नीला-दीनां नीलेतरादिकं प्रति वा इति विनिगमनाविरहाद् द्वादश कार्यकारणभावापत्तिः' इत्यपा-स्तम्। इत्थं चातिनिष्कर्षादस्माकं द्वादशैव कार्यकारणभावाः, तव त्वष्टादशेति चेत्। न, ममापि नीलादौ नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्वेनैव शुक्लावयवमात्रारब्धे नीलाद्यनुत्पत्तिनिर्वाहात्, नीलादौ नीलादिहेतुत्वाऽकल्पनात् कार्यकारणभावसंख्यासाम्यात्, अव्याप्यवृत्तिनानारूपतत्प्राग-भावध्वंसादिकल्पनागौरवस्य च तवाधिकत्वात्।

[अन्ततः अव्याप्यवृत्ति नीलादि पक्ष में लाघव–पूर्वपक्ष चालु]

इस पर अव्याप्यवृत्तिनीलादिवादी का कथन यह है कि इस मत में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय से नीलादि की कारणता है और अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायित्वसम्बन्ध से नीलेतररूपादि की कारणता है इन दोनों का परित्याग

कर उनके स्थान में अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रतिस्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायित्व-घटित सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से नीलेतररूपविशिष्ट नीलत्वादिरूपेण एक ही कारणता माननी योग्य है। इसके विरुद्ध यह विनिगमनाऽभाव का उद्भावन किया जाय कि-नीलेतरत्वाद्यवच्छिन्न के प्रति उक्त सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से नीलविशिष्ट नीलेतरत्वादिरूप से कारणता को लेकर विनिगमनाविरह होगा-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि नीलत्व की अपेक्षा नीलेतरत्व गुरुभूत धर्म है, अतः यह कारणता स्वीकार्य नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि-"व्याप्यवृत्तिनीलस्थल में नीलरूप के अव्याप्यवृत्तित्व का वारण करने के लिये, अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि के प्रति स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायित्व सम्बन्ध से नीलेतर रूपादि कारण है यह मानें-अथवा अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलेतरादि के प्रति स्वसमवा-यिसमवेतद्रव्यसमवायित्व सम्बन्ध से नीलादि को कारणता है यह मानें-इन दो पक्ष में विनिगमना न होने से दोनों को मानना पड़ेगा तो व्याप्यवृत्ति नील के अव्याप्यवृत्तित्व वारक कार्यकारणभाव बारह हो जायेंगे। अतः अव्याप्यवृत्ति नीलादिवादी के मत में २४ कार्यकारणभाव की आपत्ति होगी"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि नीलत्वादि की अपेक्षा नीलेतरत्वादि गुरु होने से नीलादि के प्रति नीलेतर-रूपादि की कारणता ही मान्य होगी। तथा उक्त रीति से प्रथम और तृतीय कार्यकारणभाव के स्थान में एक ही कार्यकारणभाव मान लेने से अव्याप्यवृत्तिनीलादिवादी के मत में केवल १२ ही कार्य कारण भाव होगा, किन्तु चित्ररूपवादी मत में उक्त १८ कार्यकारणभाव आवश्यक होने से उस मत में गौरव अपरिहार्य है।

[गौरव के विरुद्ध साम्प्रदायिक चित्ररूपवादी का उत्तरपक्ष]

इस पर चित्ररूपवादी का यह कहना है कि चित्ररूपपक्ष में चित्रपट में नीलादि की उत्पत्ति का परिहार करने के लिये समवाय से नीलादि के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलेतरादि की प्रतिबन्धकता मानी जाती है उसी से शुक्लअवयव मात्र से आरब्ध अवयवी में नीलादि उत्पत्ति की आपत्ति का भी परिहार हो जायगा। अतः समवाय से नीलादि के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलादि को कारण मानने की आवश्यकता नहीं होगी। अतः चित्ररूपवादी के मत में भी कार्यकारण-भाव की संख्या समान हो जायगी। अतः चित्ररूपवादी के पक्ष में कार्यकारणभाव कल्पना के आधिक्य का गौरव नहीं दिया जा सकता, बल्कि अव्याप्यवृत्ति नीलादि की उत्पत्ति पक्ष में बहुत गौरव होगा-जैसे, नानारूपवान् अवयवों से आरब्ध अवयवी में अव्याप्यवृत्ति नानारूप और उस के प्रागभाव एवं ध्वंस आदि की कल्पना में अत्यधिक गौरव है अतः नानारूपवत् अवयवों से उत्पन्न होने वाले अवयवी द्रव्य में अव्याप्यवृत्ति नानारूप की उत्पत्ति मानने की अपेक्षा उस में एक अतिरिक्त चित्ररूप की उत्पत्ति मानने का पक्ष ही युक्तिसंगत है।

किञ्च, अव्याप्यवृत्तिरूपपक्षेऽवच्छेदकतासंबन्धेन रूपे उत्पन्ने पुनस्तेनैव संबन्धेनावयवे रूपोत्पत्तिवारणायावच्छेदकतासंबन्धेन रूपं प्रत्यवच्छेदकतासंबन्धेन रूपं प्रतिबन्धकं कल्पनीय-मिति गौरवम्। न चाऽवयविनि समवायेनोत्पद्यमानमेवावयवेऽवच्छेदकतयोत्पत्तुमर्हतीत्यवयविनि रूपस्य प्रतिबन्धकस्य सत्त्वेन रूपसामग्र्यभावादेव नावयवेऽवच्छेदकतया तदा रूपोत्पत्त्यापत्ति-रिति वाच्यम्, एवं ह्यवयविनिष्ठरूपाभावोऽवच्छेदकतासंबन्धेन रूपं प्रति हेतुर्वाच्यः, तथा च

नानारूपवत्कपालारब्धघटस्य नीलरूपादेर्नीलकपालिकावच्छेदेनानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तदवयविनि कपाले रूपसत्त्वात् । अपि च, नीलपीतवत्यग्निसंयोगात्, कपालनीलनाशात् तदवच्छेदेन रक्तं न स्यात्, समवायेन रूपं प्रति तेन रूपस्य प्रतिबन्धकत्वात्, तदवच्छिन्नरूपे तदवच्छिन्नरूपस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने चातिगौरवम् ।

[अव्याप्यवृत्तिरूप वादी नव्यमत में विशेष गौरव]

रूप के अव्याप्यवृत्तित्व पक्ष में अवच्छेदकतासम्बन्ध से रूप उत्पन्न हो जाने के बाद पुनः उसी सम्बन्ध से अवयव में रूप की उत्पत्ति का वारण करने के लिये अवच्छेदकतासम्बन्ध से रूप के प्रति अवच्छेदकता सम्बन्ध से रूप को प्रतिबन्धक मानना ही होगा अतः रूप के अव्याप्यवृत्तित्व पक्ष में प्रतिबन्धकता की इस कल्पना का गौरव है । यदि यह कहा जाय कि–"जो रूप अवयवी में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वही अवयव में अवच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पन्न होता है । अतः अवयवी में समवाय से रूपोत्पादकसामग्री अवयव में अवच्छेदकता सम्बन्ध से रूपोत्पत्ति में अपेक्षित होती है । इसलिए अवयवीगतरूप जब अवच्छेदकता सम्बन्ध से अवयव में उत्पन्न हो जाता है तब उस समय अवयवी में समवाय से रूपोत्पादक सामग्री नहीं रहती, क्योंकि समवाय से रूप के प्रति समवाय से रूप की प्रतिबन्धकता क्लृप्त है । अतः उक्त सामग्री के अभाव से ही अवयव में अवच्छेदकता सम्बन्ध से रूपोत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती । अतः अवच्छेदकता सम्बन्ध से रूप के प्रति अवच्छेदकतासंबन्ध से रूप को पृथक् प्रतिबन्धक मानने की आवश्यकता न होने से उक्त गौरव नहीं हो सकता ।"–सो यह ठीक नहीं है क्योंकि अवयविनिष्ठरूप को प्रतिबन्धक मानने पर अवयविनिष्ठरूपाभाव को भी अवच्छेदकता सम्बन्ध से रूप के प्रति कारण मानना होगा । फलतः नील-पीत कपाल द्वय से उत्पन्न घट में नीलकपालिकावच्छेदेन नीलरूप की अनुत्पत्ति का प्रसंग होगा, क्योंकि नीलकपालिका के अवयवी कपाल में रूप विद्यमान रहता है । इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि नील-पीत उभयरूपवान् घट में अग्निसंयोग से कपाल के नील का नाश होने पर तत्कपालावच्छेदेन घट में रक्तरूप की उत्पत्ति न हो सकेगी क्योंकि समवाय से रूप के प्रति समवाय से रूप प्रतिबन्धक होता है, अतः उक्त घट में पीतकपालावच्छेदेन पीतरूप रहने से समवाय से रूप की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? यदि इस आपत्ति के परिहार के लिये तदवच्छिन्न रूप के प्रति तदवच्छिन्नरूप को प्रतिबन्धक माना जायगा तो प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की अवच्छेदक कुक्षि में अवच्छेदकविशेष का निवेश करने से अवच्छेदकभेद से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव बाहुल्य प्रयुक्त महान् गौरव होगा ।

अथावच्छिन्ननीलादौ नीलाभावादिघटकमवयवगतमवयविगतं च हेतुः, रक्तनीलारब्धे रक्तनाशकपाकेन व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिदशायां चावयविनि न नीलाभावः, इति न तत्रावच्छिन्ननीलोत्पत्तिः नीलमात्रारब्धे पाकेन क्वचिद्रक्तरूपोत्पत्तौ च प्राक्तननीलनाशादेवावच्छिन्ननीलोत्पत्तिरिति चेत् ? न, नील-पीत-श्वेताद्यारब्धे श्वेताद्यवच्छेदेन नीलजनकपाके सति प्राक्तननीलनाशेन तत्तदवच्छिन्ननानानीलकल्पनापेक्षयैकचित्रकल्पनाया एव लघुत्वात् ।

अथ व्याप्यवृत्तिरूपस्याप्यवच्छेदकस्वीकारादवच्छेदकतया नीलादिकं प्रत्येव समवायेन नीलादेर्हेतुत्वम् । न चैवं घटेऽपि तया नीलाद्यापत्तिः, अवयवनीलत्वेन द्रव्यविशिष्टनीलत्वेन

वा तद्धेतुत्वात् । न च नीलमात्र-पीतमात्रकपालिकाद्वयारब्धनीलपीतकपाले तदापत्तिः, नीलकपालिकावच्छिन्नतदवच्छेदेन तदुत्पत्तेरिष्टत्वात् । अस्तु वा तया नीलादौ नीलेतररूपादेरेव विरोधित्वमिति चेत् ? न, नीलादौ नीलेतररूपादिप्रतिबन्धकतयैवोपपत्तौ तत्र नीलादिहेतुतायां मानाभावेन नानारूपवदवयवारब्धे चित्ररूपस्यैव प्रामाणिकत्वात् , व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकाऽयोगात्, नीलेतरादौ नीलादेः प्रतिबन्धकत्वेऽविनिगमाच्च ।

[अवच्छेदकतासम्बन्ध से पुनः रूपोत्पत्ति के वारण की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि- 'अवच्छिन्नता सम्बन्ध से उत्पन्न रूप की अवच्छिन्नता सम्बन्ध से पुनः उत्पत्ति का वारण करने के लिये उक्त प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव न मान कर यह कार्यकारणभाव मानना उचित है कि अवच्छिन्न नील की उत्पत्ति में अवयव और अवयवी में निरवच्छिन्नविशेषणता-सम्बन्ध से नीलाभाव कारण है । एवं इसीप्रकार अवच्छिन्नपीतादि की उत्पत्ति में अवयवी में और अवयव में पीतादि का अभाव कारण है तो उक्त आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अवच्छिन्नतासम्बन्ध से पुनः उत्पत्ति होगी तो वह अवच्छिन्ननील की उत्पत्ति ही होगी और अवच्छिन्ननील की उत्पत्ति में अवयवावयवी में नीलाभाव अपेक्षित है किन्तु अवच्छिन्नता सम्बन्ध से उत्पन्न नील के अवयवी में नीलाभाव नहीं रहता । एवं रक्त और नील कपाल से आरब्ध घट में रक्तनाशक अग्निसंयोग होने पर व्याप्यवृत्तिनील की उत्पत्ति होती है, अवच्छिन्न नील की उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि अवयवी में नीलाभाव नहीं रहता । एवं नीलकपालमात्र से उत्पन्न घट में पाक से एक कपाल में रक्तरूप की उत्पत्ति होने पर उस घट में अवच्छिन्न नील की उत्पत्ति होती है । अतः उस के पूर्व प्राक्तन नील का नाश मानना आवश्यक होता है अन्यथा अवयवी में नीलाभाव न रहने पर अवच्छिन्ननील की उत्पत्ति नहीं होती'-

[एक चित्ररूप पक्ष में ही लाघव]

तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि नीलपीत और श्वेत कपाल से उत्पन्न घट में श्वेतकपाल में नीलजनक पाक होने पर उस घट में एक कपाल के पीत होने से व्याप्यवृत्ति नील की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती और अवच्छिन्न नील की उत्पत्ति भी तब तक नहीं हो सकती जब तक पूर्व नील का नाश न माना जाय । क्योंकि पूर्वनील के रहते हुये अवयवी में निरवच्छिन्ननीलाभावस्वरूप कारण का संनिधान न होगा । अतः पूर्वनील का नाश होकर नीलकपालावच्छेदेन तथा पाक से नीलीभूत श्वेत-कपालावच्छेदेन, नील की उत्पत्ति माननी होगी- तो इस प्रकार विभिन्नकपालावच्छेदेन विभिन्ननील-रूप की कल्पना करने की अपेक्षा एक चित्ररूप की उत्पत्ति मानने में लाघव है ।

[व्याप्यवृत्तिरूप में सावच्छिन्नत्व की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि-"व्याप्यवृत्तिरूप का भी अवच्छेदक होता है, इसलिये अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय से नीलादि कारण होता है । यहां यह नहीं कह सकते कि-'ऐसा कार्यकारणभाव मानने पर घट में उत्पन्न होनेवाले नीलरूप की घट में भी अवच्छेदकतासम्बन्ध से उत्पत्ति की आपत्ति होगी, क्योंकि अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय से अवयवनीलत्वेन, अथवा स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से द्रव्यविशिष्टनीलत्वेन नील को कारण मानने से वह दोष नहीं

लग सकता। यदि यह कहें कि–'नीलमात्र और पीतमात्र रूप से विशिष्ट कपालिकाद्वय से जो नील-पीत कपाल उत्पन्न होता है उसमें अवच्छेदकतासम्बन्ध से तत्कपालगतनीलरूप की आपत्ति होगी। क्योंकि–तत्कपालगतरूप अवयवरूप होने से कारण हो सकता है'–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि–नील-कपालिकाविशिष्टतत्कपालावच्छेदेन तत्कपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से तत्कपालगतनीलरूप की उत्पत्ति इष्ट है। यदि कहें तत्कपालगतनीलरूप में नीलकपालिकाविशिष्ट तत्कपालावच्छेद्यत्व अनुभवविरुद्ध है तो अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवायसम्बन्ध से नीलेतररूपादि को विरोधी मानकर उक्त आपत्ति का परिहार हो सकता है।"

[व्याप्यवृत्ति रूप में सावच्छिन्नत्व की आशंका का परिहार]

किन्तु विचार करने पर व्याप्यवृत्तिरूप के अवच्छेदक का अभ्युपगम कर अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय से नीलादि को कारण मानना उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि-जब उक्त नीलपीतकपाल में अवच्छेदकता सम्बन्ध से तत्कपालगतरूप को उत्पत्ति की आपत्ति का परिहार करने के लिये अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि में समवाय से नीलेतररूपादि को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक ही है तब अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय से नीलादि को कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं बच जाता।

इस पर यदि यह कहें कि-'उक्त कार्यकारणभाव न मानने पर नीलपीतकपाल से उत्पन्न घट में उत्पन्न होने वाले नीलरूप की नीलकपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से उत्पत्ति न हो सकेगी क्योंकि अव-च्छेदकतासम्बन्ध से नीलरूप का कोई कारण नहीं है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि नीलपीतकपालारब्ध घट में नील-पीत दो रूपों की उत्पत्ति मानने की अपेक्षा लाघव से एक चित्ररूप की उत्पत्ति मानना ही प्रामाणिक है तथा व्याप्यवृत्ति का अवच्छेदक होने में कोई युक्ति न होने से नीलकपालमात्र से उत्पन्न होने वाले घटनिष्ठ नीलरूप की भी नीलकपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से उत्पत्ति के अनुरोध से उक्त कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता और जब अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि के प्रति कोई कारण नहीं है, तब अवच्छेदकतासम्बन्ध से नीलादि के प्रति नीलेतररूपादि को प्रतिबन्धक मानने की भी आवश्यकता नहीं है। यदि व्याप्यवृत्ति का अवच्छेदक मान कर अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवाय सम्बन्ध से नीलादि की कारणता मानी जायगी और नीलमात्र एवं पीतमात्र कपालि-काद्वय से उत्पन्न नीलपीतकपाल में अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलोत्पत्ति का परिहार करने के लिये समवाय से नीलेतर रूप को प्रतिबन्ध माना जायगा तो अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलेतरादिरूप के प्रति समवायसम्बन्ध से नीलादि की प्रतिबन्धकता के साथ विनिगमनाविरह होगा। अतः उचित यही है कि व्याप्यवृत्ति का अवच्छेदक न माना जाय और नीलपीतादि कपालों से उत्पन्न घट में नीलपीतादि की उत्पत्ति न मान कर एक चित्ररूप की ही उत्पत्ति मानी जाय। और अवच्छेदकता सम्बन्ध से नीलादि के प्रति समवायसम्बन्ध से नीलादि की कारणता का परित्याग कर दिया जाय।

यदि च स्वाश्रयसंबन्धेन नीलं प्रति स्वव्यापकसमवायेन नीलरूपं हेतुरुपेयते, नीलपीताद्यारब्धस्थले च स्वाश्रयसंबन्धेन नीलरूपस्य पीतकपालेऽपि संभवेन व्यभिचाराद् स्वसंबन्धेन हेत्वभावादेव न तत्र नीलोत्पत्तिरिति विभाव्यते, तदा नीलं प्रति नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकत्वं चित्ररूपत्वादिना न कल्पनीयमित्यतिलाघवम्। एवं च 'सामानाधिकरण्यसंबन्धाऽवच्छिन्नप्रति-

योगिताको नीलेतराऽभावः समानावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या नीलहेतुः' इत्यपि निरस्तम्, सामानाधिकरण्यस्य व्याप्यवृत्तित्वाच्च' इत्याहुः ।

['प्रतिबन्धकता की कल्पना न करने से लाघव'-चित्ररूपवादी]

इस पर यदि यह शंका की जाय कि-'नीलपीतादि कपालों से उत्पन्न घट में चित्ररूप की उत्पत्ति मानने पर नीलपीतादि रूप की उत्पत्ति की भी आपत्ति होगी क्योंकि समवाय सम्बन्ध से नीलपीतादि के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलपीतादि कारण होता है । अतः इस आपत्ति का परिहार करने के लिये समवायसम्बन्ध से नीलादि के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलेतरादिरूप को प्रतिबन्धक मानना होगा और विनिगमनाविरह से समवाय से नीलेतरादि के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलादि को भी प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा ।'

तो इस का उत्तर यह है कि नीलआदिरूप जब समवाय से उत्पन्न होता है तब वह स्वाश्रयसम्बन्ध से अपने आश्रयभूतद्रव्य के अवयव में भी उत्पन्न होता है, जैसे,-नीलकपाल मात्र से उत्पन्न घट में जब समवाय से नीलरूप उत्पन्न होता है तब वह स्वाश्रय सम्बन्ध से नीलकपाल में भी उत्पन्न होता है । अतः समवाय से नीलरूप की उत्पत्ति में, स्वाश्रय सम्बन्ध से नील के प्रति स्वव्यापक समवाय अर्थात्- स्व है व्यापक जिस का ऐसा समवाय यानी स्वविशिष्ट समवाय सम्बन्ध से कारणभूत नील रूप का भी संनिधान अपेक्षित होता है । फलतः नीलपीतकपाल से आरब्ध होने वाले घट में समवायसम्बन्ध से नीलरूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि यदि उस घट में नीलरूप उत्पन्न होगा तो स्वाश्रयसम्बन्ध से नीलरूप के प्रति स्वविशिष्ट समवायसम्बन्ध से नीलरूप की कारणता में व्यभिचार हो जायगा क्योंकि नीलपीतारब्धघटनिष्ठ नीलरूप स्वाश्रयसम्बन्ध से पीत कपाल में भी रहेगा किन्तु उस में स्वव्यापकसमवाय से नीलरूप नहीं रहता । अतः उक्त स्थल में स्वाश्रयसम्बन्ध से नीलरूप के उत्पादक नीलरूप का अभाव होने से समवाय से नीलपीतारब्ध घट में नीलरूप की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं हो सकता । इसलिये चित्ररूपवादी के मत में समवायसम्बन्ध से नीलादि के प्रति स्वसमवायि समवेतत्व सम्बन्ध से नीलेतरादिरूप को प्रतिबन्धक मानने की भी आवश्यकता न होने से चित्ररूपवाद में महान् लाघव है ।

[व्याप्यवृत्ति पदार्थ निरवच्छिन्न होता है]

कुछ लोग-नीलपीतारब्ध घट में उत्पन्न होनेवाले नीलरूप की पीत कपाल में अवच्छेदकतासम्बन्ध से उत्पत्ति का परिहार करने के लिये अवच्छेदकता सम्बन्ध से नील के प्रति सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलाभाव को अवच्छेदकता सम्बन्ध से कारण मानते हैं । नीलपीत कपाल से उत्पन्न होने वाले घट में नीलरूप में नीलेतर रूपाभाव का सामानाधिकरण्य नील कपालावच्छेदेन होता है, पीतकपालावच्छेदेन नहीं होता है । अत एव उक्त घटगत नीलरूप में जो नीलेतररूप का सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव, उस की अवच्छेदकता पीत कपाल में न होकर नीलकपाल में ही होती है, अतएव उक्त घट में नीलकपालावच्छेदेन नील की उत्पत्ति होती है, पीतकपालावच्छेदेन नहीं होती है ।- किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि सामानाधिकरण्यव्याप्यवृत्ति होता है, अत एव सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलेतराभाव भी व्याप्यवृत्ति ही होगा और व्याप्यवृत्ति का अवच्छेदक होने में कोई प्रमाण नहीं है, अतः

सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलेतराभाव को अवच्छेदकता सम्बन्ध से कारण मानना असम्भव है।

केचित्तु—'विजातीयचित्रं प्रति स्वविजातीयत्व-स्वसंवलितत्वोभयसंबन्धेन रूपविशिष्टरूपत्वेनैव हेतुत्वम्। स्ववैजात्यं च चित्रत्वातिरिक्तं यत्स्ववृत्ति तद्भिन्नधर्मसमवायित्वम्। स्वसंवलितत्वं च स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वम्। न च स्वत्वाननुगमः, संबन्धमध्ये तत्प्रवेशात्' इत्याहुः।

[विजातीय चित्र के प्रति रूपकारणता में विशेष मत]

कुछ लोगों का कहना है कि, विजातीयचित्र अर्थात् रूपमात्रजन्य चित्र के प्रति स्वविजातीयत्व-स्वसंवलितत्व उभयसम्बन्ध से रूपविशिष्टरूप कारण है। इन सम्बन्धों में 'स्वविजातीयत्व' का अर्थ है चित्रत्वभिन्न स्ववृत्ति धर्मों से भिन्न धर्म का समवायसम्बन्ध से आश्रयत्व, और दूसरे 'स्वसंवलितत्व' सम्बन्ध का अर्थ है स्व के समवायसम्बन्ध से आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले द्रव्य का जो समवाय सम्बन्ध से आश्रय, उस में वृत्तित्व। जैसे यदि किसी घट की उत्पत्ति नील और पीत कपाल से होती है तो उस घट में विजातीयचित्र की उत्पत्ति होती है। क्योंकि, कपालगत पीतरूप कपालगतनीलरूप से विशिष्ट हो जाता है। जैसे स्वपद से कपालगत नीलरूप, उस में वृत्ति चित्रत्वभिन्न धर्म नीलत्व-रूपत्व आदि। उससे भिन्न पीतत्व रूप धर्म का समवाय से आश्रयत्व अन्य कपालगत पीतरूप में है। इसी प्रकार दूसरे सम्बन्ध में स्व का अर्थ है-कपालगतनीलरूप, उसका समवाय से आश्रय नीलकपाल, उसमें समवाय से रहने वाला द्रव्य घट, उसका समवाय से आश्रय पीतकपाल-उसमें पीतत्व वृत्ति है। इस प्रकार उक्त दोनों सम्बन्धों से रूपविशिष्टरूप स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से घट में विद्यमान है। अतः इस घट में रूपमात्रजन्य विजातीय चित्ररूप की उत्पत्ति निर्बाध है। इस में यदि यह शंका की जाय कि-"स्वत्व प्रतिव्यक्ति वृत्ति होने के कारण अननुगत होता है अतः उक्त सम्बन्धों में विजातीय चित्र की उत्पत्ति न हो सकेगी।"-तो इस शंका के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि स्वत्व का प्रवेश प्रकार या विशेष्य दल में करने पर ही अननुगम दोष होता है किन्तु प्रकृत में स्वत्व का प्रवेश सम्बन्ध के शरीर में है अतः अननुगम दोष नहीं हो सकता क्योंकि सम्बन्ध के शरीर में स्वत्व का प्रवेश केवल परिचायकरूप में होता है, विशेषणरूप में नहीं होता, कारण यह कि सम्बन्ध द्वारा जिसका वैशिष्ट्य विवक्षित होगा वही सम्बन्ध के पूर्वभाग से स्वभावतः जुटता है।

परे तु—'नीलपीतोभयाभाव-पीतरक्तोभयाभावादीनां स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकानां, समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां च विजातीयविजातीयपाकोभयाभावादीनां यावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एकोऽभावश्चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुः' इत्याहुः।

[चित्ररूप के प्रति अभाव कारणतावादी विद्वानों का मत]

अन्य विद्वानों का कहना है कि-नीलपीत एवं पीतरक्त आदि स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से जिस में रहते हैं उसमें चित्ररूप की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जिस में विजातीयरूप जनक

विजातीयपाक समवाय सम्बन्ध से रहता है अथवा विजातीयरूप और विजातीयरूपान्तरजनकपाक समवायसम्बन्ध से रहता है उसमें भी चित्ररूप की उत्पत्ति होती है। जैसे नीलकपालद्वय से उत्पन्न घट में विभिन्न अवयवावच्छेदेन विजातीयरूप द्वय का जनकपाक होने पर रक्त घट की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार नीलकपालद्वयजन्य घट में किसी एक कपाल अवच्छेदेन विजातीयरूप जनक पाक का संनिधान होने पर भी चित्ररूप की उत्पत्ति होती है। इन सब स्थिति के संग्रह के लिये स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलपीतोभयाभाव, पीतरक्तोभयाभाव आदि अभाव, एवं समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक विजातीयविजातीयपाकोभयाभाव, इन सब अभावों का जो स्वरूप-सम्बन्ध से यावत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव, वही एक अभाव सर्वत्र चित्रत्वावच्छिन्न के प्रति कारण है। इसका आशय यह है कि जहां ये समस्त अभाव होंगे वहाँ यावतअभाव का अभाव न होने से कारण का बाध होने से चित्ररूप की उत्पत्ति न होगी। जहाँ इन अभावों में कोई एक अभाव न होगा जैसे नीलपीतकपाल से घटोत्पत्तिस्थल में घट में स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नील-पीतो-भयाभाव नहीं होता अतः वहाँ उक्त सभी अभावों का यावत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव होने से चित्ररूप की उत्पत्ति होने में कोई बाधा नहीं होती।

'रूपत्वेनैव चित्रं प्रति हेतुत्वम्, कार्यसहभावेन चित्रेतराभावस्य हेतुत्वेनातिप्रसङ्गात्' इत्यन्ये। **परे** तु-'चित्रत्वावच्छिन्ने रूपत्वेनैव हेतुत्वम्, नील-पीतोभयारब्धवृत्तिचित्रत्वा-वान्तरवैलक्षण्यावच्छिन्ने च नीलत्वेन पीतत्वेन च हेतुता, एवं त्रितयारब्धे तत्त्रितयत्वेन, नील-पीतोभयादिमात्रारब्धे च नील-पीतान्यतरादीतररूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वाद् न त्रितयारब्धचित्रवति द्वितयारब्धचित्रप्रसङ्गः। न चैवं गौरवम्, प्रामाणिकत्वात्। वस्तुतः समवायेन द्वितयजचित्रादौ स्वाधिकरणपर्याप्तद्वित्विकत्वसंबन्धेनैव द्वितयादीनां हेतुत्वम्, नातः प्रागुक्तप्रतिबन्धकत्वकल्पना-गौरवम्' इत्याहुः।

[चित्रेतररूपाभावकारणतावादी मतविशेष]

दूसरे विद्वानों का मत है कि समवाय से चित्र के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से रूप-त्वेन रूपसामान्य ही कारण है। ऐसा कार्यकारणभाव मानने पर नीलकपालद्वय से उत्पन्न घट में नीलरूप के साथ चित्ररूप की उत्पत्ति की आशंका नहीं की जा सकती क्योंकि चित्ररूप के प्रति चित्रे-तररूपाभाव भी कार्यसहभावेन कारण है। नीलकपालद्वयारब्ध घट में चित्रोत्पत्ति के आपत्ति-क्षण में चित्रेतर नीलरूप विद्यमान होने से चित्रेतराभाव रूप कारण के अभाव से चित्रोत्पत्ति का अतिप्रसङ्ग नहीं हो सकता।

[भिन्न-भिन्न चित्ररूप की विभिन्न कारणतावादी अन्य मत]

अन्य विद्वानों का मत है कि-यह ठीक है कि चित्रसामान्य के प्रति रूपत्वेन रूपसामान्य कारण है किन्तु सभी चित्र समान नहीं होता। जैसे नीलपीतकपाल से उत्पन्न घट के चित्रत्व में और रक्तश्वेत कपाल से उत्पन्न घट के चित्रत्व में एवं नीलपीतरक्तश्वेतादिकपाल से उत्पन्न घट के चित्रत्व में वैलक्षण्य लोकानुभवसिद्ध है। अतः नीलपीतोभयारब्धघटवृत्ति चित्रत्वव्याप्यचित्रत्वावच्छिन्न के प्रति नील और पीतरूप को नीलत्वेन-पीतत्वेन कारणता है। एवं नीलपीतरक्तत्रितय से आरब्धघट में

चित्रत्वव्याप्यचित्रत्वावच्छिन्न के प्रति नीलपीतरक्त को नीलत्व-पीतत्व-रक्तत्व रूप से पृथक्-पृथक् कारणता है। प्रश्न हो सकता है कि नील-पीत-रक्त त्रितयारब्ध घट में नील-पीत उभय से उत्पन्न होने वाला चित्ररूप भी क्यों नहीं उत्पन्न होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि नीलपीतउभयादि-मात्रारब्ध चित्ररूप में नीलपीतान्यतरादि से भिन्न (रक्तादि) प्रतिबन्धक है।

यद्यपि इस मत में गौरव प्रतीत होता है, क्योंकि चित्रत्वव्याप्य अनेक चित्रत्व की कल्पना होती है किन्तु यह गौरव प्रामाणिक होने से दोषरूप नहीं है। प्रामाणिक इसलिये है कि उभयमात्रज और उभयाधिकरूपज चित्र रूपों में विलक्षणता लोकानुभवसिद्ध है। यदि त्रितयारब्धचित्ररूप के आश्रय में द्वितयारब्धचित्र के प्रति उक्त प्रतिबन्धकता की कल्पना के गौरव का परिहार ही अभीष्ट हो तो समवायसम्बन्ध से विजातीयरूपद्वयजन्यचित्रादि के प्रति विजातीय रूपद्वय को स्वाधिकरण-पर्याप्तवृत्तिकत्व-सम्बन्ध से कारण मान लेना चाहिये। ऐसा मानने पर त्रितयारब्ध चित्ररूप के आश्रय भूतघट में द्वितयारब्धचित्ररूप की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त घट तीनरूपवाले तीन कपालों में पर्याप्तिसम्बन्ध से वृत्ति होता है। अतः उस घट में रूपद्वय का स्वाधिकरण-पर्याप्त-वृत्तिकत्व सम्बन्ध बाधित है। अत एव स्वाधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्व सम्बन्ध से रूपद्वय को तदुभयजन्य चित्र के प्रति कारण मानने पर उक्त आपत्ति नहीं हो सकती। यद्यपि यथाश्रुत में यह कार्यकारणभाव उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि यदि स्वाधिकरणपर्याप्तिवृत्तिकत्वसम्बन्ध से प्रत्येकरूप को नीलत्व-पीतत्वादि रूप से कारण माना जायगा तो नील-पीतकपालारब्ध घट में नील-पीत किसी का भी स्वा-धिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्व सम्बन्ध न होने से नीलपीतोभयज चित्र की उत्पत्ति न हो सकेगी। यदि नीलपीतोभय को उभयत्वेन कारण माना जायगा तो स्वाधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्व उसका व्यधिकरण सम्बन्ध हो जायगा। क्योंकि नीलपीतोभय का समवायसम्बन्ध से कोई भी एक अधिकरण नहीं होता अतः इसका तात्पर्य यह मानना होगा कि नीलपीतउभयमात्रज चित्ररूप में नीलत्व-पीतत्व गत द्वित्व स्वाश्रयाधिकरण-पर्याप्तवृत्तिकत्व सम्बन्ध से कारण है। नीलत्व-पीतत्वगत द्वित्व का यह सम्बन्ध नील-पीतकपालारब्ध घट में अक्षुण्ण है। किन्तु नीलपीतरक्तकपालारब्ध घट में नहीं है अतः नील-पीतकपालमात्रारब्ध घट में चित्रोत्पत्ति की अनुपपत्ति और नीलपीतरक्तकपालारब्ध घट में नील-पीतोभयमात्रजन्य चित्रोत्पत्ति की प्रसक्ति नहीं होगी।

उच्छृङ्खलास्तु 'नील-पीत-रक्ताद्यारब्धघटादौ नील-पीत-रक्तादिभ्य एव नील-पीतोभय-पीतरक्तोभयजत्रितयजादिचित्राणामुत्पत्तिः, सर्वेषां सामग्रीसत्त्वात्। न चैकमेव तदस्त्विति वाच्यम्, तत्तदवयवद्वयमात्रावच्छेदेनेन्द्रियसंनिकर्षे विलक्षणचित्रोपलम्भात्, जातेरव्याप्यवृत्तित्वे पुनरस्त्वेकमेव तत्, किञ्चिदवच्छेदेन तत्र नीलत्व-पीतत्व-रक्तत्वविलक्षणचित्रत्वादिसंभवात्' इत्याहुः।

[अनेक चित्ररूप सहोत्पत्तिवादी उच्छृङ्खलमत]

किसी भी साम्प्रदायिक शृंखला में बद्ध न होने वाले कतिपय विद्वानों का यह कहना है कि नीलपीतरक्तआदि कपालों से उत्पन्न घट में नीलपीतरक्तत्रितयजन्य, नीलपीतोभयजन्य और रक्तपीतो-भयजन्य एवं रक्तनीलोभयजन्य इन सभी चित्र रूपों की उत्पत्ति होती है क्योंकि उक्तघट में इन चित्र रूपों की उत्पादक सामग्री विद्यमान है। उक्त घट में किसी एक ही चित्ररूप की उत्पत्ति नहीं मानी

जा सकती क्योंकि भिन्न-भिन्न अवयवद्वयमात्रावच्छेदेन इन्द्रिय-संनिकर्ष होने पर भिन्न-भिन्न चित्ररूप का उपलम्भ होता है। किन्तु यदि जाति को अव्याप्यवृत्ति माना जाय तो उन सभी जातियों से अर्थात् नीलत्व-पीतत्व-रक्तत्व आदि अव्याप्यवृत्ति जाति से आश्लिष्ट एक चित्र की उत्पत्ति मानी जा सकती है। क्योंकि एक रूप में अवच्छेदकभेद से उन सभी जातियों का समावेश हो सकता है।

परेतु-'तत्र व्याप्यवृत्तीन्येव नील-पीतादीन्युत्पद्यन्ते, नीलादिकं प्रति नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्व-नीलाभावादिकारणत्वकल्पनापेक्षया व्याप्यवृत्तिनीलपीतादिकल्पनाया एव न्याय्यत्वात्' इत्याहुः। तन्नेत्यन्ये-नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे पीतादेरुपलम्भापत्तेः, नीलाद्यवयवावच्छेदेन संनिकर्षस्य नीलादिग्राहकत्वकल्पने च गौरवात्।

[व्याप्यवृत्ति नीलपीतादि उत्पत्तिवादी अन्य मत]

कतिपय अन्य विद्वानों का इस सम्बन्ध में एक और मत है, वह यह कि नीलपीतादि कपालों से उत्पन्न घट में व्याप्यवृत्ति ही नीलपीतादि की उत्पत्ति होती है। क्योंकि चित्ररूपादि के मत में, नीलपीतकपालारब्ध घट में नीलादि की उत्पत्ति के परिहार के लिये नीलादि के प्रति नीलेतरादि को प्रतिबन्धक मानना और नीलपीतकपालारब्ध घट में अव्याप्यवृत्ति नीलादि की उत्पत्ति मानने वाले के मत में अवच्छिन्न नीलादि के प्रति अवयव-समवायेन नीलाभावादि को कारण मानना इस की अपेक्षा नीलपीतादि कपालारब्धघट में व्याप्यवृत्ति नीलपीतादि की उत्पत्ति की कल्पना ही लाघव से न्यायसंगत है।

कुछ लोग इस मत का यह कह कर निराकरण करते हैं कि नीलपीताद्यारब्धघट में व्याप्यवृत्ति नीलादि की उत्पत्ति मानने पर नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्ष होने पर भी पीतादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। यदि इस आपत्ति के परिहारार्थ नीलादि अवयवावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्ष को नीलादि का ही ग्राहक मानेंगे तो गौरव होगा।

यत्तु-'एतत्कपालावच्छिन्नसंयोगादिप्रत्यक्षानुरोधेनैतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्वे सति यत्तन्नीलान्यत्तद्भिन्नं यदेतद् घटसमवेतं तस्यैतत्कपालविषयकसाक्षात्कारं प्रत्येतत्कपालावच्छेदेनैतद्घटचक्षुःसंनिकर्षस्य हेतुत्वाद् न पीतावयवावच्छेदेन संनिकर्षे नीलादिचाक्षुषापत्तिः' इति।

[पीतावयव में नील चाक्षुष आपत्ति का प्रतीकार]

कुछ विद्वानों का यह कहना है कि व्याप्यवृत्ति नीलादि की उत्पत्ति मानने पर पीतावयवावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्ष से नीलादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार करने के लिए किसी नवीन कार्यकारणभाव की कल्पना करना आवश्यक नहीं है किन्तु एतत्कपालावच्छिन्नसंयोग आदि का प्रत्यक्ष एतत्कपालावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्ष से ही होता है अतः एतत्कपालावच्छिन्न संयोगादि प्रत्यक्ष के प्रति जो एतत्कपालावच्छेदेन एतद् घट के साथ चक्षुःसंनिकर्ष की कारणता होती है उस कारणता से निरूपित कार्यतावच्छेदक में किञ्चित् परिवर्त्तन करने से ही उक्त आपत्ति का परिहार हो सकता है। जैसे यह कहा जा सकता है कि एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिक जो तन्नीलान्य, उससे भिन्न जो एतद्घटसमवेत, तद्विषयक जो एतत् कपालविषयक प्रत्यक्ष उसके प्रति एतत्कपालावच्छेदेन एतद्घटचक्षुःसंनिकर्ष कारण

है। कार्यकारणभाव को इस रूप में परिवर्तित कर देने पर नीलपीतकपाल से उत्पन्न घट में उत्पन्न होने वाले व्याप्यवृत्तिनीलरूप का पीतावयवावच्छेदेन घट के साथ चक्षु का संनिकर्ष होने पर प्रत्यक्ष नहीं प्रसक्त हो सकता। क्योंकि उस घट में विद्यमाननीलरूप एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिक जो तन्नीलान्य, उससे भिन्न एतद्घटसमवेत हो जाता है. अत एव एतत्कपाल के साथ उसका प्रत्यक्ष तभी हो सकता है जब एतत्कपालावच्छेदेन एतत्घट के साथ चक्षुःसंनिकर्ष हो। अतः पीतावयवावच्छेदेन घट के साथ चक्षुःसंयोग होने पर नील के चाक्षुष की आपत्ति नहीं होगी। उक्त कार्यतावच्छेदक के शरीर में एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्व यदि तन्नीलान्य का विशेषण न बनाया जायगा तो एतत्कपालावच्छिन्नसंयोग तन्नीलान्यभिन्न न होगा। अतः इस का प्रत्यक्ष एतत्कपालावच्छेदेन एतद्घट के साथ चक्षुःसंनिकर्ष के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त न होने के कारण उक्तसंनिकर्ष के विना भी उसके प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। इसीप्रकार उक्तकार्यतावच्छेदक में तन्नीलान्यत्व का प्रवेश न करने पर एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकभिन्न एतत्घटसमवेत का ही प्रवेश होगा। फलतः नीलपीतकपालारब्धघट में उत्पन्न नीलरूप अव्याप्यवृत्ति होने के कारण एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिक होगा। अतः तद्भिन्न एतद्घटसमवेत में इस का समावेश न होने से उसका प्रत्यक्ष भी उक्तसंनिकर्ष के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त न हो सकेगा। अतः उक्त संनिकर्ष के अभाव में भी पीतावयवावच्छेदेन चक्षुसंनिकर्ष होने पर उस के प्रत्यक्ष की आपत्ति दुर्वार होगी। एवं यदि उक्तकार्यतावच्छेदक कोटि में तन्नीलान्य के स्थान में केवल नीलान्यमात्र का प्रवेश किया जायगा तो परस्पर व्यवहित दो पीत और दो नील कपालों से उत्पन्न घट में जो दो नीलरूप उत्पन्न होंगे, दोनों ही एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिक नीलान्य एतद्घटसमवेत रूप होंगे अतः अन्यकपालगत नीलरूप से उत्पन्न घटगत नीलरूप का प्रत्यक्ष भी एतत्कपालावच्छिन्नचक्षुःसंनिकर्ष के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त हो जायगा। अतः अन्यकपालावच्छिन्नचक्षुसंयोग के अभाव में भी एतत्कपालावच्छेदेन चक्षुःसंयोग होने पर भी इसके प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। इसीप्रकार उक्त कार्यतावच्छेदक कोटि में यदि 'एतत्घटसमवेतत्व' का यदि निवेश न किया जायगा तो एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिक तन्नीलान्य से एतत्कपाल का आवारकवस्त्र भी संयोग सम्बन्ध से द्रव्य के अव्याप्यवृत्तित्वपक्ष में एतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकतन्नीलान्यभिन्न होगा। अतः तद्विषयकसाक्षात्कार भी एतत्कपालावच्छेदेन चक्षुसंयोग के जन्यतावच्छेदक से आक्रान्त हो जायगा। तथा उसका 'एतत्कपाले वस्त्रम्' इस प्रकार का साक्षात्कार भी एतत्कपालावच्छेदेन एतद्घटचक्षुःसंयोग के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त हो जायगा, किन्तु उक्तसंयोग स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से वस्त्र में नहीं है अतः वस्त्र के उक्त प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति हो जायगी।

नन्न, तथाहेतुतायामतिगौरवात्, तत्कपालावच्छिन्नप्रत्यक्ष एव तत्कपालावच्छिन्नसंनिकर्षस्य हेतुत्वात्।

किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'तत्कपालावच्छिन्न प्रत्यक्ष में तत्कपालावच्छिन्न संनिकर्ष कारण है। इस कार्य-कारणभाव की अपेक्षा उक्त कार्यकारणभाव में महान् गौरव है।

केचित्तु-'नानारूपवदवयवारब्धो नीरूप एव घटः, स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसंबन्धेनैव रूपस्य द्रव्यतत्समवेतचाक्षुषसाधारण्येन हेतुत्वादेतच्चाक्षुषत्वात्' इत्याहुः। तन्नेत्यपरे-चित्रकपालिकास्थले तदसंभवात्। अन्ये तु- उद्भूतैकत्वस्याऽयोग्यव्यावृत्तधर्मविशेषस्यैव वा द्रव्य-

चाक्षुषहेतुत्वेन रूपं विनापि तादृशघटचाक्षुषत्वोपपत्तिः, घटाकाशसंयोगादीनां गुरुत्वादिवदयोग्यत्वादेव संयोगादिचाक्षुषे स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वाकल्पनात्, तद्वृत्तिसंयोगादिप्रत्यक्षानुपपत्तेरभावात्' इत्याहुः ।

[रूपविहीनघटवादी विशेष मत]

कुछ विद्वानों का यह कथन है कि विभिन्नरूपवान् अवयवों से उत्पन्न घट में कोई रूप ही उत्पन्न नहीं होता-वह नीरूप ही होता है। ऐसा होने पर भी उस के चाक्षुष प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि द्रव्यचाक्षुष में समवाय से रूप को पृथक् कारण न मानकर द्रव्य और द्रव्यसमवेत चाक्षुष के प्रति स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्ध से रूप को कारण मान लेने से नीरूप घट का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि नीरूप घट में कपालिकागत रूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्व सम्बन्ध से कारण होगा और नीलघटसमवेत परिमाणादि के प्रत्यक्ष में कपालगतरूप स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्व सम्बन्ध से कारण होगा, अतः नीरूप घट और तत्समवेत, दोनों के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति नहीं हो सकती।

किन्तु दूसरे विद्वान यह कह कर इस पक्ष का निराकरण करते हैं कि जहाँ कपालिका विभिन्नरूपवदवयवों से उत्पन्न होगी वहाँ कपालिका भी नीरूप होगी, अतः उस स्थल में घट और घटसमवेतप्रत्यक्ष की उपपत्ति न हो सकेगी।

अन्य विद्वानों का मत है कि समवायसम्बन्ध से उद्भूत एकत्व अथवा अयोग्यव्यावृत्तधर्मविशेष अर्थात् चक्षुयोग्यवृत्तित्वविशिष्ट द्रव्यत्व यह द्रव्यचाक्षुष के प्रति कारण है अतः विभिन्नरूपवाले अवयवों से आरब्ध घट में रूप न होने पर भी इस का चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सकता है। यदि यह शंका की जाय कि "उक्त घट का चाक्षुषप्रत्यक्ष सम्भव होने पर भी उक्तघट में विद्यमान भूतलादि के संयोग का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा क्योंकि घटाकाशसंयोगादि के प्रत्यक्ष का वारण करने के लिये संयोगादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष में स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से रूप का अभाव प्रतिबन्धक होता है" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि गुरुत्वादि के समान घटाकाशसंयोग आदि स्वभावतः अयोग्य होने से ही उस का प्रत्यक्ष न होगा। अतः उस के प्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार करने के लिये स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से रूपाभाव के प्रतिबन्धकत्व की कल्पना अयुक्त है।

इत्येवमस्मिन् बत चित्ररूपे मिथ्यादृशां दृक् तिमिरावृत्त(ति)
परोपकृत्यै सुधियोऽत्र चैतज्ज्योतिर्मयं तन्त्रमुदीरयन्ति ॥१॥

तथाहि-'चित्रावयविना नीरूपत्वं तावदनुभवबाधितम्, तत्र रूपवत्ताधियः सार्वजनीनत्वात्। न च संबन्धविशेषेणावयवरूपमेव तत्र प्रतीयत इति वाच्यम्, अन्यत्राप्यवयवरूपस्यैवैकत्वपरिणामाख्यसंबन्धेनावयविगततया प्रतीतावस्मन्मतप्रवेशात्। न चान्यत्रावयवगतेभ्योऽनेकरूपेभ्य एकस्यावयविगतस्य विलक्षणस्यैव रूपस्यानुभवादयमदोष इति वाच्यम्, अत्रेव तत्रापि घटवृत्तित्वावच्छेदेनैकत्वस्य, तदवयववृत्तित्वावच्छेदेन च नानात्वस्याऽविरुद्धत्वात्। एतेन 'सर्वैश्च नीलैरारब्धेऽवयविनि नीलाद् नीलं स्वत्वावच्छेदेनोत्पद्यमानं रूपमविरोधाद्

व्यापकमेवोत्पद्यते, सजातीय-विजातीयेषु नानापदार्थेषु जायमानं समूहालम्बनमिवैकं ज्ञानम्' इति दीधितिकृदुक्तं निरस्तम्, समूहालम्बनेऽप्येकत्वस्य संख्यारूपस्य त्वयानभ्युपगमात्, आश्रयगतैकत्वस्य चातिप्रसङ्गात्, 'एकम्' 'एकम्' इत्यनुगतधिया सकलैकवृत्त्यतिरिक्तैकत्व-स्वीकारे च द्वित्वादेरपि तादृशस्य स्वीकर्तुमुचितत्वेनैकत्व–द्वित्वाद्यविरोधात्, एवमेव घटज्ञान-पटज्ञानयोरैक्यमित्यत्र द्विवचनस्य सुघटत्वात्, भिन्नभिन्नावच्छेदेन तत्रैकत्व-द्वित्वो-भयसमावेशसंभवात्, प्रयोगस्य च विवक्षाधीनत्वात् । उवाच च वाचकमुख्यः- "अर्पिताऽन-र्पितसिद्धेः" [तत्त्वार्थसूत्र ५-३१] इति । एकत्वद्वित्वयोश्च तावच्छेदकौ च तद्व्यक्ति-तदंशौ । तथाप्येतद्व्यक्त्यवच्छेदेन 'इदमेकं ज्ञानम्' इत्येकत्वभानवद् घटे 'इदमेकं रूपम्' इत्युपपत्ता-वपि नानावयवरूपेष्वपि 'इदमेकं रूपम्' इति धीः स्यादिति चेत् ? न, अभेदविवक्षाया-मिष्टत्वात्, भेदविवक्षायां च 'इदमुभयं नैकम्' इत्यत्रोभयत्वेनापृथक्कृतैतद्व्यक्तेः पृथक्कृतै-कत्वानवच्छेदकत्वात् पृथक्कृतैतद्व्यक्तेस्त्वपृथक्कृतैकत्वानवच्छेदकत्वात् । 'इदमुभयात्मकम्' इत्यु-भयत्वविशिष्टेदंत्वस्यैकत्वपर्याप्त्यनवच्छेदकत्वेन न स्यात्, 'इदमेकं रूपम्' इति तु शुद्धेदंत्व-स्यैकत्वपर्याप्त्यवच्छेदकत्वेन स्यादिति चेत् ?-स्यादेव यदि प्रदीर्घाध्यवसायिना तेनेदंत्वमेकत्वं च विविच्य न पर्यालोच्येतेति दिग् ।

[चित्ररूप के विषय में व्याख्याकार की मीमांसा]

व्याख्याकार ने चित्ररूप के सम्बन्ध में अनेक मतों का उपस्थापन कर यह बताया है कि उक्त समस्त मतवादी मिथ्यादर्शनी है अतः उन सभी की दृष्टि तिमिर (=अज्ञान) से आवृत है । अतः यह आवश्यक होने से कि चित्ररूप के सम्बन्ध में सत्य जिज्ञासुओं के हितार्थ विद्वज्जन प्रकाशमय तत्त्व का उद्घाटन करते हैं जिससे मिथ्यादृष्टियों की भी आंख खुल जाय और चित्ररूप के सम्बन्ध में जो वास्तविकता है उसका अवबोध उन्हें भी हो जाय । इसी अभिप्राय से व्याख्याकार ने चित्र रूप के सम्बन्ध में अग्रिमविचार प्रस्तुत किये हैं । उन का कहना है कि–

[रूपविहीन घट स्थिति अनुभव विरुद्ध है]

विभिन्नरूपवान् अवयवों से उत्पन्न होने वाले अवयवी द्रव्य को नीरूप मानना अनुभवविरुद्ध है क्योंकि उस द्रव्य में भी रूप की बुद्धि होना सर्वजनानुभवसिद्ध है । यदि यह कहा जाय कि "ऐसे अवयवी द्रव्य में जो रूप प्रतीत होता है वह उस द्रव्य का अपना रूप नहीं होता किंतु उसके अवयवों का रूप होता है जो स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से उस में भासित होता है ।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उस द्रव्य के अवयवों में विद्यमान रूप अनेक हैं और उस द्रव्य में रूप की एकत्वेन प्रतीति होती है । यदि अवयवगत अनेक रूपों की ही एकत्वेन प्रतीति मानी जायगी तो जैसे विभिन्नरूपवान् अवयवों से उत्पन्न अवयवी द्रव्य में अतिरिक्त रूप न मानने पर भी अवयवगत अनेक रूपों की एकत्वेन प्रतीति की उपपत्ति की जायगी, उसी प्रकार एकजातीय रूपवाले विभिन्न अवयवों से उत्पन्न अवयवी द्रव्य में भी अतिरिक्त एक रूप की उत्पत्ति मानना आवश्यक न होगा, क्योंकि उस

द्रव्य के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि उस में भी अवयवगत रूप ही एकत्वपरिणामात्मकसम्बन्ध से प्रतीत होता है, और ऐसा मानने पर जैन मत का प्रवेश अपरिहार्य हो जायगा। कहने का आशय यह है कि अवयवगत अनेकरूपों का अवयवी में एकत्वेन परिणाम होता है अतः यह परिणाम अवयवी के साथ अवयवरूप का सम्बन्ध बन जाता है। इस प्रकार इस सम्बन्ध से अवयवी में अवयवगतरूप की एकरूपात्मना प्रतीति सम्भव हो सकती है।

[विलक्षणरूप का अनुभव एकत्वपरिणाम विरोधी नहीं है]

इसके विपरीत यदि यह शंका की जाय कि-"एकजातीयरूपवान् अनेक अवयवों से उत्पन्न अवयवी द्रव्य में अवयवगत अनेक रूपों से एक विलक्षणरूप का अनुभव होता है अत एव यह मानना उचित नहीं प्रतीत होता कि अवयवगतरूपों का ही अवयवी में एकत्वेन परिणाम होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अवयवी में प्रतीयमानरूप में अवयवरूपों की अपेक्षा वैलक्षण्य न होने से उसका अनुभव न हो सकेगा"-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे विभिन्नरूपवान् अवयवों से उत्पन्न अवयवी द्रव्य में प्रतीत होने वाले रूप में घटवृत्तित्वावच्छेदेन एकत्व और अवयववृत्तित्वावच्छेदेन अनेकत्व मानने में कोई विरोध नहीं होता, इसी प्रकार एकजातीयनानारूपवान् अवयवों से उत्पन्न अवयवी द्रव्य में प्रतीयमानरूप में भी घटवृत्तित्वावच्छेदेन एकत्व और अवयववृत्तित्वावच्छेदेन अनेकत्व मानने में कोई विरोध नहीं है। अतः उक्त अवयवी द्रव्य में अवयवगत अनेक रूपों से एक विलक्षणरूप के अनुभव में कोई बाधा नहीं हो सकती। क्योंकि अवयवीद्रव्य में प्रतीत होने वाले रूप में अवयवगतरूपों से जो विलक्षणता प्रतीत होती है वह और कुछ न होकर केवल एकात्मतारूप है और यह एकात्मता अनेकरूपों में भी घटवृत्तित्वावच्छेदेन सम्भव है क्योंकि घट एक है।

[एकसमूहालम्बनज्ञानवत् एकरूपोत्पत्ति-दीधितिकार]

इस संदर्भ में दीधितिकार का यह कहना है कि-अनेक नील अवयवों से उत्पन्न अवयवी में जो नील उत्पन्न होता है वह यद्यपि तत्तन्नीलावच्छेदेन उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु ऐसे अवयवी में अवयवगत विभिन्न नीलरूपों से विभिन्न नील की उत्पत्ति मानने में गौरव तथा युक्त्यभाव होने से यही मानना उचित होता है कि सम्पूर्ण अवयवगत नील अवयवी में सर्वावयवव्यापी एक नीलरूप को उत्पन्न करते हैं। यह ठीक उसी प्रकार सुसंगत है जैसे सजातीयविजातीय अनेक पदार्थों में उत्पन्न होने वाला एक समूहालम्बनज्ञान। आशय यह है, जैसे भिन्न-भिन्न पदार्थ अपना अलग अलग ज्ञान उत्पन्न करते हैं किन्तु जब ऐसे अनेक पदार्थों को एक साथ अपने ज्ञान उत्पन्न करने का अवसर होता है तो वे भिन्न भिन्न ज्ञान को न उत्पन्न कर एक ही समूहालम्बन ज्ञान व्यक्ति को उत्पन्न करते हैं जो उन सभी पदार्थों को विषय करता है। इसी प्रकार एक एक नीलावयव अलग रूप को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखते हुये भी जब एक साथ उन्हें रूप को उत्पन्न करने का अवसर प्राप्त होता है तो उन सभी से एकरूप की उत्पत्ति मानना ही न्यायसंगत है।

[समूहालम्बन ज्ञानगत एकत्व संख्यारूप नहीं है-उत्तर पक्ष]

व्याख्याकार ने दीधितिकार के उक्त कथन का निराकरण करते हुये यह समीक्षा की है कि समूहालम्बन ज्ञान में भी जो एकत्व माना जाता है वह दीधितिकार को भी संख्यारूप में मान्य नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान और संख्या दोनों ही गुण है अतएव ज्ञान में संख्यात्मक एकत्व नहीं रह सकता।

यदि ज्ञान के आश्रय आत्मा के एकत्व से ज्ञान में ऐक्य का समर्थन किया जायगा तो एक आत्मा में क्रम से होने वाले विभिन्न ज्ञानों में भी ऐक्य का अतिप्रसङ्ग होगा। क्योंकि उन ज्ञानों में भी आश्रयगत एकत्व सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से उसी प्रकार अबाधित है जैसे एक काल में एक आत्मा में उत्पन्न होने वाले विभिन्नविषयक ज्ञानों में अबाधित होता है।

[अनुगत एकत्वकल्पनावत् द्वित्वकल्पना संगति]

यदि इन दोषों के परिहारार्थ यह माना जायगा कि–"एक एक वस्तु में 'एकम् एकम्' इस अनुगताकार बुद्धि से एक ऐसा एकत्व सिद्ध होता है जो सकल एक में विद्यमान होता है और एकत्व संख्या से अतिरिक्त होता है। उस एकत्व से ही एक आत्मा में एक साथ उत्पन्न होने वाले विभिन्न विषयक ज्ञानों में एकत्व की उपपत्ति होती है।"–तो ऐसा मानने पर प्रत्येक युगल में "द्वौ द्वौ' इस प्रकार होने वाली अनुगत आकार बुद्धि से, द्वित्वसंख्या से अतिरिक्त, निखिलद्वयसाधारण एक द्वित्व का भी स्वीकार करना आवश्यक हो जायगा। फिर इस प्रकार एकत्व द्वित्व आदि में अविरोध की उपपत्ति में कहीं कोई बाधा नहीं होगी। तथा यह मानने में 'घटज्ञानपटज्ञानयोरैक्यम्' यह व्यवहार भी सहायक है, क्योंकि इस व्यवहार से द्विवचन विभक्ति से घटज्ञान और पटज्ञान में द्वित्व भी प्रतीत होता है और ऐक्य शब्द से दोनों में एकत्व भी प्रतीत होता है। अतः इस व्यवहार वाक्य में द्विवचन की उपपत्ति एकत्व और द्वित्व के अविरोध से ही की जा सकती है और एकत्व-द्वित्व का यह अविरोध, भिन्न भिन्न रूपावच्छेदेन एकत्व और द्वित्व दोनों के एकत्र समावेश से निर्विघ्न उपपन्न हो सकता है। जैसे, घटपट दोनों को असम्बद्धरूप से ग्रहण करने वाले समूहालम्बन ज्ञान में तज्ज्ञानव्यक्ति-अवच्छेदेन एकत्व का और घटविषयकत्व-पटविषयकत्वावच्छेदेन द्वित्व का संनिवेश होता है। एकत्व द्वित्वादि का परस्पर अविरोध मानने पर 'अयं द्वौ' और 'द्वावयम्' इस प्रकार प्रयोग की आपत्ति नहीं दी जा सकती क्योंकि प्रयोग विवक्षानुसार ही होता है अतः उक्त प्रकार की विवक्षा न होने से उक्त प्रयोग का आपादन नहीं हो सकता। वाचकमुख्य आचार्य श्रीमद् उमास्वाति ने भी 'अर्पितानर्पितसिद्धेः' इस सूत्र से इसी तथ्य का समर्थन किया है–सूत्र का अर्थ यह है कि अर्पित और अनर्पित से मुख्य-गौणरूप से वस्तु की सिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि एक नय की अर्पणा यानी अपेक्षा-विवक्षा करने पर उस नय के विषयरूप में वस्तु की मुख्यरूप से सिद्धि होती है तब अन्यनय की अनर्पणा यानी अविवक्षा करने पर उस नय के विषयरूप में वही वस्तु गौण बन जाती है।

इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि एकत्व-द्वित्व का अवस्थान सांश वस्तु में ही अवच्छेदकभेद से हो सकता है क्योंकि उसी में एकत्व के तद्व्यक्तिरूप अवच्छेदक और द्वित्व के अंशभेदरूप अवच्छेदक सुलभ हो सकते हैं। जैन मत में नितांत निरंश वस्तु मान्य न होने से वस्तुमात्र में एकत्व-अनेकत्व का समावेश सुकर है।

[अवयवरूपों में एकत्वबुद्धि की आपत्ति अभेदविवक्षा में स्वीकार्य]

इस मान्यता के सम्बन्ध में यह आपत्ति ऊठ सकती है कि–'जैसे ज्ञानव्यक्तिरूप अवच्छेदक भेद से अनेक विषयक ज्ञानों में 'इदं एकं ज्ञानम्' इस प्रकार एकत्व का भान होता है, एवं घटव्यक्तिरूप अवच्छेदकभेद से घट में प्रतीत होने वाले अवयवगत नानारूपों में 'इदं एकं रूपम्' इस प्रकार की प्रतीति होती है–उसी प्रकार अवयवरूपों में घटवृत्तिता की प्रतीति न होने पर भी उन रूपों में 'इदं

एकं रूपम्' इस प्रकार की बुद्धि होनी चाहिये, क्योंकि उन रूपों में घटव्यक्तिरूप अवच्छेदकभेद से एकत्व विद्यमान है।'- किन्तु यह आपत्ति ठीक नहीं है क्योंकि घट और घटावयवों में अभेद की विवक्षा में घटावयवगत रूपों में भी 'इदमेकं रूपम्' यह बुद्धि इष्ट है। भेदविवक्षा करने पर इस बुद्धि की आपत्ति नहीं दी जा सकती क्योंकि इस बुद्धि में एकत्व का घटव्यक्त्यवच्छेदेन भान होता है, किन्तु उस समय घटव्यक्ति अवयवरूपों में प्रतीयमान एकत्व का अवच्छेदक नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय घटव्यक्ति घटावयवों से पृथक्कृत होती है और एकत्व घटावयवगत रूपों में प्रतीयमान होने के अनुरोध से घटावयवों से अपृथक्कृत रहता है। अतः घटावयवों से पृथक्कृत घटव्यक्ति का घटावयवों से अपृथक्कृत एकत्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। अतः घटावयवों से पृथक्कृत घटव्यक्ति, घटावयवों से अपृथक्कृत एकत्व का उसीप्रकार अनवच्छेदक होती है जैसे 'इदमुभयं नैकम्' इस स्थल में उभयत्वेन अपृथक्कृत एतद्व्यक्ति पृथक्कृत एकत्व का अनवच्छेदक होती है। आशय यह है कि एतद्व्यक्ति का जब उभयत्वेन ग्रहण होता है तब एकत्वरूप से उस का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि 'इदमुभयमेकम्' ऐसी प्रतीति अनुभवविरुद्ध है। अतः एतद्व्यक्ति के उभयत्वेन ग्रहणकाल में उस में एकत्व का ग्रहण न होने से एकत्व एतद्व्यक्ति से पृथक्कृत रहता है। अत एव उस समय दोनों में सम्बन्ध न होने से उभयत्वेन अपृथक्कृत एतद्व्यक्ति पृथक्कृतएकत्व का अनवच्छेदक होती है।

['इदमुभयात्मकं' इस प्रतीति के अभाव की आशंका]

इस संदर्भ में यह आपत्ति ऊठ सकती है कि-'उभयत्व विशिष्ट इदंत्व, एकत्व की पर्याप्ति का अवच्छेदक नहीं होता। अतः 'इदमुभयात्मकम्' यह प्रतीति न हो सकेगी। क्योंकि, इस प्रतीति में उभयत्वविशिष्टइदंत्वावच्छेदेन एकवचनार्थ एकत्व का भान होता है और शुद्ध इदंत्व एकत्वपर्याप्ति का अवच्छेदक होता है तथा घट और घटावयवों की भेदविवक्षा में भी इदंत्वरूप से घटावयवगत नाना रूपों को विषय करने वाली 'इदमेकं रूपम्' प्रतीति आपत्तिरूप होगी।-'किन्तु इस आपत्ति का उत्तर यह है कि यदि उक्त अध्यवसाय दीर्घकाल तक न होकर क्षणमात्रस्थायी होगा तो इदंत्व और एकत्व का विवेकपूर्वक पर्यालोचन न होने से 'इदमुभयात्मकम्' यह प्रतीति तथा घटावयवगत नाना-रूपों में 'इदं एकम्' यह प्रतीति होना इष्ट ही है। किन्तु यह उक्त प्रतीति दीर्घकाल तक स्थायी होगी तो 'इदमुभयात्मकम्' इस प्रतीति में व्यक्तिद्वयवृत्ति इदंत्व का भान स्पष्ट हो जाने से और उस इदंत्व के एकत्वपर्याप्ति का अवच्छेदक न होने से उक्त प्रतीति नहीं हो सकती।

एवं 'इदमेकं रूपम्' इस प्रतीति में भासमान इदंत्व में 'अनेकवृत्तित्व के ज्ञान' रूप 'इदंत्व का पर्यालोचन' होने से और उस इदंत्व में एकत्व की पर्याप्ति का अवच्छेदकत्व न होने से 'इदमेकं रूपम्' इस प्रतीति की आपत्ति नहीं हो सकती।

व्याप्यवृत्तिशुक्लादिनानारूपवद्द्रव्याभ्युपगमे च शुक्लाद्युपलम्भे नीलाद्युपलम्भापत्तिरेव दोषः। तदाह-**सम्मतिटीकाकारः**-"आश्रयव्यापित्वेऽप्येकावयवसहितेऽप्यवयविन्युपलभ्यमानेऽपरावयवानुपलब्धावप्यनेकरूपप्रतिपत्तिः स्यात्, सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वात्" इति। चित्रैक-रूपप्रतिपत्तिरप्यनुभवविरुद्धा, शुक्लादिरूपाणामपि निर्भागानां तत्र प्रतीतेः। यदाहुः-"न च चित्रपटादावपास्तशुक्लादिविशेषं रूपमात्रं तदुपलम्भान्यथानुपपत्त्याऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्, कथम्?, 'चित्ररूपः पटः' इति प्रतिभासाभावप्रसक्तेः" इति। किञ्च, एवं शुक्लावयवावच्छेदे-

नापि चित्रोपलम्भः स्यात् । ननु (च ?) चित्रत्वग्रहे परम्परयाऽवयवगतनीलेतररूप-पीतेतररूपादिमत्त्वग्रहो हेतुः, अत एव 'त्र्यणुकचित्रं चक्षुषा न गृह्यते' इत्याचार्याः । न च नीलेतररूपत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताकग्रहो न हेतुः, नीलत्व-पीतत्वादिनाऽवयवगतनील-पीतादिग्रहेऽप्यवयविचित्रप्रत्यक्षादिति वाच्यम् , विलक्षणचित्रप्रत्यक्षे तेन तेन रूपेण तत्तद्ग्रहस्यापि हेतुत्वात् । वस्तुतो नीलेतररूपत्वादिव्याप्यत्वेन नीलेतररूपत्व-पीतत्वाद्यनुगमाद् न क्षतिरिति चेत् ? न, त्र्यणुकचित्ररूपाग्रहे चतुरणुकचित्रप्रत्यक्षानुपपत्तेः; नीलेतररूप-पीतेतररूपादिमदवयवावच्छेदेनेन्द्रियसंनिकर्षस्यावयवनीलादिगतनीलत्वादिग्रहविरोधिदोषाभावानां च हेतुत्वे गौरवात् । अवयविनि साक्षान्नीलपीतादिग्रहस्य तद्ग्रहहेतुत्वे च तत्र नीलादिसिद्धिः, तद्ग्रहस्य भ्रमत्वाऽयोगात् ।

[व्याप्यवृत्ति अनेकरूपोत्पत्ति पक्ष में सर्वरूपोपलम्भापत्ति]

जो कोई विद्वान शुक्लनीलादि नाना रूपवान् अवयवों से उत्पन्न अवयविद्रव्य में शुक्लनीलादि नाना रूपों की उत्पत्ति मानते हैं और उन सभी को व्याप्यवृत्ति मानते हैं-इस मत में यह दोष होता है कि यदि ऐसे अवयवी में शुक्लनीलादि सभी रूप व्याप्यवृत्ति होंगे तो शुक्लादिरूप के उपलम्भकाल में नीलादिरूप के उपलम्भ की भी आपत्ति होगी क्योंकि जिस भाग में शुक्लादिरूप होगा उस भाग में नीलादिरूप भी व्याप्यवृत्ति होने से होगा, अतः उस भाग के साथ चक्षु का संयोग होने पर रूपग्राहक चक्षुसंयुक्तसमवाय संनिकर्ष शुक्लनीलादि सभी में समान रूप से होगा। व्याख्याकार ने इस दोष के सम्बन्ध में सम्मतितर्क ग्रन्थ के टीकाकार के एतदर्थ संवादी वाक्य का उद्धरण दिया है जिस का अर्थ यह है कि–विजातीय अनेक रूपवान् अवयवों से उत्पन्न अवयवी में विजातीय अनेक रूपों को आश्रयव्यापि मानने पर किसी एकरूपवान् अवयव के साथ अवयवी का उपलम्भ होने पर अन्यरूपवान् अवयव की अनुपलब्धि दशा में भी अनेक रूपों के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, क्योंकि ऐसे अवयवी द्रव्य के सभी रूप आश्रयव्यापी होते हैं, अर्थात् उस द्रव्य के सब भागों में सब रूप रहते हैं। जो विद्वान विजातीय नानारूपवान् अवयवों से उत्पन्न अवयवी द्रव्य में एक चित्ररूप की सत्ता मानते हैं उनके मत में उस द्रव्य में एकमात्र चित्ररूप का ही प्रत्यक्ष अनुभवविरुद्ध है, क्योंकि उस द्रव्य में शुक्लादि विभिन्नरूपों के प्रत्यक्ष होने में किसी को विवाद नहीं है ।

[चित्ररूप प्रत्यक्ष का अपलाप अनुभवविरुद्ध है]

कुछ लोगों का यह कहना है कि–'चित्रपटादि में एक ऐसा रूप होता है कि जिस में शुक्लत्व पीतत्वादि अवान्तरजाति नहीं होती है और ऐसा रूप चित्रपटादि में मानना परमावश्यक है क्योंकि उसमें रूप माने बिना उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।' व्याख्याकार के अनुसार यह कथन भी असंगत है क्योंकि इस विषय में विद्वानों ने यह कहा है कि ऐसे पट में यदि केवल रूपसामान्य की सत्ता मानी जायगी तो 'रूपवान् पटः' इसी रूप में उसकी उपलब्धि होगी किन्तु 'चित्ररूप पटः' इस सर्वजनानुभवसिद्ध प्रत्यक्ष का अपलाप हो जायगा। उक्त प्रकार के अवयवी द्रव्य में व्याप्यवृत्ति एक अतिरिक्त चित्ररूप का अस्तित्व मानने में एक यह भी दोष है कि जब केवल शुक्ल अवयव के साथ चक्षु का संनिकर्ष होगा और अवयवान्तर के साथ नहीं होगा तो उस समय शुक्ल अवयवावच्छेदेन भी उस द्रव्य में चित्ररूप के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी ।

[उदयनाचार्य का चित्ररूप प्रत्यक्षोपपत्ति के लिये प्रयास]

यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि—

"चित्रत्वेन रूप के प्रत्यक्ष में अवयवगत नीलेतररूप-पीतेतररूप आदि का अवयवी में स्वाश्रय-समवेतत्वसम्बन्ध से प्रत्यक्ष कारण है, इसीलिये उदयन आचार्य ने यह कहा है–'त्र्यणुक के चित्ररूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि त्र्यणुक के अवयव द्व्यणुक गत रूप अतीन्द्रिय होने से उसका स्वाश्रय-समवेतत्व सम्बन्ध से त्र्यणुक में ग्रहण नहीं होता।' यदि इस कार्यकारणभाव के विरुद्ध यह शंका की जाय कि-'अवयवगत नीलपीतादिरूप का नीलत्व-पीतत्व आदि रूप से अवयवी में ग्रहण होने पर भी अवयवीगतरूप का चित्रत्वेन प्रत्यक्ष होता है अतः नीलेतररूपत्वादिना नीलेतररूपादिज्ञान को चित्रत्व प्रत्यक्ष में कारण मानने पर व्यतिरेक व्यभिचार होगा'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि नीलत्व-पीतत्वादिरूप से अवयवगतनीलपीतादि के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले अवयविगतचित्ररूपप्रत्यक्ष में और नीलेतररूपत्वादि रूप से अवयवगतनीलेतर रूपादि के ग्रहण से उत्पन्न होनेवाले अवयवीगत चित्ररूप के प्रत्यक्ष में, जातिभेद मानकर दोनों प्रकार के ग्रहों को विजातीय चित्र प्रत्यक्ष में कारण माना जा सकता है। अथवा नीलेतररूपत्वादिव्याप्यत्वरूप से नीलेतररूपत्व और पीतत्वादि का अनुगम कर के उक्त दोनों ग्रहों में अवयविचित्रप्रत्यक्ष के प्रति एक कारणता को वास्तवरूप में मानने में कोई क्षति नहीं है।"

किन्तु इस कार्यकारणभाव के बल पर शुक्लावयवावच्छेदेन अवयवी में चित्रोपलम्भ की आपत्ति का परिहार नहीं किया जा सकता। तदुपरांत, उपरोक्त कार्यकारण भाव मानने पर त्र्यणुक के चित्ररूप का ग्रह नहीं होता है, अतः चतुरणुक में इसके अवयव त्र्यणुकगत रूप का नीलेतरत्वव्याप्यरूप से अथवा चित्रत्वरूप से स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से चित्ररूप का ग्रहण न हो सकने के कारण चतुरणुक के चित्ररूप का प्रत्यक्ष न हो सकेगा।

[त्र्यणुक-चतुरणुक के चित्ररूप प्रत्यक्ष की उपपत्ति का प्रयास]

यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि अवयविगत चित्र प्रत्यक्ष में नीलेतररूप तथा पीतेतर रूपादिवाले अवयवावच्छेदेन इन्द्रियसंनिकर्ष कारण है, तथा अवयवगत नीलादि का परम्परा सम्बन्ध से अवयवी में नीलत्वादि का ग्रह कारण नहीं है किन्तु उस ग्रह के विरोधी दोष का अभाव कारण है। अतः त्र्यणुक और चतुरणुक आदि के चित्ररूप का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि त्र्यणुक के अवयव द्व्यणुकों में विद्यमान नीलादिरूप अतीन्द्रिय होता है। अत एव उसमें नीलत्वादि का ज्ञान प्रसक्त नहीं है अतः उसके विरोधी दोष की कल्पना न होने से उक्त दोष का अभावरूप कारण सुलभ है। यदि आचार्य मत के अनुसार त्र्यणुक के चित्ररूप का अग्रहण और चतुरणुक के चित्र का ग्रहण, दोनों का उपपादन करना हो तो चित्ररूप के प्रत्यक्ष में नीलेतररूपादिमत् एवं पीतेतररूपादिमत् महदवयवावच्छेदेन इन्द्रियसंनिकर्ष और उक्तदोषाभाव को कारण मान लेना उचित है। उक्त दोषाभाव को कारण मान लेने से उक्त दोनों बात की उपपत्ति हो सकती है। इस पर यदि यह शंका की जाय कि-'अतीन्द्रिय अवयव के नीलादि में नीलत्वादि का ग्रह अप्रसिद्ध होने के कारण तद्विरोधी दोष भी अप्रसिद्ध होने से उक्तदोषाभाव अप्रसिद्ध है, अतः उसे कारण मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता'-तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अवयवगतनीलादि का स्वधर्मिक-नीलत्वादि-

ग्रहविरोधिदोषवत्त्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव कारण है । यह सम्बन्ध प्रत्यक्षयोग्य अवयवगतनीलादि के सम्बन्धरूप में प्रसिद्ध है और अतीन्द्रियअवयवगतनीलादि का यह व्यधिकरण सम्बन्ध है । अतः इस सम्बन्ध से अतीन्द्रियअवयवगत नीलादि का चतुरणुकादि अवयवी में अभाव होने से उसमें चित्ररूप के प्रत्यक्ष में बाधा नहीं हो सकती ।

परन्तु यह उपाय गौरवग्रस्त होने के कारण मान्य नहीं हो सकता । अतः अवयवी में व्याप्यवृत्ति चित्ररूप के अस्तित्वपक्ष में शुक्लावयवावच्छेदेन चित्रोपलम्भ की आपत्ति यथापूर्व बनी रहती है ।

यदि इस आपत्ति के परिहार के लिये अवयवी में समवायसम्बन्ध से नीलपीतादि नानारूपों के प्रत्यक्ष को चित्रत्वग्रह का हेतु माना जायगा तो शुक्लावयवावच्छेदेन चित्रप्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार हो जाने पर भी अवयवी में नीलरूपादि के अभ्रान्त प्रत्यक्ष की सिद्धि भी हो जायगी क्योंकि उसके भ्रमरूप होने में कोई युक्ति नहीं है ।

स्यादेतत्, अव्याप्यवृत्तिनीलादिकल्पे तादृग्नीलादिप्रत्यक्षे द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति, अव्याप्यवृत्तिद्रव्यसमवेतप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति वा चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसंबन्धावच्छिन्नाधारतासंनिकर्षो निरूपकतया विषयनिष्ठो हेतुः संयोगादिप्रत्यक्षस्थले क्लृप्त एव । न च नीलकपालिकावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षस्य तत्समवेतनील-पीतोभयकपालावच्छिन्नत्वनियमात् तदवच्छेदेन संनिकर्षे पीतादिग्रहापत्तिः, संयोगव्यक्तिर्यद्देशव्यापिनी तत्र परम्परया तद्देश एवावच्छेदको न तु संपूर्णोऽवयव इत्यभ्युपगमाद् न दोषः । नीलविशिष्टपीतादिना नीलपीतोभयादिना वाऽन्यान्तरचित्रधीसंभवाद् नावान्तरचित्रसिद्धिः, चित्रत्वेन समनन्तरचित्रत्वसामानाधिकरण्यप्रत्ययस्यापि नील-पीतविशिष्टचित्रत्वसामानाधिकरण्यावगाहित्वात्, नीलाद्यविशेषितनीलादिभेदाश्रयरूपसमुदायेनानुगतचित्रप्रतीतिसंभवाच्चित्रत्वसामान्यमप्यसिद्धमेवेति ।

मैवम्, अनुभवसिद्धस्य चित्रत्वस्योक्तरीत्यापलापे नीलादिप्रतीतेरपि भेदविशेषावगाहित्वेन नीलत्वादेरप्यपलापप्रसङ्गात् ।

[अव्याप्यवृत्ति नीलादि अनेकरूप पक्ष में दोष निवारण का प्रयास]

शंका:—नीलादिरूप के अव्याप्यवृत्तित्वपक्ष में इस प्रकार के कार्यकारणभाव को अपनाया जा सकता है कि विषयतासम्बन्ध से द्रव्य के और द्रव्यसमवेत के प्रत्यक्ष के प्रति, अथवा द्रव्य में अव्याप्यवृत्तिसमवेत के प्रत्यक्ष के प्रति, चक्षुसंयोग के अवच्छेदक देश से अवच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधारता स्वरूप संनिकर्ष, निरूपकता सम्बन्ध से हेतु है । यह कार्यकारणभाव नया नहीं है किन्तु घट में नीलादिभाग से अवच्छिन्न संयोग आदि के प्रत्यक्ष के प्रति प्रथमतः सिद्ध है अतः नीलादि को अव्याप्यवृत्ति स्वीकार करने पर किसी नवीन कार्यकारणभाव की कल्पना के गौरव की आपत्ति नहीं हो सकती तथा इस कार्यकारणभाव से नीलपीतादि अव्याप्यवृत्ति अनेक रूप के आश्रयभूत घट में नीलदेशावच्छेदेन चक्षुसंयोग होने पर नीलेतररूप के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त

घट में नीलभागावच्छेदेन चक्षुसंयोग होने पर उक्त आधारतारूप संनिकर्ष निरूपकता सम्बन्ध से नीलेतररूप में नहीं रहता, क्योंकि नीलेतररूप की समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधारता चक्षुसंयोग के अवच्छेदकीभूत नील देश से अवच्छिन्न नहीं है। ऐसा मानने पर यदि यह आपत्ति दी जाय कि-विजातीय नीलकपालिका के साथ चक्षुसंयोग होने पर परम्परा से नीलकपालिकावच्छेदेन घट के साथ भी चक्षुसंयोग होता है और वह संयोग नियम से नीलकपालिका में समवेत नीलपीतादिमत्कपाल से भी अवच्छिन्न होता है। अत: नीलकपालावच्छेदेन चक्षुसंयोग के अवच्छेदकीभूत नीलपीतादिमत् कपाल देश से अवच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारता रूप संनिकर्ष निरूपकत्वसम्बन्ध से घटगतपीतरूप में है क्योंकि उस प्रकार के कपाल से उत्पन्न घट में पीतरूप की आधारता नीलपीतकपालावच्छिन्न होती है। अतः नीलकपालिकावच्छेदेन उक्त पीतरूप के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी-किन्तु यह आपत्ति उचित नहीं है क्योंकि 'जो संयोग व्यक्ति जिस देश में व्यापक होती है तन्मूलकसंयोग में परम्परासम्बन्ध से वह देश ही अवच्छेदक होता है किन्तु वह सम्पूर्ण अवयव जो उस देश से घटित है-अवच्छेदक नहीं होता।' ऐसा मानने पर उक्त दोष नहीं हो सकता क्योंकि नीलकपालिका के साथ चक्षुसंयोग होने पर नीलकपालिका में समवेत नीलपीतकपाल के साथ भी चक्षुसंयोग होता है और उस संयोग से घट के साथ चक्षुसंयोग होता है। यही संयोग घट में पीतरूप के प्रत्यक्ष के प्रति प्रयोजक बन सकता है, किन्तु यह संयोग नीलकपालिका के साथ जो प्रथम चक्षुसंयोग होता है तन्मूलक होने से उक्त नियमानुसार उसका अवच्छेदक नीलकपाल न होकर नीलकपालिका ही होगी। क्योंकि मूलभूत चक्षुसंयोग नीलकपालिका में ही व्यापक होता है। अतः घट के साथ जो चक्षु का संयोग होता है उस का अवच्छेदक नीलकपालिका ही होगी। तदवच्छेदेन घट में पीतरूप की आधारता न होने से चक्षुसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारता रूप संनिकर्ष निरूपकत्व सम्बन्ध से घटगत पीतरूप में नहीं रहता। तदुपरांत नीलपीतउभयकपाल से उत्पन्न घट में जो अवान्तर चित्ररूप की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अवान्तर चित्ररूप की सिद्धि में कोई युक्ति नहीं है। नीलपीत उभय कपाल से उत्पन्न घट में जो अवान्तर चित्र की बुद्धि होती है उसे स्वसमवायिसमवेतसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से नीलविशिष्टपीतविषयक मान लेने पर उपपत्ति हो सकती है। जैसे स्वपद का अर्थ है नीलरूप, उसका समवायी नीलकपाल, उस में समवेत है घट, उसका समवायी है पीतकाल, तत्समवेतत्व है पीतरूप में। अतः यह कहने में कोई बाधा नहीं है कि उक्तरूप में चित्ररूप की प्रतीति उक्त सम्बन्ध से नीलविशिष्टपीत को विषय करती है। अथवा नीलादि के अव्याप्यवृत्तित्वपक्ष में अव्याप्यवृत्ति नीलपीतादि की उत्पत्ति होने से उनका परस्पर में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध होता है अतः नीलपीतादिकपालोत्पन्नघट में होनेवाली चित्रप्रतीति सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से नीलविशिष्टपीत को विषय करती है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि उक्तप्रतीति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलपीत उभय रूप को विषय करती है। अथवा नीलादि के अव्याप्यवृत्तित्वपक्ष में समवाय सम्बन्ध से नीलपीतोभय को विषय करती है। अर्थात् उक्तघट में होनेवाली 'अयं चित्रः' इस बुद्धि का विवरण 'अयं नीलविशिष्टपीतवान्' अथवा 'अयं नीलवान् पीतवान्' इस रूप में हो सकता है। सामान्यचित्रत्व में जो अवान्तरचित्रत्व के सामानाधिकरण्य की बुद्धि होती है उसके अनुरोध से भी अवान्तरचित्रत्व की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि वह भी परम्परा सम्बन्ध से नीलपीतविशिष्टत्वरूप चित्रत्व के सामानाधिकरण्य को विषय कर उपपन्न की जा सकती है। सत्य बात तो यह है कि सामान्य चित्रत्व स्वयं ही असिद्ध है, क्योंकि

जो 'इदं चित्रम्' 'इदं चित्रम्' इस प्रकार अनुगत प्रतीति होती है वह बुद्धि प्रतियोगिता सम्बन्ध से भेदांश में नीलादि अप्रकारक नीलादिभेदवत् रूप समुदाय को विषय करती है। जैसे-नीलपीत-पीत-रक्त आदि कपालों से उत्पन्न घटों में जो 'इदं चित्रम्' 'इदं चित्रम्' इस प्रकार की बुद्धि होती है उस का अर्थ है यह स्वाश्रयत्व और स्वभिन्नरूपाश्रयत्व उभयसम्बन्ध से रूपवान् है।

उत्तरः-किन्तु विचार करने पर नीलादिरूप के अव्याप्यवृत्तित्ववादी का उक्त कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि चित्रत्व अनुभवसिद्ध है अतः उक्त रीति से उसका अपलाप करने पर नीलादि प्रतीति को भी भेदविशेष का ग्राहक मान लेने से नीलत्वादि का भी अपलाप हो जायगा। कहने का तात्पर्य यह है कि नीलत्वादि का अपलाप करने के लिये भी कह सकते हैं कि-'अयं नील' 'अयं पीतः' इत्यादि प्रतीति नीलत्व-पीतत्वादि रूप किसी भावात्मक धर्म को विषय न करती हुयी अनीलपीतादि के भेद को ही विषय करती है, अर्थात् 'अयं नीलः' का अर्थ होता है 'अयं अनीलभिन्नः'। अथवा वह प्रतीति जितनी नीलव्यक्ति है तत्तद्व्यक्तिभेदकूटवद्भेद को स्वप्रतियोगितावच्छेदकाभाववत्त्व सम्बन्ध से भेदत्वेन विषय करती है। अर्थात् 'अयं नीलः' इस प्रतीति का अर्थ है अयं स्वप्रतियोगितावच्छेदकतत्तद्व्यक्तिभेदकूटाभाववत्त्वसम्बन्धेन भेदवान्। इस प्रतीति में तत्तद्व्यक्तिभेदकूट का संसर्ग कुक्षि में प्रवेश होने के कारण इस प्रतीति की उपपत्ति में तत्तद्व्यक्तिग्रह की अपेक्षा नहीं होती।

अस्तु तर्हि तत्र तत्रावयविनि नीलत्वादितत्चित्रत्वाश्रयमेकमेव व्याप्यवृत्ति रूपादिकं लाघवात् [नीलत्वादिकमेव ?], तत्राऽव्याप्यवृत्तिगुणविशेषाणामिव जातिविशेषाणामप्यव्याप्यवृत्तित्वेऽविरोधात्, परस्परव्यभिचारिजात्योः सामानाधिकरण्यस्य बाधकविरहसत्तर्कप्रमाणसिद्धस्यानभ्युपगममात्रेण निराकरणायोगात्। अत एव ककारादिषु सर्वेषु ताराद्याकारानुगतमतिरुपपद्यते: एकस्यैव तारत्वादेः ककारादिवृत्तित्वात्, उपपद्यते च मार्त-पाषाण-सौवर्णघटादावनुगतमतिरिति स्वतन्त्र एव पन्था इति चेत्?

[व्याप्यवृत्ति एक रूप वादी स्वतन्त्र मत की आशंका]

स्वतंत्रवादी:-नीलपीतादि के अव्याप्यवृत्तित्ववादी के विरुद्ध यह मानना अधिक युक्तिसंगत है कि नीलपीतादि विजातीयरूपावियुक्त अवयवों से उत्पन्न अवयवी द्रव्य में व्याप्यवृत्ति रूप उत्पन्न होता है जो नीलत्वपीतत्वादि सभी जातियों का आश्रय होता है और वही 'चित्र' पद से निर्दिष्ट होता है इस प्रकार नीलत्व-पीतत्वादि जाति ही एकरूपवृत्तितया चित्रत्वरूप होती है और एक एक रूपमात्रवृत्तितया नीलत्वादिरूप होती है-इस कल्पना में लाघव है तथा कतिपय गुणों के अव्याप्यवृत्तित्व के समान इन कतिपय जातियों को अव्याप्यवृत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि गोत्व-अश्वत्वादि परस्पर व्यभिचारी जाति में सामानाधिकरण्य न होने पर भी नीलत्व-पीतत्वादि परस्पर व्यभिचारी जाति में सामानाधिकरण्य मानने में कोई बाधा नहीं है। अतः बाधकविरहरूप सत्तर्कप्रमाण से उन जातिओं के सामानाधिकरण्य की सिद्धि होने पर उसका केवल यह कह कर निराकरण नहीं हो सकता कि 'परस्परव्यभिचारी जाति का सामानाधिकरण्य कहीं अन्यत्र स्वीकृत नहीं है।' उन जातियों का सामानाधिकरण्य स्वीकृत है इसीलिये तो तार गकार में तारत्व कत्व का व्यभिचारी और मन्द ककार में कत्व तारत्व का व्यभिचारी होने पर भी कत्व और तारत्व इन दोनों का

तार ककार में सामानाधिकरण्य माना जाता है और उसी से ककार-गकारादि सभी तार वर्णों में ताराकार अनुगतबुद्धि की उपपत्ति हो सकती है। क्योंकि, एक ही तारत्व ककार-गकार आदि सब में विद्यमान होता है। परस्पर व्यभिचारी जातियों का सामानाधिकरण्य मान्य है इसीलिये मृत्तिका, पाषाण और सुवर्ण के बने हुये घट में 'घटः' ऐसी अनुगत प्रतीति संगत होती है। क्योंकि घटत्व मृत्तिका में या पाषाणघट में सुवर्णत्व का व्यभिचारी है और सुवर्णत्व कुण्डल-कटकादि में घटत्व का व्यभिचारी है, इसी प्रकार मृत्तिकात्व और पाषाणत्व घटेतरमृत्तिका और पाषाण में घटत्व का व्यभिचारी है, एवं घटत्व सुवर्ण के घट में मृत्तिकात्व-पाषाणत्व का व्यभिचारी है, फिर भी मृत्तिका और पाषाण के बने घटों में मृत्तिकात्व और पाषाणत्व के साथ घटत्व का सामानाधिकरण्य होता है। इस प्रकार चित्ररूप के सम्बन्ध में यह एक स्वतन्त्र मार्ग भी प्रतिष्ठित हो सकता है।

सत्यम्, एवमप्येकानेकवस्तुरूपाऽव्याहतावपि, सत्यामपि चित्रत्वग्राहकसामग्र्यां नीलभागावच्छेदेन 'इह न चित्रम्' इति प्रतीतेस्तत्तदवच्छेदेन पर्याप्ताऽपर्याप्ततया स्वरूपतोऽपि तस्यैकानेकात्मकस्य युक्तत्वात्। एवं हि चित्रप्रतिभासे नीलपीतादिमत्त्वग्रहहेतुत्वमपि न कल्पनीयम्, पनसमात्रदेशावच्छेदेन 'वनम्' इति बुद्ध्यभावस्येव नीलभागमात्रावच्छेदेन चित्रप्रतिभासाभावस्य विषयाभावादेवोपपत्तेः, तद्देशेनाऽचित्रादिधियश्च नयाधीनत्वात्।

[स्वतन्त्र मत की समालोचना, चित्ररूप की स्वरूपतः एकानेकरूपता]

इस स्वतन्त्र नवीन मत के सम्बन्ध में व्याख्याकार की यह विशेषोक्ति है कि-नीलपीतादिकपालों से उत्पन्न घट में, उक्तमत में उस घट के रूप में स्वरूपतः ऐक्य और नीलत्व-पीतत्वादि एक-एक रूप से अनेकत्व अव्याहत होने पर भी ऐक्य-अनेक्य दोनों रूप स्वरूपतः नहीं लब्ध होता है जब कि वस्तुस्थिति यह है कि दोनों रूप वहाँ स्वरूपतः हैं, क्योंकि यद्यपि केवल नीलभागावच्छेदेन चक्षुसंयोग होने पर भी चित्रत्वग्राहकसामग्री तो वहाँ निर्बाध है। जैसे-चित्रत्व ग्राहक सामग्री है चक्षुसंयुक्तसमवेतसमवायरूप संनिकर्ष और वह संनिकर्ष केवल नीलभागावच्छेदेन घट के साथ चक्षुसंयोग होने पर भी निर्बाध है क्योंकि चक्षुःसंयुक्त घट में जो रूप समवेत है उस में नीलत्व और नीलत्वपीतत्वादि की समष्टिरूप चित्रत्व दोनों ही समवेत हैं।-तथापि नीलभागावच्छेदेन चित्रत्वेन रूप की प्रतीति न होकर 'इह न चित्रम्' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस से यह सिद्ध होता है कि घट का उक्त व्याप्यवृत्ति रूप भी चित्रत्व-नीलत्वपीतत्वादि विभिन्नजाति की समष्टिरूप से एक देश में पर्याप्त नहीं होता। अतः वह स्वरूपतः एक है इसीलिये घट के सम्पूर्ण भागों में विद्यमान होने से एक देश में पर्याप्त नहीं होता। और वह अनेक भी है, क्योंकि केवल नीलभागावच्छेदेन चक्षुसंनिकर्ष होने पर 'इह नीलम्' इस प्रकार वह रूप नीलत्वादि एक एक रूप से घट के एक-एक भाग मात्र में भी उपलब्ध होता है, इस उपलब्धि से एक एक भाव में नीलत्वादि एक एक रूप से उसकी पर्याप्तता सिद्ध होती है। इस प्रकार उक्त घट का रूप नीलत्वादि एक एक रूप से स्वरूपतः भी अनेकात्मक है-इस प्रकार उसकी स्वरूपतः एकानेकोभयात्मकता निर्विवाद है।

उक्त घटगतरूप के उक्त रीति से स्वरूपतः एकानेकात्मक सिद्ध होने का एक सत् फल यह भी है कि चित्ररूप के प्रतिभास में नीलपीतादिरूपग्रह को कारण मानने की भी आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि जसे वन के विभिन्न जातीय वृक्षों के समूहरूप होने से पनस=एक विशेषज

वृक्षावच्छेदेन चक्षुर्संनिकर्ष होने पर तदवच्छेदेन समष्टिरूप वन का अभाव होने से उसमें 'वनम्' इस बुद्धि का अभाव होता है, इसी प्रकार उक्त घट में नीलभागमात्रावच्छेदेन 'इह चित्रम्' इस प्रकार के चित्रप्रतिभास का अभाव भी तदवच्छेदेन चित्ररूप विषय के अभाव से ही उपपन्न हो जाता है। किन्तु नीलभागमात्रावच्छेदेन जो 'इह न चित्रम्' अथवा 'इह नीलम्' इस प्रकार जो अचित्रत्व-नीलत्वादि की बुद्धि होती है वह नय द्वारा सम्पन्न होती है अर्थात् नीलत्वादिरूप एक एक की अपेक्षा से उस भाग में रूप में अचित्रत्व विद्यमान होने के कारण एक एक भाग में अचित्रत्व की बुद्धि होती है। और नीलत्वात्मक एक रूप से उस भाग में उस रूप की पर्याप्तता की अपेक्षा से 'इह नीलम्' यह बुद्धि होती है।

तदिदमाह **सम्मतिटीकाकारः**-"अत एवैकानेकरूपत्वाच्चित्ररूपस्यैकावयवसहितेऽवयविन्युपलभ्यमाने शेषावयवाऽऽवरणे चित्रप्रतिभासाभाव उपपत्तिमान्, सर्वथा त्वेकरूपत्वे तत्रापि चित्रप्रतिभासः स्यात्, अवयविव्याप्त्या तद्रूपस्य वृत्तेः। न चाऽवयवनानारूपोपलम्भसहकारीन्द्रियमवयविनि चित्रप्रतिभासं जनयति, इति तत्र सहकार्यभावाच्चित्रप्रतिभासानुत्पत्तिरिति **वाच्यम्**, अवयविनोऽप्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्। न हि चाक्षुषप्रतिपत्त्याऽगृह्यमाणरूपस्यावयविनो वायोरिव ग्रहणं दृष्टम्। न च चित्ररूपव्यतिरेकेणापरं तत्र रूपमात्रमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्त्या पटग्रहणं भवेत्" इत्यादि। तदेवं चित्ररूपवत् सिद्धं नित्याऽनित्यत्वादिरूपेणैकानेकं वस्त्विति परिभावनीयं सुधीभिः। विस्तरस्तु **स्याद्वादरहस्ये** ॥३७॥

[चित्ररूप मीमांसा का उपसंहार]

व्याख्याकार ने इस संदर्भ में सम्मतिटीकाकार के उक्त तथ्य के संवादी वचन को उद्धृत किया है जिसका अर्थ इस प्रकार है-चित्र रूप के एकानेकरूप होने से एकावयवसहित अवयवि की उपलब्धि के समय अन्य समस्त अवयवों के आवृत रहने पर अवयवी में चित्रप्रतिभास का अभाव उपपन्न होता है। यदि चित्ररूप सर्वथा एक होता तो घट के एक भाग में भी चित्रत्वेन उस का प्रतिभास होता, क्योंकि समस्त घट में विद्यमान होने से सर्वथा एकरूप घटत्व जैसे प्रत्येक घटव्यक्ति में पर्याप्त होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण अवयवी में व्याप्त चित्ररूप भी सर्वथा एकरूप होने पर अवयवी के प्रत्येक भाग में भी पर्याप्त होता।

यदि यह कहा जाय कि 'उक्त अवयवी में जो केवल नीलभागावच्छेदेन चक्षुर्संनिकर्ष होने पर चित्ररूप का प्रतिभास नहीं होता वह इसलिये नहीं कि उसमें चित्ररूप नहीं है, अपितु इसलिये नहीं होता कि इन्द्रिय अवयवगत विजातीय रूपों के उपलम्भ से सहकृत होकर ही अवयवी में चित्रप्रत्यक्ष का जनक होता है। अतः नीलभागमात्रावच्छेदेन चक्षुर्संनिकर्ष होने पर अवयवगत विजातीयरूपों के प्रत्यक्षरूप सहकारी के अभाव से चित्रप्रतिभास की अनुत्पत्ति होती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर एकदेशमात्रावच्छेदेन चक्षुर्संनिकर्ष होने पर अवयवी की भी उपलब्धि न हो सकेगी क्योंकि सहकारी के अभाव से उस में चित्ररूप की उपलब्धि हो नहीं सकती और अन्य कोई रूप उसमें रहता नहीं जिसके साथ उसकी उपलब्धि हो। तथा यह बात स्वीकार्य नहीं हो सकती कि 'रूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष न होने पर भी अवयवी का चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा'-क्योंकि, जैसे रूप का प्रत्यक्ष न होने

से वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार रूप को छोड़कर किसी अन्य अवयवी का भी प्रत्यक्ष दृष्ट नहीं है।-'चित्ररूप का ग्रहण न होने पर भी किसी अन्य रूप के साथ अवयवी का ग्रहण हो सकता है'-यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभिन्न रूपवान् अवयवों से उत्पन्न अवयवी में चित्ररूप से भिन्न कोई रूप नहीं होता जिससे कि उस रूप के प्रत्यक्ष के साथ घटादि उक्त प्रकार के अवयवी का ग्रहण हो सके।"

उपरोक्त संवादी वचन का उद्धरण देते हुए अन्त में व्याख्याकार ने यह कहा है कि बुद्धिमानों को इस तथ्य की ओर ध्यान देना चाहिये कि एकानेक चित्ररूप के समान नित्यत्व-अनित्यत्व आदि रूप से भी प्रत्येक वस्तु एकानेकात्मक होती है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विचार व्याख्याकार के स्याद्वादरहस्य नामक ग्रन्थ में प्राप्त है।

३८ वीं कारिका में क्षणिकत्व का साधक क्षयेक्षणरूप चतुर्थ हेतु का निराकरण किया गया है-

'क्षयेक्षणात्' इति तुर्यहेतुं दूषयन्नाह—

मूलम्—अन्ते क्षयेक्षणं चाद्यक्षणक्षयप्रसाधनम्।
तस्यैव तत्स्वभावत्वाद्युज्यते न कदाचन ॥३८॥

अन्ते क्षयेक्षणं च=अन्ते नाशदर्शनं च, आद्यक्षणक्षयप्रसाधनं=प्रथमक्षणे वस्तुनः सर्वथा नाशस्यानुमापकं तदुक्तम्, तस्यैव=वस्तुनः तत्स्वभावत्वात्=अन्त एव क्षयस्वभावत्वात्, न युज्यते कदाचन तत्, अन्यथाऽतत्स्वभावत्वापत्तेः ॥३८॥

[अन्त में क्षयदर्शन इस चौथे हेतु की आलोचना का प्रारम्भ]

भावमात्र में क्षणिकत्व को सिद्ध करने की बौद्धों की एक युक्ति यह है कि घट-पटादि भाव पदार्थों का अन्त में नाश देखा जाता है, इस से यह अनुमान होता है कि भाव नश्वर स्वभाव है। जब नश्वरत्व उसका स्वभाव है तो वह भाव किसी भी क्षण स्वभाव से मुक्त नहीं हो सकता। अतः जिस क्षण में घटपटादि के नाश का दर्शन होता है उसके पूर्व क्षणों में भी उसका नाश होता है। इस प्रकार भाव की क्षणिकता अर्थात् प्रतिक्षण नाशग्रस्तता सिद्ध होती है। अर्थात् भाव अपनी उत्पत्ति-क्षण से लेकर और अपने अन्तिम क्षण तक अर्थात् अपने नाशदर्शनक्षण के अव्यवहितपूर्वक्षण तक सम्पूर्ण क्षणों में नाशग्रस्त होता है। यद्यपि ऐसा मानने में यह शंका होती है कि भाव का उत्पत्तिक्षण भाव का स्थितिक्षण भी होता है क्योंकि 'आद्य क्षण का सम्बन्ध' ही उत्पत्ति है और यही उस क्षण में उसकी स्थिति है। अतः उत्पत्तिक्षण में भी भाव को नाशग्रस्त मानने पर एक ही क्षण में परस्परविरोधी स्थिति और नाश का एक वस्तु में समावेश प्रसक्त होता है।"-किन्तु इस का उत्तर यह है कि यदि भाव अपने उत्पत्तिक्षण में अनश्वरस्वभाव होगा तो कालान्तर में भी उसके उस स्वभाव के अनुवर्त्तन की प्रसक्ति होने से अन्त में उसके नाशदर्शन की अनुपपत्ति होगी। अतः उत्पत्ति-क्षण में उसकी नश्वरता अन्त में नाशदर्शन की अन्यथानुपपत्ति से सिद्ध है और उसके दर्शन से उस क्षण में उसकी स्थिति भी सिद्ध है अतः दोनों प्रमाणसिद्ध होने से उनमें विरोध असिद्ध है। इस प्रकार बौद्धमतानुसार भाव अपने उत्पत्तिक्षण में भी नाशग्रस्त होता है। किन्तु बौद्धसम्मत क्षणिकत्व

स्वोत्पत्ति के अव्यवहित उत्तरक्षण में उत्पन्न होने वाले ध्वंस के प्रतियोगित्वरूप में प्रसिद्ध है । इस प्रसिद्धि का आधार भाव की उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण में भाव के ध्वंस की उत्पत्ति है और वह ध्वंस उत्तरभावात्मक है । किन्तु अन्त में नाशदर्शन की अन्यथानुपपत्ति से भाव अपने उत्पत्तिक्षण में भी जिस नाश से ग्रस्त होता है वह नाश अजन्य है जो 'निवृत्ति' शब्द से व्यवहृत होता है, अतः भाव प्रतिक्षण नश्वर है इसका अर्थ है भाव प्रतिक्षण निवृत्त है । इस प्रतिक्षणनिवृत्ततारूप क्षणिकता के ही साधनार्थ 'अन्त में नाशदर्शन' रूप हेतु का उपन्यास किया गया है ।

इसके विरुद्ध ग्रन्थकार का कहना यह है कि वस्तु का स्वभाव यह है ।-'अन्त में ही नष्ट होना' अतः उससे भाव का प्रतिक्षण नश्वरत्व कदापि नहीं सिद्ध हो सकता । यदि आद्यक्षण में भी वह नाशस्वभाव होगा तो उसके नाश को अदृश्य स्वभाव मानना होगा क्योंकि आद्यक्षण में उसके नाश का दर्शन नहीं होता और जब वह अदृश्यनाशस्वभाव हुआ तब उसमें दृश्यनाशस्वभावत्वाभाव की आपत्ति होगी, फलतः अन्त में भी नाश के दर्शन की उपपत्ति न हो सकेगी ।।३८।।

३९वीं कारिका में पूर्वकारिका में उक्त विषय का समर्थन करते हुये उसके विरुद्ध बौद्धाभिप्राय का उल्लेख किया गया है—

एतदेव समर्थयन्नाह—

मूलम्—आदौ क्षयस्वभावे च तत्रान्ते दर्शनं कथम् ? ।
तुल्यापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भाद्यथोदितम् ॥ ३९ ॥

आदौ-प्रथमक्षण एव, **क्षयस्वभावे च**-नाशस्वभावे च, **तत्र**-वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने, **अन्ते दर्शनं कथम्** ? आदावेव किं न तद्दर्शनम् ? इति भावः । पराभिप्रायमाह-**तुल्यापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात्**-सदृशोत्तरोत्तरक्षणप्रतिरोधात् अन्त एव तद्दर्शनम् , नादौ, प्रतिबन्धकसत्त्वादिति । अत्र स्वाभियुक्तसम्मतिमाह-**यथोदितं** पूर्वग्रन्थे वृद्धैः ॥ ३९ ॥

[नूतन नूतन उत्पत्ति से नाश का अदर्शन—बौद्ध]

यदि भाव को प्रथमक्षण में ही नाशस्वभाव माना जायगा तो जब प्रथमक्षण में उसके नाश का दर्शन नहीं होता तो अन्त में उसका दर्शन कैसे हो सकेगा ? अर्थात् अन्त में नाशस्वभाव के सदृश यदि आद्यक्षण में भी भाव नाशस्वभाव होगा तो आद्यक्षण में ही उस नाश का दर्शन क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न के उत्तर में बौद्ध का यह कथन है कि पूर्वक्षण के सदृश उत्तरोत्तरक्षणों की उत्पत्ति होती है । उन सदृश क्षणों से प्रतिरोध होने के कारण प्रारम्भ में नाश का दर्शन न होकर अन्त में ही होता है, क्योंकि प्रारम्भ में सदृशोत्तरक्षण रूप दर्शन का प्रतिबन्धक उपस्थित रहता है और अन्त में उक्त प्रतिबन्धक न होने से नाश का दर्शन होता है । यह उक्त प्रश्न का उत्तर आधुनिक नहीं है किन्तु इस उत्तर में पूर्वाचार्यों की भी सम्मति है क्योंकि उन के ग्रन्थों में यह बात कही गई है ।।३९।।

४० वीं कारिका में बौद्धमत के पूर्वाचार्य के उस कथन को उद्धृत किया गया है जिसका संकेत पूर्व कारिका में दिया गया है--

किमुदितम् ? इत्याह–

मूलम्—'अन्ते क्षयेक्षणादादौ क्षयोऽदृष्टोऽनुमीयते ।
सदृशेनाभिभूतत्वात्तद्ग्रहाद्धि तदग्रहः' ॥४०॥

अन्ते क्षयेक्षणात्–अन्ते नाशदर्शनात् आदौ=उत्पत्तिकाले, क्षयः=नाशः, अदृष्टोऽप्यनुमीयते, अनश्वरस्यान्तेऽपि तदयोगात् । कथं तर्हि प्राक् तदग्रहः ? इत्याह–सदृशेन=तुल्यक्षणेन, अभिभूतत्वात्; सद्ग्रहाद्धि=सदृशग्रहादेव, तदग्रहः=आद्यक्षयाग्रहः । अत्र 'घटोत्पत्तिक्षणो घटध्वंसाधिकरणः, घटध्वंसाधिकरणक्षणपूर्वक्षणत्वात्' इत्यनुमाने घटोत्पत्तिप्राक्क्षणे व्यभिचारः, हेतौ घटोत्पत्त्यपूर्वत्वविशेषणे च संतानेन व्यभिचार इति दूषणं स्फुटमेवेति ॥४०॥

[अन्तिम नाशदर्शन में बौद्ध के प्राचीन ग्रन्थ की सम्मति]

"भाव का अन्त में नाश देखा जाता है । उस नाशदर्शन से उत्पत्तिकाल तथा नाशदर्शनकाल के पूर्व सभी क्षणों में भाव के नाश का दर्शन न होने पर भी उसका अनुमान होता है क्योंकि यदि उत्पत्तिक्षण तथा द्वितीयादिक्षणों में उसको अनश्वर माना जायगा तो अन्त में भी उसका नाश न हो सकेगा । इस सम्बन्ध में इस प्रश्न का कि 'यदि उत्पत्तिक्षण में तथा द्वितीयादिक्षणों में भी भाव का नाश होता है तो उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?' उत्तर यह है कि उत्पत्तिकाल को उत्तरक्षण में पूर्वोत्पन्न भाव के सदृश दूसरे क्षणिकभाव की उत्पत्ति जैसे होती है इसी प्रकार द्वितीयादिक्षण में भी पूर्वोत्पन्न भाव के सदृश अन्य भाव की उत्तर क्षणों में उत्पत्ति होती रहती है । इन सदृशक्षणों के दर्शन से ही पूर्व में होनेवाले भावनाश के दर्शन का प्रतिबन्ध हो जाता है ।"

इस प्रसङ्ग में व्याख्याकार ने भाव के प्रथम-द्वितीयादि क्षणों में बौद्धाभिमत भाव नाश के अनुमान का प्रयोग कर उसका निराकरण बताया है । बौद्धाभिमत अनुमान का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है कि 'घट का उत्पत्तिक्षण घटध्वंस का अधिकरण है, क्योंकि वह घटध्वंसाधिकरण क्षण का पूर्वक्षण है ।' इसी प्रकार घट के द्वितीयादिक्षणों में भी अनुमान का प्रयोग हो सकता है ।–किन्तु इस अनुमान में व्यभिचार है, क्योंकि घटोत्पत्ति के पूर्व का क्षण भी घटध्वंसाधिकरणक्षण का पूर्व क्षण है किन्तु वह घटध्वंसाधिकरण नहीं है । यदि इस व्यभिचार के वारणार्थ हेतु में 'घटोत्पत्ति के अपूर्वत्व' का विशेषणविधया प्रवेश किया जाय तो घटोत्पत्ति के पूर्वक्षण में व्यभिचार का वारण हो जाने पर भी घटसन्तान में व्यभिचार दोष अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि सन्तान में घटोत्पत्ति का अपूर्वत्व और घटध्वंसाधिकरण क्षण का पूर्वक्षणत्व विद्यमान है, किन्तु घटध्वंसाधिकरणत्व सिद्ध नहीं है ।।४०।।

४१ वीं कारिका में प्रथमद्वितीयादिक्षणों में भावनाश के अग्रह के बौद्धोक्त हेतु का निराकरण किया गया है ।–

तदग्रहहेतुं दूषयन्नाह ग्रन्थकारः–

मूलम्—एतदप्यसदेवेति सदृशो भिन्न एव यत् ।
भेदाऽग्रहे कथं तस्य तत्स्वभावत्वतो ग्रहः ? ॥ ४१ ॥

एतदपि-परोक्तम्, **असदेव**=अनुपपद्यमानार्थकमेव, **यद्**=यस्मात्, **सदृशो भिन्न एव**=भेदघटित एव। तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वं हि सादृश्यम्। तद्वृत्तिश्च धर्मो विधिरूपो निषेधरूपो वेत्यन्यदेतत्। ततः किम्? इत्याह-भेदाग्रहे सति कथं **तस्य**=सदृशस्य ग्रहः?। कुतः इत्याह-**तत्स्वभावत्वतः**=भेदघटितस्वभावत्वात्। न च तद्घटितं तदग्रहे गृह्यते, जलत्वाग्रहे जलत्वस्वभावत्वाऽग्रहदर्शनात् ॥४१॥

[भेदग्रह न होने पर सादृश्य का अग्रहण]

बौद्ध के इस कथन का कि 'सदृशग्रह से प्रथमादि क्षणों में भावनाश का अग्रह होता है'-अर्थ ही अनुपपन्न है क्योंकि सदृशभाव भेदघटित ही होता है। तात्पर्य यह है कि तत्सदृश वही है जो कि तभिन्न हो व तद्गतधर्माश्रय हो। अर्थात् तत् से भिन्न होते हुये तन्निष्ठधर्म की आश्रयता ही सादृश्य है, हाँ, यह अन्य एक बात है कि सादृश्य के स्वरूप में प्रविष्ट तन्निष्ट धर्म विधिरूप हो या निषेधरूप हो। अर्थात् सादृश्य के विवरण में तन्निष्ठधर्म का विधि अथवा निषेध-किसी एक निश्चित रूप से निवेश न होकर सामान्यतः तन्निष्ठधर्मत्वरूप से निवेश है। स्थिरवादी के मत में यह धर्म भावात्मक होता है क्योंकि पूर्वोत्तरक्षणों के साथ सम्बन्ध रूप भावात्मकधर्म उस मत में प्रामाणिक है किन्तु बौद्धमत में भावात्मक सभी अर्थ क्षणिक होने से यह धर्म निषेधात्मक=अतद्व्यावृत्ति रूप होता है। इस प्रकार सादृश्य जब नियम से भेदघटित है तब भेदग्रह न होने पर सदृश का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि जो जिस से घटित होता है वह उसके अग्रह में गृहीत नहीं होता जैसे जलत्व का अग्रह रहने पर जलत्वघटित जलस्वभावत्व का भी अग्रह देखा जाता है ॥४१॥

४२ वीं कारिका में उक्त आक्षेप के बौद्धाभिमत उत्तर को प्रस्तुत करते हुये उस में भी दोष बताया गया है-

पराभिप्रायमाशङ्कते—

मूलम्—तदर्थनियतोऽसौ यद्भेदमन्याग्रहात्ति तत्।
न गृह्णातीति चेत्तुल्यः सोऽपरेण कुतो गतिः? ॥४२॥

तदर्थनियतः=अधिकृतैकक्षणार्थविषय इत्यर्थः, **असौ**=ग्रहः सदृशपरिच्छेदः, **यद्**=यस्मात्, **भेदं**=नानात्वलक्षणम्, **तत्**=तस्मात्, **अन्याऽग्रहात्**=तदा प्रतियोग्यग्रहणादेव न गृह्णाति, तत्त्वतस्तत्स्वस्यैव स वस्तुतः सदृशग्रहे। एवं हि तन्नाशाग्रहप्रतिबन्धको दोषः, न तु सदृशत्वग्रहोऽप्यपेक्षितः। न हि शुक्तौ रजतसारूप्यग्रहोऽप्युल्लिखितरजतभेद एव रजतत्वभ्रमजनकः, रजतभेदग्रहे रजतत्वभ्रमस्यैवाऽभावात्, किन्तु स्वरूपत एव, तद्वदत्रापीति भावः। अत्र शुक्तौ रजतसहचरितचाकचिक्यादिधर्मवत्त्वग्रहादेव रजतभ्रमः, प्रकृते तु सदृशदर्शनं निर्विकल्पतयाऽसत्कल्पं न नाशग्रहविरोधि, अतिप्रसङ्गात्। अस्तु वा यथाकथञ्चिदेतत्, तथापि सादृश्यस्य दुर्ग्रहत्वात् तदुक्तेरेवानुपपत्तिः, इत्यभिप्रायवानुत्तरयति-इति **चेत्**?=यथुक्ताभिप्रायवान्

भवान् तदा सः=गृह्यमाणः क्षणः, अपरेण=प्राग्गृहीतेन क्षणेन, तुल्यः=सदृशः। 'इति' इतिशेषः कुतो गतिः=कथं परिच्छित्तिः ?-उपायाभावाद् न कथञ्चिदित्यर्थः ॥४२॥

[भेदग्रह न होने पर भी सादृश्यग्रह शक्य है-बौद्ध आशंका]

उक्त आक्षेप के उत्तर में बौद्धों का यह कहना है कि सदृश का निश्चय नियम से प्रस्तुतक्षणविषयक होता ही है। अर्थात् उत्तरक्षण में पूर्वक्षण के सादृश्य का ज्ञान, उत्तरक्षण में पूर्वक्षण के भेद और पूर्वक्षणवृत्तिधर्म का ग्राहक यदि माना जाय तो भेद के विशेषणरूप में पूर्वक्षण का भी ग्राहक मानना ही पड़ेगा किन्तु वह युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि उक्तज्ञान उत्तरक्षण में होता है और उस क्षण में भेद के पूर्वक्षणरूप प्रतियोगी का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि उसक्षण में पूर्वक्षण अविद्यमान है। तथापि सदृशग्रह के विषयभूत उत्तरक्षण में पूर्वक्षण का भेद वस्तुतः विद्यमान होता है। इस प्रकार वस्तुतः तद्भिन्न में तद्भेद को ग्रहण न करने वाला भी 'तन्निष्ठधर्मग्रह' रूप सदृशग्रह तन्नाशग्रह में शक्य है और वही प्रतिबन्धक दोष होता है। तन्नाशग्रह के प्रतिबन्ध के लिये सदृशत्व के पूर्ण-स्वरूप का यानी भेदघटित ज्ञान अपेक्षित नहीं होता।

[शुक्ति में रजतसादृश्य ज्ञान भेदज्ञानमूलक नहीं होता]

तथा, यह कल्पना बौद्धों की कोई अपूर्व कल्पना नहीं है किन्तु यह स्थिरवादी को भी मान्य है। जैसे, शुक्ति में रजत सादृश्य का ज्ञान शुक्ति में रजतत्वभ्रम का जनक होता है। किन्तु वह ज्ञान रजतभेद का विषय न करके रजतवृत्तिचाकचिक्यरूप धर्म का ही ग्रहण करता है। क्योंकि यदि उस ज्ञान में शुक्ति में रजतभेद का भी भान माना जायेगा तो उसके अनन्तर शुक्ति में रजतत्वभ्रम ही न हो सकेगा क्योंकि रजतभेदज्ञान रजतत्वज्ञान का विरोधी होता है। अतः जैसे रजत का भेद स्वरूपतः तथा रजतवृत्तिचाकचिक्यधर्मज्ञानतः, रजतत्वभ्रम का जनक होता है उसी प्रकार उत्तरक्षण में पूर्व क्षण का भेद स्वरूपतः, तथा पूर्वक्षणवृत्तिधर्म ज्ञानतः, पूर्वक्षण के नाशग्रह का प्रतिबन्धक हो सकता है।

[बौद्ध मत में अन्त में भी नाशदर्शन की अनुपपत्ति]

बौद्ध की उपरोक्त आशंका के समाधान में व्याख्याकार का यह सूचन है कि-शुक्ति में रजत-निष्ठ चाकचिक्यादि धर्म के विशिष्टज्ञान से ही शुक्ति में रजतत्वभ्रम की उत्पत्ति होती है, किन्तु प्रकृत में, पूर्वक्षण के सदृश उत्तरक्षण का दर्शन निर्विकल्प यानी विशिष्टाऽविषयक होने से असत्तुल्य होता है, इसलिये वह नाशग्रह का विरोधी नहीं हो सकता क्योंकि विशिष्टाऽविषयक असत्तुल्यज्ञान को यदि नाशग्रह का विरोधी माना जायगा तो अन्तिमसदृक्षण के उत्तरक्षण में जो विसदृशदर्शन होता है वह भी विशिष्टाऽविषयक होने से असत्तुल्य होते हुये भी नाशग्रह का विरोधी हो जायगा। इस प्रकार विसदृश-क्षणदर्शन में भी नाशग्रह के विरोध का अतिप्रसङ्ग होने से अन्त में भी नाशदर्शन की अनुत्पत्ति होगी।

[सादृश्यग्रह दुःशक्य होने से बौद्ध कथन अनुचित]

यदि बौद्ध की ओर से किसी प्रकार सदृशदर्शन की नाशग्रहविरोधिता और विसदृशदर्शन में नाशग्रह अविरोध का उपपादन किया जाय अर्थात् यह कहा जाय कि सदृशदर्शन विशिष्टाविषयक होने से अनुभवारूढ न होने के कारण असत्तुल्य होने पर भी वस्तुगत्या सदृशविषयक होने से सादृश्य के प्रतियोगीक्षण के नाशग्रह का प्रतिबन्धक होता है, किन्तु विसदृशक्षण का दर्शन विशिष्टविषयक

होने से असत्तुल्यतया सदृशदर्शनतुल्य होने पर भी वस्तुगत्या सदृशविषयक न होने से सादृश्य के प्रतियोगी के नाशग्रह का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता।–तब भी बौद्धमत में यह दोष दुर्निवार है कि सादृश्य दुर्ग्रह होने के कारण 'पूर्वक्षण के नाश का आग्रह सदृशग्रहहेतुक है' यह कथन ही अनुपपन्न है। आशय यह है कि जो विषय अज्ञात होता है उसका कथन नहीं हो सकता क्योंकि कथन शब्दरूप है और शब्दप्रयोग में शब्दार्थज्ञान कारण होता है। इसी आशय को ग्रन्थकार ने प्रस्तुत कारिका के उत्तरार्ध से सूचित किया है, जिसका अर्थ यह है कि 'गृह्यमाणक्षण पूर्वगृहीत के सदृश है' यह ज्ञान बौद्धमत में कैसे हो सकता है? क्योंकि पूर्वक्षण का सादृश्य पूर्वक्षणभेदघटित है और उत्तरक्षणग्रहणकाल में पूर्वक्षण के विद्यमान न होने से पूर्वक्षण का ग्रहण न होने के कारण उसके भेद से घटित सादृश्यज्ञान का कोई उपाय न होने से 'उत्तरक्षण पूर्वक्षण के सदृश है' यह ज्ञान किसी प्रकार सम्भव नहीं है।।४२।।

४३ वीं कारिका में उत्तरक्षण में पूर्वक्षण के सादृश्यज्ञान न होने से सम्भावित दोष का प्रतिपादन किया गया है–

तदगतौ को दोषः? इत्यत आह–

मूलम्—तथागतेरभावे च वचस्तुच्छमिदं ननु।
सदृशेनावरुद्धत्वात्तद्ग्रहाद्धि तदग्रहः॥ ४३॥

तथागतेः=भेदपरिच्छित्तेः अभावे च सति, इदं=प्रागुक्तम् भवतो वचः, 'ननु' इत्याक्षेपे तुच्छं=असारम्, अन्वयाऽबोधकत्वात्। किम्? इत्याह-यदुत 'सदृशेनावरुद्धत्वात् तद्ग्रहाद्धि तदग्रहः' [का० ४०] इति॥ ४३॥

पूर्वक्षणभेदघटितपूर्वक्षणसादृश्यज्ञान का अभाव होने पर बौद्ध का यह पूर्वोक्त वचन कि– 'तुल्य उत्तरक्षण से अवरुद्ध हो जाने के कारण पूर्वक्षण के नाश का अग्रह पूर्वक्षणसदृश उत्तरक्षणग्रह से होता है'–निःसार हो जायगा, क्योंकि वह शाब्दबोध का जनक न हो सकेगा।। ४३।।

बौद्ध की ओर से यदि यह आशंका की जाय कि 'उत्तरक्षण के दर्शन में पूर्वक्षण के भेद का उल्लेख न होने पर भी उत्तरक्षण के सविकल्पकग्रह में पूर्वक्षण के भेद का उल्लेख होने से सादृश्य का विशिष्टग्रह सम्भव है अतः पूर्वक्षणसदृश उत्तरक्षण से पूर्वक्षण के नाश का अग्रह होता है इस वचन की अनुपपत्ति कैसे हो सकती है?' तो इस आशंका का उत्तर का० ४४ में दिया गया है –

दर्शने भेदानुल्लेखेऽपि विकल्पे तदुल्लेखात् सादृश्यविकल्पसंभवात् कथमुक्तवचसोऽनुपपत्तिः? इत्याशङ्कायामाह–

मूलम्—भावे वाऽस्या बलादेकमनेकग्रहणात्मकम्।
अन्वयि ज्ञानमेष्टव्यं सर्वं तत्क्षणिकं कुतः?॥ ४४॥

भावे वाऽस्याः=भेदगतेः बलात्=अस्वरसादपि, अनेकग्रहणात्मकं=पूर्वापरग्रहणरूपम् एकमन्वयि ज्ञानमेष्टव्यम्, अन्यथा भेदग्रहदशायां प्रतियोगिग्रहाभावात् तद्ग्रहानुपपत्तेः, प्रदीर्घपर्यालोचनानुपपत्तेश्च। यत एवम् तत्=तस्मात् सर्वं क्षणिकं कुतः? उक्तज्ञानस्यैवान्वयिकत्वात्?॥ ४४॥

[भेदज्ञान स्वीकारने में अन्वयी ज्ञान सिद्धि से क्षणिकत्व भंगापत्ति]

हठपूर्वक स्वाभिमत न होने पर भी यदि उत्तरक्षण में पूर्वक्षण के भेद का ज्ञान माना जायगा तो 'उत्तरक्षण पूर्वक्षण सदृश है' यह ज्ञान अनेकग्रहण रूप अर्थात् पूर्वक्षण-उत्तरक्षणग्राही ज्ञानरूप हो जायगा और ऐसा होने पर ज्ञान का पूर्व और उत्तर क्षणों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान को विभिन्न-कालान्वयी मानना होगा क्योंकि ऐसा न मानने पर भेदज्ञानकाल में पूर्वक्षणरूप प्रतियोगी का ज्ञान न होने से पूर्वक्षणभेदज्ञान अनुपपन्न हो जायगा। एवं ज्ञान को विभिन्नकालान्वयी न मानने पर प्रदीर्घ पर्यालोचन अर्थात् लोकानुभवसिद्ध कतिपयकालसम्बन्धी ज्ञान की भी अनुपपत्ति होगी, तो इस प्रकार जब उक्त ज्ञान एक विभिन्नकालान्वयी भावात्मक पदार्थ सिद्ध हो गया तो सभी भाव क्षणिक होते हैं यह कैसे सिद्ध हो सकता है ? ॥४४॥

४५वीं कारिका में प्रसङ्गसङ्गतिवश पूर्वोक्त दोष से भिन्न दोष का निरूपण किया गया है-

प्रसङ्गात् क्षणिकत्वे दोषान्तरमाह—

मूलम्—ज्ञानेन गृह्यते चार्थो न चापि परदर्शने ।
तदभावे तु तद्भावात्कदाचिदपि तत्त्वतः ॥४५॥

न च **परदर्शने**=बौद्धमते, **ज्ञानेनार्थोऽपि**=नीलादिरपि, **गृह्यते**=ग्रहीतुं शक्यते, **तत्त्वतः**=परमार्थतः कदाचिदपि । कुतः ? इत्याह-**तदभावे तु तद्भावात्**=नीलाद्युत्पत्त्यनन्तरमेव ज्ञानोत्पत्तेः अर्थ-ज्ञानयोर्हेतु-हेतुमद्भावाभ्युपगमात्, तस्य च पौर्वापर्यनियतत्वात् । एवं च वर्तमानसंबन्धित्वावगमोऽर्थस्य क्षणद्वयावस्थितित्वं विना दुर्घटः ।

न च जनकोऽर्थो वर्तमानकालतया नात्मसंविदि प्रतिभाति, किन्तु तस्यां तत्समानकालभाव्याकारः, तस्य च तथावभासाद् वर्तमानार्थाधिगमोक्तिरिति वाच्यम्, ज्ञानकाले बहिरव-भासमानस्य नीलादेर्ज्ञानाकारत्वाऽसिद्धेः, अन्यथाऽन्तरवभासमानस्य सुखादेरप्यर्थाकारता-प्रसक्तिः, इति ज्ञानसत्त्वोत्सीदेत् ।

न च गृह्यमाणस्य ज्ञानसमानसमयस्य जनकता, जनकस्य च क्षणिकत्वेन वर्तमानतयाऽतीतस्य न प्रतिभासः, इति समारोपिताकारग्राहि सर्वमेव ज्ञानमिति **सांप्रतम्**, नील-द्विचन्द्र-ज्ञानयोरविशेषापत्तेः । न च बाह्यार्थवादिना तयोरविशेषोऽभ्युपगन्तव्यः, प्रमाणा-ऽप्रमाण-विभागविलयप्रसक्तेः । न च ज्ञानार्थयोरेक-सामग्रीजन्ययोः सहभावित्वेन वर्तमानग्रहणं क्षणि-कत्वेऽपि वैभाषिकमताश्रयणेनाभ्युपगन्तव्यम्, क्रियानियमस्य कर्मशक्तिनिमित्तत्वेन व्यवस्था-पितत्वादिति ॥ ४५ ॥

[क्षणिकवाद में अर्थ ग्रहण की अनुपपत्ति]

बौद्धमत के अनुसार भाव को क्षणिक मानने पर ज्ञान से नील आदि पदार्थों का भी तत्त्वतः ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि नीलादि का उत्पत्ति के अनन्तर ज्यों ही बौद्धमतानुसार नीलादि का

नाश हो जाता है, त्यों ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है क्योंकि अर्थ और ज्ञान में हेतु-हेतुमद्भाव बौद्धमत में भी मान्य है। यतः हेतु-हेतुमद्भाव उन्हीं पदार्थों में होता है जिन में पूर्वापरभाव होता है, अतः अर्थ का वर्तमानसम्बन्धित्वरूप से जो 'अयं नीलः' इत्यादि रूप में ज्ञान होता है वह नीलादि को क्षणद्वय-तक स्थायी माने बिना नहीं उपपन्न हो सकता, क्योंकि ज्ञान का वर्तमानक्षण नीलादि का द्वितीयक्षण होता है। अतः उस क्षण में नीलादि के रहे बिना इसका तत्क्षणसम्बन्धित्वरूप से ज्ञान कथमपि सम्भव नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि–'इन्द्रियजन्य ज्ञान में उसके कारणभूत अर्थ का वर्तमानकालीनत्वरूप से भान नहीं होता अपितु ज्ञान के उत्पत्तिकाल में जो ज्ञान में अर्थ का समान आकार उत्पन्न होता है उसी का भान होता है। उस आकार का वर्तमानत्वरूप से भान होने से ही उस ज्ञान को वर्तमानत्वेन अर्थग्राही ज्ञान कहा जाता है।'-यह समीचीन नहीं है क्योंकि ज्ञानकाल में नीलादि बाह्यदेश से सम्बद्ध होकर भासित होता है। क्योंकि 'अयं नीलः' इसप्रकार इदम्त्वरूप से ही नील के भान का उदय होता है और इदन्त्व पुरोदेशसम्बन्धरूप ही है, अतः उसमें ज्ञानाकारता असिद्ध है। यदि अन्तः अवभासमान ज्ञान को ही बाह्य अर्थाकार माना जायगा तो अन्तः अवभासमान होने की दृष्टि से ज्ञान और सुखादि में कोई अन्तर न होने से सुखादि में भी बाह्यार्थ की समानकारता सिद्ध हो जायगी। फलतः बाह्यार्थ और तत्प्रयुक्त सुखादि के कारणरूप बाह्यार्थ के ज्ञान का उच्छेद हो जायेगा।

यदि इस दोष के भय से यह कहा जाय कि-'ज्ञान के जनकभूत अर्थ को ज्ञान की समानकालिकता आवश्यक नहीं है, अतः ज्ञान में तत्तदाकारता की उपपत्ति के लिये यह मानने की आवश्यकता नहीं है कि ज्ञान अपने उदयकाल में उत्पन्न होने वाले आकार का ग्राहक होता है, तथा यह भी मानना सम्भव नहीं है कि उसके जनकभूत अर्थ का ही वर्तमानतया भान होता है, क्योंकि अर्थ क्षणिक होने से ज्ञान काल में अतीत हो जाता है अतः वर्तमानतया उसका प्रतिभास सम्भव नहीं है। किन्तु युक्ति-संगत यह है कि सभी ज्ञान कल्पित आकार को ग्रहण करता है। अतः ज्ञान से गृहीत होनेवाले इस आकार में ज्ञानाकारत्व की अनुपपत्ति का प्रश्न ही नहीं खड़ा हो सकता। क्योंकि कल्पना के सम्मुख कोई अनुपपत्ति नहीं खड़ी हो सकती।''-तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि नीलाद्याकार ज्ञान को कल्पित विषयक मानने पर नीलज्ञान और द्विचन्द्रज्ञान में कुछ वैलक्षण्य न हो सकेगा, क्योंकि दोनों ही ज्ञानों के विषय में आरोपितत्व समान है और अबाह्यार्थ वादी को उन दोनों ज्ञान में अवैलक्षण्य कथमपि स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान मात्र को आरोपित विषयक मानने पर ज्ञानों में प्रमाण और अप्रमाण का यानी प्रमा और भ्रम के विभाग का विलय हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि-"ज्ञान और अर्थ एकसामग्रीजन्य होने से सहभावी होता है अतः अर्थ क्षणिक होने पर भी वर्तमानतया उसका ग्रहण सम्भव है। इस वैभाषिक मत का आश्रय लेने से उक्त दोष नहीं हो सकता" तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानक्रिया में तत्तदर्थविषयकत्व का नियम तत्तदर्थरूप ज्ञान के कर्म की कारणता से ही व्यवस्थित होता है। किन्तु जब ज्ञानक्रिया और उसका अर्थ सहभावी होगा तो उन में पौर्वापर्य न होने से तन्नियत कार्यकारणभाव भी सम्भव न होने से ज्ञान में अर्थविशेषविषयकत्व का नियम ही उपपन्न न हो सकेगा ॥४५॥

४६ वीं कारिका में अभ्युपगमवाद से अर्थग्रह को स्वीकार कर भाव के क्षणिकत्व पक्ष में अन्य दोष का प्रदर्शन किया गया है–

अभ्युपगम्याप्यर्थग्रहं दोषान्तरमाह—

मूलम्—ग्रहणेऽपि यदा ज्ञानमपैत्युत्पत्त्यनन्तरम् ।
तदा तत्तस्य जानाति क्षणिकत्वं कथं ननु ? ॥४६॥

ग्रहणेऽप्यर्थस्य यदा ज्ञानमुदेति तदा तद्=ग्राह्यम्, उत्पत्त्यनन्तरं=उत्पत्तिनाशकाले, अपैति=नश्यति। अतस्तस्य क्षणिकत्वं कथं ननु ?=नैव जानाति, अवस्तुत्वात् तस्य, ज्ञानस्य च वस्तुग्राहकत्वात् ॥ ४६ ॥

[नष्ट अर्थ के क्षणिकत्व का ग्रहण कैसे ?]

यदि इसी प्रकार अर्थ के ज्ञान का अभ्युपगम कर भी लिया जाय तो भी यह तो निश्चित ही है कि जिसकाल में ज्ञान का उदय होता है वह अर्थोत्पत्ति का नाशकाल होता है अतः उस समय अर्थ नष्ट हो गया रहता है। इस प्रकार अर्थोत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण में होनेवाला अर्थनाश ही अर्थ का क्षणिकत्व है। अतः बौद्धमत में वह उत्तरक्षणोत्पन्न ज्ञान अर्थनाशरूप क्षणिकत्व उत्पन्न होने से उसे कैसे जान सकता है ? क्योंकि ज्ञान तो वस्तु का ग्राहक होता है अवस्तु का नहीं, और यहाँ क्षणिकत्व यानी पूर्वक्षणवृत्ति अर्थ का नाश तो अवस्तु है। इसलिये ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान-प्रमाणभूतज्ञान वस्तु का ही ग्राहक होता है ॥ ४६ ॥

४७ वीं कारिका में बौद्ध के इस आशय का कि—'वस्तुग्राही दर्शन क्षणिकत्व का भी ग्रहण कर सकता है क्योंकि वह स्वरूपतः निर्विकल्पक स्वभाव होता है अतः वह क्षणिकत्व का विशेषण रूप से ग्रहण नहीं करता'- उल्लेख कर के निराकरण किया गया है।

जानात्येव वस्तुदर्शनं क्षणिकत्वमपि, स्वरूपतोऽविकल्पस्वभावत्वात्, विकल्पयति तु न, इति पराशयमाह—

मूलम्—तस्यैव तत्स्वभावत्वात्स्वात्मनैव तदुद्भवात् ।
यथा नीलादि ताद्रूप्यान्नैतन्मिथ्यात्वसंशयात् ॥४७॥

"तस्यैव=अर्थस्य तत्स्वभावत्वात्=क्षणिकत्वस्वभावत्वात्, स्वात्मनैव=ज्ञानात्मनैव, जानाति क्षणिकत्वम्। कुतः ? तदुद्भवात्=क्षणिकस्वभावादर्थादुत्पत्तेः। निदर्शनमाह–यथा नीलादि जानाति, ताद्रूप्यात्=विषयसारूप्यात्, न तु विकल्पधिया, तथेदमपीति भावः।" अत्रोत्तरम्–नैतद्-यदुक्तं परेण, तत्रीत्यैव मिथ्यात्वसंशयात्, क्षणिकत्वबोधे सांव्यावहारिकालोचने शुक्ले पीतदर्शनादुत्तरकाले तत्र पीताऽनिश्चयात्। 'प्राक् पीतानालोचनमनुमीयते' चेत् ? क्षणिकत्वदर्शनेऽपि तुल्ययोगक्षेममेतदिति ॥ ४७ ॥

[क्षणिकत्व बोध में मिथ्यात्वसंशय आपत्ति]

"अर्थ क्षणिकत्व स्वभाव होता है और उस क्षणिकत्वस्वभाव अर्थ से उत्पन्न होने के कारण ज्ञान भी अर्थ के क्षणिकत्वस्वभाव को उसके अन्य आकार के समान प्राप्त करता है। अत एव

क्षणिकत्व ज्ञान के आकार स्वरूप में अन्तर्भूत हो जाता है। इसलिये ही ज्ञानस्वरूपात्मना क्षणिकत्व को उसीप्रकार ग्रहण करता है जैसे नीलादि अर्थ के समान आकार होने से नीलादि को ग्रहण करता है किन्तु नीलादि अंश में सविकल्पक नहीं होता।" इसके उत्तर में ग्रन्थकार का यह कहना है कि क्षणिकत्वबोध के क्षणिकत्वांश में सविकल्पक न होने से उसमें मिथ्यात्व का संशय हो जायगा अतः वह ज्ञान अर्थ में क्षणिकत्व का निश्चायक नहीं हो सकता। अतः अर्थ में क्षणिकत्व की सिद्धि न हो सकेगी।

व्याख्याकार ने ग्रन्थकार की इस उक्ति को एक दृष्टान्त से समर्थन देते हुये कहा है-जैसे सांख्यों के मत में शंखगत शुक्ल का जब केवल आलोचन होता है-अर्थात् शुक्लत्वरूप से उसका ज्ञान न होकर केवल स्वरूपतः ज्ञान होता है, तब दोषवश शुक्लशंख में पीत रूप का दर्शन होता है-किन्तु उस ज्ञान में पीतत्वेन शुक्ल का भान होने से पीतत्वेन पीतप्रतियोगिक अभाव का भान सम्भव होने से उक्त ज्ञान में पीताभाववान् में पीतप्रकारत्व का संशय जाग्रत् होने से उत्तरकाल में पीतरूप का निश्चय नहीं होता। इसी प्रकार क्षणिकत्व बोध में अर्थ में क्षणिकत्व का विषयविधया भान न होने पर अर्थ में अक्षणिकत्वग्रह का विरोधी न होने के कारण अक्षणिक में क्षणिकत्वग्राहित्व का संदेह हो सकता है और इस संदेह के कारण अर्थ में क्षणिकत्व का निश्चय नहीं हो सकता।

यदि इसके सम्बन्ध में बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-"उक्त दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक क्षणिकत्वबोध में वैषम्य है, जैसे-दृष्टान्तस्थल में पीत का अनिश्चय पीतदर्शन में मिथ्यात्वसंशयप्रयुक्त नहीं होता है किन्तु पीत के अनिश्चय से यह अनुमान किया जाता है कि पूर्व में पीत का आलोचन नहीं है। इसलिये पीतालोचनरूप कारण के अभाव से पीतनिश्चयरूप कार्य का अभाव होता है"-तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इस कथन का क्षणिकत्व के दर्शन के सम्बन्ध में भी योगक्षेम तुल्य है। अर्थात् क्षणिकत्व के दर्शन के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि पूर्व में क्षणिकत्व का आलोचन न होने से क्षणिकत्वालोचनरूप कारण के अभाव से ही क्षणिकत्व का निश्चय होता है। व्याख्याकार का तात्पर्य केवल यह दिखाने में है कि उक्त प्रकार से क्षणिकत्व का बोध मानने पर क्षणिकत्व का निश्चय नहीं हो सकता। इसका कारण क्षणिकत्वबोध में मिथ्यात्व का संशय है अथवा पूर्व में क्षणिकत्व के आलोचन का अभाव है-इन दोनों कारणों में किसी एक में उनका कुछ अभिनिवेश नहीं है ॥ ४७ ॥

४८ वीं कारिका में स्व-अनुमान से भी क्षणिकत्व बोध की अशक्यता बताई गई है—

स्वानुमानतोऽपि न क्षणिकत्वबोध इत्याह—

मूलम्—न चापि स्वानुमानेन धर्मभेदस्य संभवात् ।
लिङ्गधर्मातिपाताच्च तत्स्वभावाद्ययोगतः ॥४८॥

न चापि स्वानुमानेन जानाति क्षणिकत्वं, यथा मद्रूपमनित्यं तथाऽयमपीति। कुतः ? इत्याह-**धर्मभेदस्य संभवात्**=चेतनेतररूपधर्मभेदोपपत्तेः, किञ्चित्ताद्रूप्येऽपि तथा ताद्रूप्याभावेन साधारण्या व्याप्तेरविकल्पनात्। दोषान्तरमाह-**लिङ्गधर्मातिपाताच्च**=लिङ्गरूपातिलङ्घनाच्च तदात्मन एव स्वानुमानपक्षे। कुतः ? इत्याह-तत्स्वभावाद्ययोगतः=तस्यार्थस्य न तज्ज्ञानं स्वभावः, नापि कार्यम्, न चान्येन गम्य इति यावत्, तद्रूपविशेषाभावात्।

[क्षणिकत्व बोध के लिये अनुमान असमर्थ]

ज्ञान स्वानुमान से अर्थात् स्वधर्मिक अथवा स्वहेतुक अनुमान से भी क्षणिकत्व का ग्राहक नहीं होता। तात्पर्य, इस प्रकार का अनुमान नहीं हो सकता कि–'ज्ञानग्राह्यभाव अनित्य है क्षणिक है, क्योंकि ज्ञानग्राह्य है, जैसे ज्ञान का स्वरूप'-क्योंकि ज्ञान चेतन है और ग्राह्यभाव अचेतन है; अतः उन दोनों में भेद स्वभाविक है। यद्यपि ज्ञानग्राह्यत्वरूप से दोनों में सारूप्य है, किन्तु इस प्रकार का सारूप्य नहीं है-जिस से ज्ञान और ग्राह्य-चेतन और अचेतन उभय-साधारण व्याप्तिबोध हो सके। दूसरा दोष यह है कि ज्ञान को क्षणिक अर्थ का अनुमापक मानने पर लिङ्गधर्म का उल्लंघन होगा। क्योंकि लिङ्ग का धर्म होता है साध्य का अविनाभाव अर्थात् साध्य की व्याप्ति तथा पक्षधर्मता। और उन में (बौद्धमतानुसार) व्याप्ति का ज्ञान होता है तत्स्वभाव यानी तत्तादात्म्य से तथा तदुत्पत्ति से, इन दोनों से भिन्न साधन के द्वारा अविनाभावरूप लिङ्गधर्म ग्राह्य नहीं होता। ज्ञान न तो अर्थ का स्वभाव है अर्थात् ज्ञान में न तो अर्थ का तादात्म्य है-और न वह अर्थ का कार्य है, अर्थात् न अर्थाधीनोत्पत्तिक है, क्योंकि ज्ञान और अर्थ को सहभावी मानने पर उन में पौर्वापर्य न होने से कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। और क्रमभावी मानने पर ज्ञान में अर्थाधीनोत्पत्ति होने से व्याप्तिरूप लिङ्गधर्म की हानि न होने पर भी पक्षधर्मतारूप लिङ्गधर्म की हानी होगी क्योंकि क्षणिकत्व पक्ष में ज्ञान काल में अर्थ का नाश हो जाने से दोनों में सम्बन्ध दुर्घट है। इस प्रकार ज्ञान में लिङ्गधर्म का अभाव होने से उससे क्षणिक अर्थ का अनुमान नहीं हो सकता।

न चार्थक्रियालक्षणसत्त्वेन क्षणिकत्वानुमानमपि युक्तम्, ततः क्षणावस्थितिमात्रसाधने सिद्धसाधनात्, क्षणावस्थितिनिबन्धनत्वाद् बहुक्षणस्थितेः, क्षणादूर्ध्वमभावस्य च तेन सह प्रतिबन्धग्रहेण साधयितुमशक्यत्वादिति भावः ॥ ४८ ॥

यदि यह कहा जाय–अर्थक्रियारूप सत्त्व से क्षणिकत्व का अनुमान होगा–तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि क्षणस्थायित्वरूप क्षणिकत्व का साधन करने में सिद्धसाधन होगा क्योंकि बहुक्षणसम्बन्धरूप स्थायित्वपक्ष में भी अर्थ में क्षणिकत्व मान्य होता है, क्योंकि बहुक्षणसम्बन्ध क्षणस्थितिमूलक ही होता है। यदि 'क्षण के अनन्तर अर्थाभाव' अर्थात् अर्थ में स्वोत्पत्त्यनंतरक्षण में उत्पन्न ध्वंस के प्रतियोगित्वरूप क्षणिकत्व का साधन किया जायगा तो वह शक्य नहीं है, क्योंकि अर्थक्रियारूप सत्त्व से इस प्रकार के क्षणिकत्व का व्याप्तिग्रह नहीं है ॥ ४८ ॥

४९ वीं कारिका में 'नित्यवस्तु में अर्थक्रियाकारित्व सम्भव न होने से परिशेष अनुमान से अर्थ में क्षणिकत्व की सिद्धि हो सकती है' इस शंका का परिहार किया गया है–

अथ नित्यस्यार्थक्रियाऽक्षमत्वात् पारिशेष्यात् क्षणिकत्वं सेत्स्यतीत्याशङ्कयाह—

मूलम्—नित्यस्यार्थक्रियायोगोऽप्येवं युक्त्या न गम्यते।
सर्वमेवाविशेषेण विज्ञानं क्षणिकं यतः ॥ ४९ ॥

एवं सति नित्यस्यार्थक्रियाऽयोगोऽपि न गम्यते युक्त्या, नित्यस्यैवाज्ञानात्। अत्र हेतुमाह–यतः सर्वमेव विज्ञानमविशेषेण क्षणिकम्। एवं च बहुक्षणस्थायित्वरूपं नित्यत्वं कथं बहुक्षणाग्रहम् सुग्रहम्? इति भावः ॥ ४९ ॥

अर्थ में क्षणिकत्वसाधक परिशेषानुमान सम्भव नहीं हो सकता। कारण, नित्य में अर्थक्रियाकारित्व के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि युक्तिपूर्वक विचार करने पर नित्य का ही ज्ञान नहीं उपपन्न हो सकता। जब नित्य ज्ञान नहीं होगा तब उसमें अर्थक्रियाकारित्वाभाव का भी ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अभावज्ञान में अधिकरणज्ञान की अपेक्षा होती है। नित्य का ज्ञान क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यतः सभी ज्ञान समानरूप से क्षणिक होता है। अतः किसी भी ज्ञान से भिन्नकालिक अनेक क्षणों का ज्ञान न हो सकने से बहुक्षणस्थायित्वरूप नित्यत्व का ज्ञान क्षणिकवाद में असम्भव है ॥ ४९ ॥

५० वीं कारिका में इस वस्तुस्थिति का प्रतिपादन किया गया है कि स्थायीवस्तु में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव भी नहीं है।

न चार्थक्रियाऽभावोऽप्यक्षणिके, इति वस्तुस्थितिमाह—

मूलम्—तथाचित्रस्वभावत्वान्न चार्थस्य न युज्यते।
अर्थक्रिया ननु न्यायात्क्रमाक्रमविभावनी ॥५०॥

तथाचित्रस्वभावत्वात्=क्रमवत्परिणामानुविद्धाक्रमवद्द्रव्यरूपत्वात्, न चार्थस्य न युज्यतेऽर्थक्रिया—किन्तु युज्यते, **ननु**=निश्चितम् **न्यायात्**-अनुभवसहितात् तर्कात्। कीदृशी ? इत्याह—[1]**क्रमाक्रमविभावनी**-युगपदयुगपदुत्पत्तिका सुखदुःखज्ञानजननजलाद्यानयनादिरूपा। तत्र च काचिदस्मदादिसंवेद्या, अन्यथा चातादृशी। तेन न येन घटेन कदापि जलानयनादि न कृतं तस्यार्थक्रियाकारित्वाभावादसत्त्वम्, अन्ततस्तथासिद्धज्ञानज्ञेयत्वादिपर्यायरूपाया अप्यर्थक्रियायास्तेन करणादिति द्रष्टव्यम् ॥ ५० ॥

इत्यनतो नोद्वयनं विधातुं पक्षी समर्थः सुगतात्मजोऽयम्।
विसृत्वरस्ताकिकतर्कशक्त्या यतो विलूनः क्षणिकत्वपक्षः ॥१॥
निरीक्ष्य साक्षाद्वलम्ब्यमानं परैर्विशीर्णं क्षणिकत्वपक्षम्।
स्याद्वादविद्यामवलम्बनं भोः श्रयन्तु विज्ञाः ! सुदृढं हिताय ॥२॥

[नित्य वस्तु में अर्थक्रिया का असंभव नहीं है]

अर्थ चित्रस्वभाव होता है अर्थात् क्रमिक परिणामों से युक्त अक्रमिक द्रव्यरूप होता है। तात्पर्य, अर्थ में दो अंश होते हैं, एक स्थायी जिसे द्रव्यशब्द से अभिहित किया जाता है और दूसरा क्रमिक परिणाम जो अस्थिर-क्षणिक होता है। इसलिये उसमें अर्थक्रियाकारित्व का होना युक्तिविरुद्ध नहीं है, किन्तु युक्तिसंगत है। इसका हेतु-अर्थक्रिया, न्याय-अनुभवसहिततर्क से क्रम और अक्रम से होने वाली क्रियाओं की समष्टिरूप में, सिद्ध होती है। कहने का आशय यह है कि अर्थ से दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। कुछ युगपद्=एकसाथ होती हैं और कुछ अयुगपद्=क्रम से होती हैं। जैसे घटरूप

१. प्रत्यन्तरे 'भाविनी'।

अर्थ से सुखदुःख की ज्ञान-क्रिया और जलानयन की क्रिया एकसाथ होती है और जल तथा अन्य द्रव्य के आनयन की क्रिया क्रम से होती है। क्योंकि एक ही घट से जल अन्न वालुका आदि का आनयन एकसाथ नहीं हो सकता। इन सभी क्रियाओं की समष्टि ही अर्थक्रिया शब्द से अभिहित होती है। उनमें कुछ अर्थक्रिया साधारण मनुष्यों से गृहीत होती हैं और कुछ नहीं गृहीत होती। अतः जिस घट से कभी जलानयनादि कार्य नहीं होता उसमें अर्थक्रियाकारित्व का अभाव समझ कर उसे असत् नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा घट भी सिद्धपुरुषों द्वारा गृहीत होता है। अतः ऐसे घट में अन्य प्रकार की अर्थक्रिया में विवाद होने पर भी ज्ञानज्ञेयत्वादिपर्यायरूप अर्थक्रिया निर्विवादरूप से होती है। अतः अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व द्रव्यात्मना स्थिर वस्तु में युक्तिसङ्गत होता है। इसलिये नित्य में अर्थक्रिया-कारित्व के अभाव का ग्रह न हो सकने से अर्थ में क्षणिकत्वसाधक परिशेषानुमान की कल्पना दुःशक्य है।

व्याख्याकार ने इस विचार का दो पद्यों में उपसंहार किया है-जिन में प्रथम पद्य का आशय यह है कि बौद्ध-पक्षी क्षणिकत्वपक्ष का अवलम्बन कर विभिन्न दिशाओं में उड्डयन करने अर्थात् अपने पक्ष की रक्षा के लिये विभिन्न युक्तिओं का अवलम्बन करने में समर्थ नहीं रह गया है, क्योंकि उस का बहु प्रकार से प्रसरणशील क्षणिकत्वपक्ष जैन तार्किकों की तर्कशक्ति से उच्छिन्न हो चुका है।

दूसरे पद्य का आशय यह है कि बौद्ध द्वारा अवलम्बित क्षणिकत्व पक्ष का उच्छेद स्पष्ट देखते हुये समझदारों का यह कर्तव्य है-उन्हें अपने हित के लिये स्याद्वादविद्या का आस्था पूर्वक अवलम्बन करना चाहिये ॥ ५० ॥

५१ वीं कारिका में बौद्ध के क्षणिकत्ववाद का तटस्थ पुरुषों द्वारा वर्णित तात्पर्य बताया गया है-

क्षणिकत्ववादतात्पर्यविषयवार्तामाह—

मूलम्—अन्येत्वभिदधत्येवमेतदास्थानिवृत्तये ।
क्षणिकं सर्वमेवेति बुद्धेनोक्तं न तत्त्वतः ॥ ५१ ॥

अन्ये तु=मध्यस्थाः एवमभिदधति यदुत-**एतदास्थानिवृत्तये**=रागनिबन्धनविषयनित्यत्ववासनापरित्यागाय, '**क्षणिकं सर्वमेव**' इति बुद्धेनोक्तम्, **न तत्त्वतः**=न यथाश्रुततत्त्वबोधनाभिप्रायेण। उच्यते चानित्यताभावनाऽभवनायैवमस्मदीयैरपि। तदुक्तम्– [योगशास्त्र ४-५७]

"यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने, यद् मध्याह्ने न तन्निशि।
निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हि पदार्थानामनित्यता ॥" इति ॥५१॥

[राग उच्छेद के लिये क्षणिकत्वोपदेश]

कुछ ऐसे मध्यस्थ मनीषी हैं जिन का यह कहना है कि बुद्धने भावमात्र में जो क्षणिकत्व का उपदेश दिया है वह 'क्षणिकत्व ही भावमात्र का तात्त्विकरूप है' इस अभिप्राय से नहीं, किन्तु इस अभिप्राय से उपदेश दिया है कि जगत के पदार्थों में मनुष्य की आस्था न हो। अर्थात् मनुष्य जगत् के विषयों को नित्य समझकर उन में आसक्त न हो-यही विश्व को क्षणिक बताने में बुद्ध का तात्पर्य है। क्योंकि जो स्थिरवादी विद्वान हैं वे भी जगत् में अनित्यता की भावना भावित करने के लिये जगत् के पदार्थों की क्षणिकता का उपपादन करते रहते हैं-जैसे कहा है कि-जो वस्तु प्रातः देखने में आती है

वह मध्याह्न में नहीं रह जाती और जो मध्याह्न में उपलब्ध होती है वह रात्रि में नष्ट हो जाती है -ऐसा लोक में प्रत्येक पदार्थ के विषय में देखा जाता है अतः जगत् के पदार्थ अनित्य हैं ।। ५१ ।।

५२ वीं कारिका में 'विज्ञानमात्र ही सत्य है उस से भिन्न कोई भी वस्तु सत्य नहीं है' इस बुद्धोपदेश के तटस्थसम्मत तात्पर्य का प्रतिपादन किया गया है-

विज्ञानवादतात्पर्यविषयप्रतिपादनायाह—

मूलम्—विज्ञानमात्रमप्येवं बाह्यसङ्गनिवृत्तये ।
विनेयान् कांश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनार्हतः ॥ ५२ ॥

एवं=क्षणिकत्ववत् विज्ञानमात्रमपि ज्ञानातिरिक्तस्यालीकत्वज्ञाने तन्मात्रप्रतिबन्धेन **बाह्यसङ्गनिवृत्तये**=धन--धान्यादि--बाह्यार्थपरिग्रहपरित्यागाय, सामान्यतो विनेयानाश्रित्योक्तम् । विशेषविषयमाह-**यद्वा, अर्हतः**-ज्ञाननयावधारणयोग्यान्, **कांश्चिद् विनेयान**तिनिपुणानाश्रित्य **तद्देशना**=ज्ञानवाददेशना ।। ५२ ।।

[बाह्यपदार्थसंग त्याग के लिये विज्ञानमात्रोपदेश]

बुद्ध ने जो यह उपदेश दिया है कि-'विज्ञानमात्र ही पारमार्थिक वस्तु है-ज्ञान से अतिरिक्त जो कुछ अवगत होता है, वह सब मिथ्या है'-इसका भी तात्पर्य क्षणिकत्वोपदेश की तरह वस्तु के तात्त्विकरूप के प्रतिपादन में नहीं है किन्तु ज्ञान भिन्न वस्तु को मिथ्या बताकर धनधान्यादि में मनुष्य की आसक्ति को दूर कराने में है । यह उपदेश सामान्यतः सभी शिष्यों के लिये दिया गया है अथवा ज्ञान और ज्ञानभिन्न सम्पूर्ण वस्तुओं में क्षणिकत्व का उपदेश सर्व साधारण मनुष्यों के लिये किया गया है और ज्ञानवाद का उपदेश अर्ह अर्थात् ज्ञाननय के सिद्धान्त को समझ सकने में समर्थ कतिपय अत्यन्त बुद्धिमान् शिष्यों को उद्देश करके दिया गया है । ।।५२।।

५३ वीं कारिका में यह तटस्थ वर्णित तात्पर्य अयुक्त नहीं है किन्तु यही युक्त है-इस तथ्य का उपपादन किया गया है –

न चैतदुक्तं बुद्धाकूतं न युक्तमित्याह—

मूलम्—न चैतदपि न न्याय्यं यतो बुद्धो महामुनिः ।
सुवैद्यवद् विना कार्यं द्रव्यासत्यं न भाषते ।।५३।।

न चैतदपि=अनन्तरमुक्तम् , **न न्याय्यं**=न साम्प्रतमिति वाच्यम् , यतो **बुद्धो महामुनिः**=विदिततत्त्वो निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छामूलकदेशनाप्रवृत्तिशाली च परैरिष्यते, अतोऽयं **सुवैद्यवत् कार्यं विना**=परहितानुबन्धि प्रयोजनं विना, **न भाषते द्रव्यासत्यम्** । यथा हि सुवैद्यः कटुकमप्यौषधं कटुकौषधपानभीतस्य परस्य प्रवृत्तयेऽकटुकमपि वदन् नाऽनाप्तः स्यात्, तथा बुद्धोऽप्यक्षणिकमरूपं ज्ञप्तिमात्रास्वभावं च विनेयमतिपरिष्काराय तथा वदन्नपि नाऽनाप्तः स्यात्, अन्यथा तु स्यादेव । तथा च तदाप्तत्वे तद्देशनाया अत्र तात्पर्यम्, अन्यथा तु तस्यानाप्तत्वमेवेति भावः ।। ५३ ।।

[बुद्ध का पूर्वोक्त तात्पर्य ही युक्तियुक्त है]

बुद्ध का क्षणिकत्व और विज्ञानवाद के उपदेश का जो तटस्थ द्वारा तात्पर्य बताया गया है, वह अयुक्त नहीं है किन्तु वही युक्तिसङ्गत है, क्योंकि बौद्ध सम्प्रदाय वाले मानते हैं कि बुद्ध एक महामुनि है, वे तत्त्ववेत्ता हैं और वे निःस्वार्थभाव से मनुष्यों के दुःख को दूर करने की इच्छा से उपदेश देने में प्रवृत्त हैं, अतः सुवैद्य के समान वे परहितसाधनरूप प्रयोजन के बिना द्रव्य-असत्य का भाषण नहीं करते। आशय यह है कि जैसे सुवैद्य कडुआ औषध पीने के लिये तैयार न होने वाले रोगी को उस औषध के सेवन में प्रवृत्त करने के लिये कटु औषध को भी मधुर बताते हुये अनाप्त-असत्य-वादी नहीं माना जाता, उसीप्रकार बुद्ध भी जो वस्तु द्रव्यात्मना स्थिर है और ज्ञानमात्रस्वभाव नहीं है उसे भी शिष्यों की बुद्धि को परिष्कृत-वैराग्यवासित करने की भावना से सर्वात्मना क्षणिक और सर्वथा ज्ञानैकस्वरूप बताते हुये अनाप्त नहीं हो सकते। यदि बुद्ध के उक्त उपदेश का यह तात्पर्य न मानकर वस्तु की तात्त्विक रूपता के प्रतिपादन में माना जायगा तो वे निश्चित ही अनाप्त होंगे, क्योंकि वस्तु का बुद्ध द्वारा उपदिष्ट उक्तरूप तात्त्विक नहीं है। यतः वे आप्त पुरुष है अतः उनके उपदेश का वही तात्पर्य हो सकता है अन्यथा उनकी अनाप्तता का निराकरण असम्भव है ॥५३॥

५४ वीं कारिका में माध्यमिकों के मत का उल्लेख किया गया है—

दर्शनान्तरमाह—

मूलम्—ब्रुवते शून्यमन्ये तु सर्वमेव विचक्षणाः ।
न नित्यं नाप्यनित्यं यद्वस्तु युक्त्योपपद्यते ॥५४॥

अन्ये तु **विचक्षणाः**=वितण्डापण्डिता माध्यमिकाः, सर्वमेव वस्तु शून्यं ब्रुवते। कुतः ? इत्याह—यद्=यस्मात्, वस्तु युक्त्या विचार्यमाणं न नित्यं नाप्यनित्यमुपपद्यते ॥५४॥

[माध्यमिक के शून्यवाद की मीमांसा]

दूसरे विद्वान जो वितण्डा कथा में अत्यन्त कुशल हैं और जिनको 'माध्यमिक' शब्द से तार्किक क्षेत्र में प्रसिद्धि है वे समस्त वस्तु को शून्यात्मक कहते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि से, वस्तु के सम्बन्ध में युक्तिपूर्वक विचार करने पर वह नित्य अथवा अनित्य किसी भी रूप में नहीं उपपन्न होती ॥५४॥

५५ वीं कारिका में पूर्वोक्त कारिका के वक्तव्य को ही स्पष्ट किया गया है—

एतदेव प्रकटयन्नाह—

मूलम्—नित्यमर्थक्रियाभावात् क्रमाक्रमविरोधतः ।
अनित्यमपि चोत्पादव्ययाभावान्न जातुचित् ॥ ५५ ॥

क्रमाक्रमविरोधतः=क्रमवद्विज्ञानादिकार्यकारित्वे भेदप्रसङ्गात्, अक्रमवत्कार्यकारित्वे चैकदा सर्वकार्योत्पत्तेः अर्थक्रियाऽभावाद् नित्यं वस्तु न युक्तम्। अनित्यमप्युत्पादव्ययाभावाज्जातुचिद् न युक्तम्। न हि तौ स्वतः, परतः, उभाभ्याम्, अनिमित्तौ वा संभवतः। आद्ये, कारणापेक्षाऽभावेन देशादिनियमाऽसक्तेः। द्वितीयेऽपि, सत्त्वे कारणवदुत्पत्तिविरोधात्,

असत्त्वे खरविषाणवदुत्पाद-नाशाऽयोगात्, उभयस्वभावत्वे च विरोधात्। तृतीये चोभयदोषानुषङ्गात्, "प्रत्येकं यो भवेद् दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः?" इत्युक्तत्वात्। चतुर्थे चानभ्युपगमात्। तदुक्तम्—

"न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन"[1] ॥१॥ इति ॥५५॥

[नित्य पदार्थ में क्रमाऽक्रम से अर्थक्रियानुपपत्ति-शून्यवादी]

क्रम और अक्रम दोनों ही प्रकार से नित्य में अर्थजनकता का बाध होने से वस्तु को नित्य नहीं माना जा सकता। आशय यह है कि वस्तु को क्रम से विज्ञान आदि कार्यों का जनक मानने पर भेद की प्रसक्ति होगी अर्थात् जो वस्तु जिस कार्य को पहले नहीं उत्पन्न करती वह बाद में भी उसे नहीं उत्पन्न कर सकती, क्योंकि यदि उस में बाद में उत्पन्न होने वाले कार्य के प्रति सामर्थ्य होगा तो प्रथमोत्पन्न कार्य के साथ ही उसे उस कार्य को भी उत्पन्न करना चाहिये। अतः यह मानना आवश्यक होगा कि बाद में उत्पन्न होने वाले कार्य का जनक और पूर्व में उत्पन्न होने वाले कार्य के जनक में भेद है। यदि वस्तु को अक्रम से अपने कार्यों का जनक माना जायगा तो एक ही काल में समस्त कार्य की उत्पत्ति का अतिप्रसङ्ग होगा। अतः नित्य में किसी भी प्रकार अर्थक्रिया की जनकता सम्भव न होने से वस्तु को नित्य मानना अयुक्त है।

[उत्पाद-व्यय की असिद्धि से अनित्यता भंग]

इसी प्रकार वस्तु को अनित्य मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि उसका उत्पाद और विनाश असिद्ध है। यहां उत्पाद-विनाश के सम्बन्ध में चार पक्ष की कल्पना हो सकती है जैसे कि उत्पत्ति और विनाश (१) स्वतः होते हैं अथवा (२) अन्य से होते हैं अथवा (३) स्व और अन्य दोनों से होते हैं कि वा (४) बिना निमित्त के ही होते हैं?

(१) इन में प्रथमपक्ष मानने पर स्वतः होने वाले उत्पाद और विनाश में किसी देशकालादि कारण की अपेक्षा न होने से देशविशेष और कालविशेष में ही उन के होने का नियम न सिद्ध हो सकेगा।

(२) दूसरे परतः पक्ष में उत्पन्न होने वाला कार्य सत् है? या असत्? कि वा सत्-असत् उभयात्मक? यह तीन विकल्प उपस्थित होते हैं। (१) यदि कार्य को सत् माना जायगा तो जैसे प्रथमतः विद्यमान होने से उस समय कार्य की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार परतः = यानी पर प्रयोग के बाद भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अथवा यदि कार्य प्रथमतः विद्यमान रहेगा तो उसकी कारणाधीन उत्पत्ति मानना उचित नहीं हो सकता क्योंकि कार्य के सत् होने पर कारण का उत्पादन-व्यापार निरर्थक होगा क्योंकि असत् को सत् बनाने में ही कारणव्यापार की सार्थकता मानी जाती है, किन्तु इस पक्ष में कार्य पहले से ही सत् है। (२) यदि कार्य को असत् माना जायगा तो जैसे खरविषाण का उत्पाद और विनाश नहीं होता उसी प्रकार कार्य का भी उत्पाद और विनाश नहीं

१. नागार्जुनविरचिते माध्यमिककारिकाग्रन्थे प्रत्ययपरीक्षाप्रकरणे श्लो १।

हो सकता (२) सत्त्व और असत्त्व में विरोध होने से उसे सत्-असत् उभयस्वरूप भी नहीं माना जा सकता।

(३) तीसरे पक्ष में-अर्थात् स्व और अन्य दोनों से कार्य का उत्पाद-व्यय मानने पर पूर्व के दोनों पक्षों के दोष प्रसक्त होंगे, क्योंकि जो दोष प्रत्येक पक्ष में होता है वह दोनों पक्षों को अपनाने पर कैसे नहीं होगा अर्थात् होगा ही-ऐसा विद्वानों ने निश्चय कर रखा है।

(४) चतुर्थ पक्ष में अनभ्युपगम दोष है अर्थात् उत्पाद व्यय दोनों को निर्निमित्तक कोई भी नहीं मानता। जैसा कि नागार्जुन की माध्यमिक कारिका के प्रत्ययपरीक्षा प्रकरण के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि कोई वस्तु कभी और कहीं स्वतः, परतः अथवा स्व पर उभयतः अथवा हेतु भिन्न से किंवा हेतु के अभाव से नहीं उत्पन्न होते ॥५५॥

५६ वीं कारिका में उत्पाद और व्यय न मानने पर पुत्रोत्पत्ति का ज्ञान होने पर सुख और पुत्रविनाश का ज्ञान होने पर दुःख कैसे सम्भव होगा? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है-

नन्वेवं कथं पुत्रोत्पादज्ञाने सुखम्, तद्ध्वंसे च ज्ञाते दुःखम्? इत्यत आह—

मूलम्—उत्पाद-व्ययबुद्धिश्च भ्रान्ताऽऽनन्दादिकारणम् ।
कुमार्याः स्वप्नवज्ज्ञेया पुत्रजन्मादिबुद्धिवत् ॥५६॥

उत्पाद-व्ययबुद्धिश्च लौकिकी, परमार्थेन **भ्रान्ता**=न वस्तुसती। किं वत्? इत्याह— **कुमार्याः स्वप्नवत्**=स्वापदशायामकृतसंभोगायाः कन्यायाः संभोगानुभव(०नुभूति)वत्। ईदृश्यपि साऽऽनन्दादिकारणम्, आदिना शोकग्रहः। किं वत्? इत्याह--पुत्रजन्मादिबुद्धिवत्, आदिना पुत्रमरणग्रहः, 'कुमार्याः स्वप्ने' इति योज्यते।

[लौकिक उत्पाद-व्ययबुद्धि भ्रान्त है]

लोक में जो उत्पाद और विनाश की बुद्धि होती है वह यथार्थ नहीं होती किन्तु भ्रमरूप होती है और वही आनन्द और शोक को जनक होती है। इसका समर्थन कुमारी जिसे जाग्रदवस्था में कभी संभोग का अवसर प्राप्त नहीं हुआ उसे स्वप्नावस्था में सम्भोगानुभूति होती है। ऐसी भी स्वाप्निक अनुभूति आनन्दादि का कारण होती है। यहाँ 'आदि' पद से अन्य स्वाप्निक अनुभूति से होने वाला शोक ग्राह्य है। यह आनन्द या शोक जनक अनुभूति इस प्रकार है-जैसे स्वप्न में सुखजनक पुत्रजन्म की बुद्धि और दुःखजनक पुत्रविनाश की बुद्धि होती है तो जैसे उक्तबुद्धि भ्रमरूप होने पर भी सुख और दुःख का उत्पादक होती है उसी प्रकार जाग्रदवस्था में होनेवाली पुत्र के उत्पाद और विनाश की बुद्धि भ्रमरूप होने पर भी उससे सुख और शोक की उत्पत्ति हो सकती है।

अत्रायममीषां संप्रदायः-नीलादयो न परमार्थसद्व्यवहारानुपातिनः, विशददर्शनावभासितत्वात्, तिमिरपरिकरितदृगवभासीन्दुद्वयवत्। न च चन्द्रद्वयज्ञानं बाध्यत्वाद् भ्रान्तम्, नीलादिज्ञानं त्वबाध्यत्वाद् न तथेति **सांप्रतम्**, बाध्यत्वानुपपत्तेः। तथाहि--बाधकेन न विज्ञानस्य तत्कालभावि स्वरूपं बाध्यते, तदानीं तस्य स्वरूपेण प्रतिभासनात्। नाप्युत्तर-

कालम्, क्षणिकत्वेन तस्य स्वयमेवोत्तरकालेऽभावात्। नापि प्रमेयं प्रतिभासमानेन रूपेण बाध्यते, तस्य विशदप्रतिभासादेवाभावाऽसिद्धेः। अप्रतिभासमानेन तु रूपेण स्वत एव बाधः। नापि प्रवृत्तिरुत्पन्ना बाध्यते, उत्पन्नत्वादेवाऽसत्त्वाऽयोगात्, अनुत्पन्नायास्तु स्वत एव बाधः।

[माध्यमिक सम्प्रदाय का मतसंक्षेप]

उत्पाद व्यय का निराकरण करनेवाले इन माध्यमिक मतानुयायीओं की परम्पराप्राप्त मान्यता यह है कि जैसे तिमिर रोग से दूषित नेत्र से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान का विषयभूत चन्द्रद्वय विशदज्ञान का विषय होने पर भी पारमार्थिक-यथार्थ-व्यवहार का विषय नहीं होता, उसीप्रकार नीलादि भी विशद-दर्शन का विषय होते हुए भी यथार्थव्यवहार के विषय नहीं होते। यदि यह कहा जाय कि-"चन्द्रद्वय का ज्ञान बाध्य होने से भ्रमरूप होता है अत एव उस का यथार्थव्यवहार का विषय न होना युक्तिसंगत है, किन्तु नीलादि ज्ञान अबाध्य होने के कारण भ्रमरूप नहीं है अतः नीलादि का यथार्थव्यवहार का विषय न होना युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता"-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि बाध्यत्व का निर्वचन न हो सकने से किसी ज्ञान को बाध्यत्व के आधार पर भ्रमात्मक नहीं कहा जा सकता। बाध्यता की अनिर्वचनीयता नितान्त स्पष्ट है-जैसे, बाध्यता का यदि यह अर्थ किया जाय कि-'बाधक ज्ञान द्वारा पूर्वज्ञान के उत्पत्तिकाल में ही उस के स्वरूप का बाध होता है। अर्थात् उस की निःस्वरूपता का बोध होता है'-तो यह सम्भव नहीं है-क्योंकि उस समय उस ज्ञान के स्वरूप का भान आनुभविक है। उसका यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि 'उस के उत्तरकाल में बाधक ज्ञान द्वारा उस के स्वरूप का बाध होता है'-क्योंकि क्षणिक होने से उत्तरकाल में पूर्वज्ञान स्वयं निवृत्त हो जाता है अतः बाधक ज्ञान को उस के स्वरूप का बाधक मानना निरर्थक है। उसका यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि 'बाधक ज्ञान से उस के विषय का गृह्यमाणरूप से बाध होता है'-क्योंकि उस का विषय विशदरूप से प्रतिभासित हुआ है; अतः उस का बाध असिद्ध है। इसीप्रकार उस का यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि 'पूर्वज्ञान के विषय का बाधकज्ञान द्वारा उस रूप से बाध होता है जो रूप उस ज्ञान द्वारा उस के विषय में गृहीत नहीं होता'-क्योंकि जिस रूप से विषय पूर्व ज्ञान द्वारा गृहीत नहीं होता उस रूप से उस का बाध स्वतः सिद्ध है अतः उस में भी बाधकज्ञान का कोई उपयोग नहीं हो सकता। बाधकज्ञान से पूर्वज्ञान की बाध्यता का यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि-'पूर्वज्ञान से उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्ति का बाधकज्ञान से बाध-असत्त्वबोध होता है'-क्योंकि पूर्वज्ञान से प्रवृत्ति की उत्पत्ति होने से उस में सत्ता का होना सुस्पष्ट है, क्योंकि आद्यक्षणसम्बन्ध को ही उत्पत्ति कहा जाता है और क्षणसम्बन्ध ही सत्ता है अत एव प्रवृत्ति में उस के विद्यमान रहने पर बाधक ज्ञान से उस में असत्त्व का अवबोध नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि पूर्वज्ञान से अनुत्पन्न प्रवृत्ति का बाधकज्ञान द्वारा बाध होता है अर्थात् उस की उत्पत्ति का प्रतिरोध होने से उस की असत्ता होती है'-तो यह भी ठीक नहीं-क्योंकि अनुत्पन्न प्रवृत्ति का असत्त्व भी स्वतः सिद्ध है, अतः उस में भी बाधक ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है।

किञ्च, बाधकं न बाध्यापेक्षया भिन्नसंतानम्, अतिप्रसङ्गात्। एकसंतानमपि न तदेककालम्, असंभवात्। नापि भिन्नकालमेकार्थम्, उत्तरघटज्ञानस्य पूर्वघटज्ञानबाधकतापत्तेः। नापि भिन्नार्थम्, उत्तरपटज्ञानस्य तथात्वापत्तेः। नाप्यनुपलब्धिर्बाध्यज्ञानसमानकाला तद्बाधिका, तस्या

असिद्धेः । नाप्युत्तरकालभाविनी बाध्यज्ञानैकार्थविषया, एकविषयकस्य तदर्थसाधकत्वेनाऽबाधकत्वात् । नापि विभिन्नविषया, तस्यास्तदानीं स्वविषयसाधकत्वेन बाध्यज्ञानविषयाभावाऽसाधकत्वात् ।

[बाधकज्ञान में संभवित अनेक प्रकार की बाधकता असिद्ध]

इसीप्रकार बाधकज्ञान के सम्बन्ध में विचार करने पर उस में बाधकता भी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि यदि बाध्य ज्ञान के सन्तान से भिन्न सन्तान में होनेवाले उत्तरकालिकज्ञान को बाधक माना जायगा तो अतिप्रसङ्ग होगा, अर्थात् चैत्र का शुक्ति-तत्त्वज्ञान मैत्र के शुक्ति-रजतज्ञान का बाधक हो जायगा । बाध्यज्ञान के सन्तान में उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी बाधक नहीं हो सकता क्योंकि यदि बाध्यज्ञान के साथ उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को बाधक माना जायगा तो असम्भव होगा क्योंकि बाध्यज्ञान और बाधक ज्ञान परस्परविरुद्ध अर्थ विषयक होने से उन का एक साथ में एक सन्तान में उदय ही नहीं हो सकता । यदि बाध्यज्ञान के सन्तान में उस के उत्तरकाल में होनेवाले ज्ञान को बाधक माना जायगा तो उत्तरकाल में होने वाले घटज्ञान में पूर्वकाल के घटज्ञान की बाधकता की आपत्ति होगी । बाध्यज्ञान के विभिन्नविषयक समानसन्तानवर्ती उत्तरकालभावी ज्ञान को भी बाधक नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर घट ज्ञान के उत्तर उत्पन्न होनेवाले पटज्ञान में भी घटज्ञान की बाधकता की आपत्ति होगी । इसीप्रकार अनुपलब्धि को यानी भिन्न अर्थ की उपलब्धि को भी बाधक नहीं माना जा सकता क्योंकि बाध्यज्ञानकाल के समानकाल में उत्पन्न होनेवाली अनुपलब्धि बाधक नहीं हो सकती क्योंकि बाध्यज्ञान के समानकालिक अनुपलब्धि असिद्ध है क्योंकि एक काल में दो ज्ञान का जन्म नहीं होता । बाध्यज्ञान के उत्तर काल में होनेवाली अनुपलब्धि को भी बाधक नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि वह अनुपलब्धि बाध्यज्ञान के विषयभूत अर्थ को ही विषय करेगी तो वह बाध्यज्ञान की समान विषयक होने के कारण उस के विषयभूत अर्थ की साधक ही हो सकती है न कि बाधक । इसीप्रकार बाध्यज्ञान से भिन्नविषयक अनुपलब्धि को भी बाधक नहीं माना जा सकता क्योंकि भिन्नविषयक अनुपलब्धि अपने विषय की ही साधक होगी न कि बाध्यज्ञान के विषय के अभाव की साधक होगी ।

न च दुष्टकारणप्रभवत्वेनेन्दुद्वयधियोऽसत्यार्थविषयत्वावगमो बाध्यत्वम्, असिद्धेः, इन्द्रियेण दोषाऽग्रहणात् । न च समानसामग्रीकस्य नरान्तरस्य तदग्रहणादितरत्र दुष्टकारणानुमानम्, तिमिराभावाद् नरान्तरे सामग्रीसाम्याऽसिद्धेः । न च मिथ्यारूपत्वेन तत्र दुष्टकारणजन्यत्वानुमानम्, इतरेतराश्रयात् । न चेन्दुद्वयज्ञानस्य विसंवादित्वादसत्यत्वम्, समानजातीयतद्विज्ञानानुत्पत्तिरूपविसंवादस्य यावत्तिमिरमसिद्धेः, विजातीयज्ञानोत्पत्तेर्विसंवादत्वे च स्तम्भादिप्रतिभासेऽतिप्रसङ्गात् । ततो न नील-द्विचन्द्रादिज्ञानयोः कश्चिद् विशेषः, द्विचन्द्रवद् नीलस्य विचार्यमाणस्यानुपपन्नत्वात् ।

[दुष्टकारणजन्यत्व बाध्यताप्रयोजक संभव नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-"बाध्यत्व के उक्त निर्वचन सम्भव न होने पर भी अन्य प्रकार से निर्वचन हो सकता है-जैसे यह कहा जा सकता है कि बाध्यत्व का अर्थ है चन्द्रद्वयज्ञान में दुष्टकारण

जन्यत्व से असत्यार्थविषयकत्व का बोधन ।'' किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि दुष्टकारणजन्यत्व स्वरूपतः उक्तप्रकार से बाधक नहीं हो सकता किन्तु उसके ज्ञान को बाधक मानना होगा और उसका ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह दोषघटित है, अतः इन्द्रिय से दोष का ग्रहण अशक्य होने से इन्द्रिय द्वारा दोषघटित दुष्कारणजन्यत्व का भी ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि–दुष्टकारणजन्यत्व का इन्द्रियजन्य ज्ञान भले न हो परन्तु आनुमानिकज्ञान तो हो ही सकता है, जैसे इसप्रकार का अनुमान हो सकता है कि जिसप्रकार की सामग्री से एक व्यक्ति को चन्द्रद्वय का ग्रहण होता है उसीप्रकार की सामग्री से अन्य व्यक्ति को चन्द्रद्वय का ग्रहण नहीं होता। इस से यह सिद्ध होता है कि चन्द्रद्वय का ज्ञान दुष्टकारणजन्य है।''–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस मनुष्य को चन्द्रद्वय का दर्शन होता है उस का नेत्र तिमिर रोग से ग्रस्त रहता है अतः उस के ज्ञान की सामग्री तिमिरदोष से घटित होती है और जिसे चन्द्रद्वय का ग्रहण नहीं होता उसका नेत्र तिमिरग्रस्त नहीं होता अतः उस की ज्ञानसामग्री तिमिरदोष से घटित नहीं होती। अत एव चन्द्रद्वय को देखनेवाले और चन्द्रद्वय को न देखकर एक चन्द्रमात्र को देखनेवाले मनुष्यों की ज्ञानसामग्री में समानता असिद्ध है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि–'चन्द्रद्वयदर्शन में मिथ्यात्व से दुष्टकारणजन्यत्व का अनुमान हो कर उस से उस ज्ञान का बाध होता है'–क्योंकि ऐसा मानने में अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। जैसे, मिथ्यात्व की सिद्धि होने पर दुष्टकारणजन्यत्व की सिद्धि होगी और दुष्टकारणजन्यत्व की सिद्धि होने पर मिथ्यात्व की सिद्धि होगी,। यदि यह कहा जाय कि-'चन्द्रद्वयज्ञान में विसंवादित्व से असत्यत्व का ज्ञान होता है और इस ज्ञान का होना ही उस का बाध है।''–तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि विसंवाद का अर्थ (i) यदि 'समानजातीयचन्द्रद्वय के ज्ञान की अनुत्पत्ति' माना जायगा तो वह असिद्ध है क्योंकि जब तक द्रष्टा के नेत्र में तिमिर रोग का सम्बन्ध रहता है तब तक चन्द्रद्वय के ज्ञान की उत्पत्ति होती रहती है। अतः चन्द्रद्वयज्ञान के समानजातीयज्ञान की अनुत्पत्ति असिद्ध है। (ii) यदि बाध्यज्ञान के विजातीयज्ञान की उत्पत्ति को विसंवाद मान कर उस ज्ञान से पूर्वज्ञान की असत्यता का अवधारण किया जायगा-तो स्तम्भादि ज्ञान भी चन्द्रद्वयज्ञान से विजातीय होने के कारण उस में भी विसंवादित्व का अतिप्रसंग होगा। फलतः स्तम्भादि के ज्ञान से भी चन्द्रद्वय के ज्ञान की असत्यता की सिद्धि की आपत्ति होगी। इन विचारों का निष्कर्ष यह फलित होता है कि नीलज्ञान और चन्द्रद्वयज्ञान में कुछ भी अन्तर नहीं है। अतः जैसे चन्द्रद्वय की सत्ता अनुपपन्न है उसीप्रकार विचारविषयीभूत नीलादिपदार्थ की भी सत्ता अनुपपन्न है।

न चैवं नीलादेर्भिन्नस्यानुपपत्तेरभेदस्य न्यायप्राप्तत्वाज्ज्ञानाद्वैतापत्तिः, न शून्यतेति वाच्यम्, नीलादेर्विचित्रस्य प्रतिभासे जगतोऽपि चित्रताप्राप्तेः; तदुक्तं–"किं स्यात्सा चित्रतैकस्याम्०" इत्यादि। न च नीलाद्यनुपरक्तं प्रकृतिपरिशुद्धज्योतिर्मात्रमेव तत्त्वमस्तु न शून्यतेति वाच्यम्, तथाभूतज्योतिर्मात्रस्य कदाचनाप्यप्रतिपत्तेः। 'नीलादेरवभासशून्यतापि न प्रतीयत' इति चेत् ? किं ततः ? न हि वयं प्रतिभासविरतिलक्षणां शून्यतां ब्रूमः, किन्तु प्रतिभासोपमत्वं सर्वधर्माणाम्। उक्तं च-"प्रतिभासोपमाः सर्वे धर्माः" इति। प्रतिभासश्च सर्वो भेदा-ऽभेदशून्यः। न हि नीलस्वरूपं सुखाद्यात्मना भिन्नमभिन्नं वाऽनुभूयते, अन्यापेक्षत्वात् तथानुभवस्य। न च भेदाऽवेदनमेवैकत्ववेदनम्, एकत्वाऽवेदनस्यैव भेदवेदनत्वप्रसङ्गात्।

एतेन 'प्रतिभासे सति कथं शून्यता ?' इत्यपास्तम्, 'तस्यैकानेकस्वभावाऽयोगतः शून्यता' इति प्रतिपादनात् । तदुक्तमाचार्येण–

"भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः ।
यस्मादेकमनेकं वा रूपं तेषां न विद्यते ॥१॥" इति ।

ततो बाह्यमाध्यात्मिकं वा रूपं न तत्त्वम्, स्थूल-परमाण्वादिरूपानुपपत्तेः, किन्तु सांवृतमेव । संवृतिश्च त्रिधा १. एकालोकसंवृतिर्मरीचिकादिषु जलभ्रान्तिरूपा, २. अपरा तत्त्वसंवृतिः सत्यनीलादिप्रतीतिरूपा, ३. अन्या चाभिसमयसंवृतिर्योगिप्रतिपत्तिरूपा, योगिप्रतिपत्तेरपि ग्राह्यग्राहकाकारतया प्रवृत्तेः, उक्तं च भगवद्भिः- "कतमत् संवृतिसत्त्वं यावल्लोकव्यवहारः" इति ।

[ज्ञानाद्वैत सिद्धि की आपत्ति का निराकरण]

इस पर यह शंका की जाय कि–यदि विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि नीलादि का ज्ञानमात्र होता है-ज्ञान से भिन्न नीलादि की उपपत्ति नहीं होती । तो नीलादि में ज्ञान का अभेद न्यायतः प्राप्त होता है । क्योंकि यह न्याय निर्विवाद है कि जो जिस से भिन्न नहीं सिद्ध होता वह उस से अभिन्न होता है । फलतः नीलादि में ज्ञान का अभेद होने से अद्वैत ज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है । अतः उक्त विचारों से भी माध्यमिक सम्मत शून्यता की सिद्धि नहीं हो सकती"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि नील-पीताद्यात्मक चित्रज्ञान की सत्ता स्वीकारने पर चित्रात्मक जगत् का भी अभ्युपगम न्यायप्राप्त होता है । क्योंकि उसमें कोई विनिगमना नहीं है कि ज्ञान तो चित्रात्मक हो और अर्थ चित्रात्मक न हो । अतः चित्रात्मक ज्ञान की भी सिद्धि न हो सकने से शून्यता का निराकरण नहीं हो सकता । जैसा कि माध्यमिक की एक कारिका में कहा गया है कि–'यदि एक अर्थ व्यक्ति में चित्रता के समान एक बुद्धि में भी चित्रता नहीं प्रमाणित होती तो मत हो । क्योंकि यदि वस्तु को यदि यही रुचिकर है कि वह चाहे ज्ञान हो चाहे अर्थ हो चित्रात्मक नहीं हो सकता तो उसमें हम क्या हस्तक्षेप कर सकते हैं !"–कहने का स्पष्ट आशय यह है कि युक्तिद्वारा न चित्रात्मक अर्थ की सिद्धि होती है और न चित्रात्मक ज्ञान की सिद्धि होती है । अतः शून्यता की सिद्धि अपरिहार्य है ।

[निर्मल ज्ञानज्योति की एकमात्र सत्ता अनुभव बाह्य]

यदि इस निष्कर्ष पर यह शंका की जाय कि नीलपीताद्यात्मक ज्ञान सिद्ध न होने पर भी यह तो सिद्ध हो सकता है कि नीलपीतादि से असंश्लिष्ट निसर्गतः निर्मल ज्योतिस्वरूप ज्ञानमात्र ही पारमार्थिक तत्त्व है । फलतः इस सिद्धि से भी शून्यता का बाध हो सकता है ।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार के ज्योति की कभी प्रतिपत्ति नहीं होती और जो वस्तु कभी प्रतिपत्ति का विषय नहीं होती उसे स्वीकार करना सम्भव नहीं है । यदि यह शंका की जाय कि–"नील-पीतादि अर्थों के अवभास की शून्यता की भी प्रतिपत्ति नहीं होती अतः शून्यता का भी अभ्युपगम नहीं हो सकता"-तो इस शंका से शून्यतावादी की कोई हानि नहीं है, क्योंकि शून्यतावादी नीलपीतादि अर्थों के प्रतिभासाभाव को शून्यता नहीं कहते किन्तु समस्त धर्मों के प्रतिभासोपमत्व को शून्यता कहते हैं । "सर्व शून्यात्मक है"–उन के इस कथन का आशय यह है कि समस्त धर्म प्रतिभास तुल्य-मायासदृश है । जैसा कि माध्यमिक आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि–'अशेष धर्म प्रतिभासोपम मायोपम होते हैं' ।

आशय यह है कि प्रतिभास सभी भेद और अभेद से शून्य होते हैं। जैसे, नीलप्रतिभास का सुखादि प्रतिभास से भिन्न अथवा अभिन्न रूप में अनुभव नहीं होता क्योंकि प्रतिभासों में भेद का अनुभव प्रतिभासमात्र विषयों में भेदसिद्धि के सापेक्ष है और अभेद का अनुभव प्रतिभासमान विषयों में अभेद सिद्धि सापेक्ष है। अतः नीलादि बाह्यार्थ में और सुखादि आन्तर अर्थ में भेद अथवा अभेद सिद्ध न होने से प्रतिभासमात्र को भेदाभेदशून्य मानना आवश्यक है। अतः जैसे प्रतिभास भेदाभेदशून्य है उसी प्रकार सभी धर्म भेदाभेदशून्य है। यही सर्वशून्यता का अर्थ है।

इस पर यदि यह कहा जाय कि-"नीलादिप्रतिभास में सुखादि प्रतिभास का अभेदानुभव नहीं होता-यह बात ठीक नहीं है क्योंकि उनमें भेद का अनुभव न होना ही अभेद का अनुभव है"-तो यह उचित नहीं है क्योंकि इस के विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि उन दोनों में एकत्व का अनुभव न होना ही उन दोनों में भेद का अनुभव है। अतः प्रतिभास में भिन्नता अथवा अभिन्नता के अनुभव का जो अभाव बताया गया-वह सर्वथा युक्तिसङ्गत है। इसीलिये-'प्रतिभास का अस्तित्व सिद्ध है अतः शून्यता कैसे प्रतिष्ठित हो सकती है ?' यह विरोध का कथन भी निरस्त हो जाता है क्योंकि प्रतिभास में एकत्व और अनेकत्वरूप स्वभाव का अभाव होने से ही शून्यता प्रतिष्ठित होती है। ऐसा शून्यवादी आचार्यों ने बताया है जैसा कि-आचार्य नागार्जुन की एक कारिका में स्पष्ट कहा गया है कि-'जिस रूप से भाव की प्रतीति होती है वह रूप उनका तात्त्विकरूप नहीं है क्योंकि वह रूप भाव से अभिन्न अथवा भिन्न रूप में सिद्ध नहीं हो पाता।' अतः बाह्य अथवा आध्यात्मिक अर्थात् नीलादि और सुखादि का जो रूप अवगत होता है वह तात्त्विकरूप नहीं है। क्योंकि स्थूल परमाणु विज्ञान आदि का स्वरूप विचार करने पर उपपन्न नहीं हो पाता। अतः जो भी बाह्य अथवा आध्यात्मिक-रूप प्रतीत होता है वह सब संवृतिमूलक होने से अतात्त्विक है। जिस संवृति से विभिन्नरूपों की प्रतीति होती है वह तीन प्रकार की होती है, १. एक लोकसंवृति-जो कि मरुप्रदेश में चमकनेवाले सूर्य के किरणपुञ्ज में मृगादि को होने वाली जल भ्रान्ति रूप है। २. दूसरी तत्त्वसंवृति जो लोक में सत्य मानी जानेवाली नीलादि अर्थ की प्रतीतिरूप है और ३. तीसरी अभिसमयसंवृति है जो योगीजनों को विभिन्न अर्थों की प्रतीति रूप होती है। क्योंकि योगी प्रतिपत्ति भी ग्राह्य और ग्राहक के आकार में प्रवृत्त होती है। आशय यह है कि उक्त सभी प्रतीति-जैसे मरुमरीचिका में जलभ्रान्ति एवं नीलादि की लौकिक प्रतीति और योगी को होने वाली ग्राह्य-ग्राहकाकार प्रतीति ये अपनी पूर्व पूर्व की समानाकार प्रतीति से उत्पन्न होती है। उसी प्रकार पूर्वपूर्व प्रतीति ही उत्तरोत्तर समानाकार प्रतीतिओं को उत्पादिका-संवृति कही जाती है। क्योंकि संवृति शब्द, करण अर्थ में संपूर्वक वृधातु से क्ति प्रत्यय से निष्पन्न होने के कारण उस अर्थ का बोधक होता है जिस से वस्तुतत्त्व का संवरण=अनवभास होता है। उक्त प्रतीतियाँ वस्तुतत्त्व का संवरण करती है इसीलिये वे संवृति शब्द से अभिहित होती हैं। और उन प्रतीतिओं में भासित होने वाले विषय सांवृत-काल्पनिक या असत् कहा जाता है। जैसा कि आचार्य भगवान् ने कहा कि उक्त संवृतिओं में किसी भी संवृति के विषय में तथ्य यह है कि जब तक लोकव्यवहार होता है तब तक उसकी सत्ता होती है। उनके मूलवाक्य में संवृतिसत्त्व के सम्बन्ध में 'कतमत्' शब्द का प्रयोग होने से संवृति के त्रैविध्य की सूचना होती है। बहुत में एक के बोधनार्थ ही तमप् प्रत्ययवाले ऐसे शब्द का प्रयोग होता है और वह बहुत्व संवृति की त्रित्व संख्या स्वीकार करने से उपपन्न होती है।

ततो मध्यमक्षणरूपा संविदेव सर्वधर्मरहिता परमार्थसतीति सिद्धम् । आह च–

"मध्यमा प्रतिपत् सैव, सैव धर्मनिरात्मता । भूतकोटिश्च सैवेयं तथ्यता सैव शून्यता ॥१॥" इति ।

सा चाविभागकल्पाप्यविद्यावशात् विभक्तरूपेव भासते, तदुक्तम्–

"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्य-ग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥१॥" इति ।

समस्ताविद्याविलये तु स्वच्छसंविन्मात्रमाभासते, तदुक्तम्–

"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।

ग्राह्य-ग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥१॥" इति ॥५६॥

[सर्वधर्मरहित मध्यमक्षणरूप संवित् की परमार्थ सत्ता]

इस प्रकार उक्त तर्कपूर्ण विचार और शून्यवादी आचार्यों के वचनों से यह सिद्ध है कि सम्पूर्ण धर्मों से रहित मध्यम क्षणरूपा एकानेक रूपों से अनिर्वचनीय संवित् ही परमार्थ सत् है । यही शून्यता है । जैसा कि नागार्जुन की एक कारिका से स्पष्ट है कि मध्यमाप्रतिपद् यानी मध्यम मार्ग, धर्म-नैरात्म्य, भूतकोटि यानी सत्य की पराकाष्ठा, तथ्यता और शून्यता सब एक ही तत्त्व है । अर्थात् ये सभी शब्द एक ही परमार्थ तत्त्व के बोधक हैं । उक्त शून्यता सर्वथा निर्विभाग है । किन्तु अविद्या-वश-अनादिकालप्रवृत्तभ्रमप्रवाहवश विभिन्नरूपवत् प्रतीति होती है । जैसा कि एक कारिका में कहा गया है कि–'बुद्धि अर्थात् समस्त धर्मों से शून्य मध्यमाप्रतिपद् आदि शब्दों से अभिहित संवित्रूप-शून्यता सर्वथा निर्विभाग होने पर भी विपर्यासग्रस्त चित्तवाले मनुष्य को ग्राह्य, गृहीता और ग्रहण (ज्ञान) इन भेदों से युक्त जैसी प्रतीत होती है ।' उक्त शून्यता के विषय में यह भी सिद्धान्त है कि समस्त अविद्या का विलय होने पर वह एकमात्र स्वच्छ संवित् रूप में प्रकाशित होती है । यह बात भी एक कारिका द्वारा प्रतिपादित की गई है-अनुभव में आनेवाली कोई वस्तुबुद्धि स्वच्छसंवित् रूप शून्यता से भिन्न नहीं है और विषय का अनुभव भी उससे भिन्न नहीं है क्योंकि ग्राह्य और ग्राहक का पृथक् अस्तित्व न होने से स्वच्छ संवित् रूप शून्यता ही स्वयं प्रकाशित होती है ॥ ५६ ॥

५७ वीं कारिका में शून्यवाद की उक्तरीति से प्रतिपादित स्थापना का निराकरण किया गया है–

एतन्निराकरणवार्तामाह–

मूलम्—अत्राप्यभिदधत्यन्ये किमित्थं तत्त्वसाधनम् ।

प्रमाणं विद्यते किञ्चिदाहोस्विच्छून्यमेव हि ॥५७॥

अत्रापि=शून्यतावादेऽपि, **अन्ये**=वादिनः अभिदधति यदुत-**किमित्थं तत्त्वसाधनं**=शून्यतातत्त्वसाधनम् किञ्चित् प्रमाणं-वस्तुसद् विद्यते, आहोस्वित् **शून्यमेव हि**=न विद्यते प्रमाणम् ? इत्यर्थः ॥५७॥

[माध्यमिक के शून्यवाद की समालोचना]

उक्त शून्यवाद के सम्बन्ध में अन्यवादियों का कहना है कि क्या इस प्रकार शून्यता तत्त्व का साधन सम्भव है ? इस प्रश्नात्मक संकेत का यह आशय है कि शून्यता का साधक कोई वास्तविक प्रमाण है ? अथवा अन्य सभी के समान वह भी शून्य ही है अर्थात् शून्यता का साधक कोई पारमार्थिक प्रमाण नहीं है ? ५८ वीं कारिका में उक्त दोनों पक्षों में दोष बताया गया है–

पक्षद्वये दोषमाह–

मूलम्—शून्यं चेत्सुस्थितं तत्त्वमस्ति चेच्छून्यता कथम् ? ।
तस्यैव ननु सद्भावादिति सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥ ५८ ॥

शून्यं चेत् शून्यतायां प्रमाणं तदा **सुस्थितं**=सम्यग् व्यवस्थितं तत्त्वम्, अवस्तुसता प्रमाणेन प्रमेयव्यवस्थितेरित्युपहासः । अस्ति चेत् प्रमाणं तत्साधकम् तदा कथं शून्यता **तस्यैव**= प्रमाणस्य सद्भावात्, तत्त्वरूपत्वात् सकलपदार्थाभावाऽसिद्धेः, इति सम्यग् विचिन्त्यतां माध्यस्थ्यमवलम्ब्य ॥ ५८ ॥

यदि शून्यतासाधक प्रमाण भी शून्य हो तब तो शून्यता तत्त्व की बडी अच्छी सिद्धि होगी ! अर्थात् यह एक उपहास की बात है कि प्रमाण के असत् होने पर भी प्रमेय की सिद्धि हो । तथा यदि शून्यता का साधक कोई प्रमाण विद्यमान है तो वह प्रमाण ही एक सत्यवस्तु सिद्ध हो जाता है अतः उस के रहते समस्त पदार्थ के अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है–यह माध्यमिक को भी मध्यस्थभाव से अर्थात् अपने मत में अभिनिवेश का परित्याग कर सोचना चाहिये ॥ ५८ ॥

५९ वीं कारिका में माध्यमिकों की इस आशंका का कि 'शून्यता प्रतीयमान अर्थों से विलक्षण किसी वस्तुरूप में प्रतिभासित नहीं होती अतः उस में प्रमाण का अन्वेषण निष्फल है किन्तु समस्त-धर्म की प्रतिभासतुल्यता ही शून्यता है'–इस का उत्तर दिया गया है–

अथ न शून्यता नाम काचित् विविक्ता प्रतिभासते यस्यां प्रमाणान्वेषणं फलवत् स्यात्, किन्तु प्रतिभासौपमत्वं सर्वधर्माणामित्याशङ्क्याह–

मूलम्—प्रमाणमन्तरेणापि स्यादेवं तत्त्वसंस्थितिः ।
अन्यथा नेति सुव्यक्तमिदमीश्वरचेष्टितम् ॥ ५९ ॥

प्रमाणमन्तरेणापि=विनापि व्यवस्थापकम् **एवं तत्त्वसंस्थितिः**=सर्वधर्माणां मायोपमत्वव्यवस्थितिः स्यात्, **अन्यथा**–अनुभूयमानानन्तधर्मात्मकत्वे च,न स्याद् व्यवस्थितिः। **इदमीश्वरचेष्टितम्**=स्वतन्त्राज्ञामात्रम् । सर्वधर्मराहित्येऽपि मानमवश्यमन्वेषणीयमिति भावः ॥५९॥

'प्रमाण के बिना भी समस्त पदार्थों में मायोपमत्व की सिद्धि हो सकती है और समस्त पदार्थों में अनन्तधर्मात्मकता का अनुभव होने पर भी सिद्धि नहीं हो सकती'–यह निर्णय ईश्वर की केवल निराधार आज्ञा ही कही जा सकती है । किन्तु किसी में ऐसा सामर्थ्य नहीं है जिसकी केवल आज्ञा से ही वस्तु का कोई तात्त्विक या अतात्त्विक रूप सिद्ध हो सके । अतः परमार्थसद् वस्तु समस्त धर्मों से रहित होने में भी प्रमाण का अन्वेषण आवश्यक है ॥५९॥

६० वीं कारिका में उक्त कथन के विरुद्ध बौद्ध के अभिप्राय को प्रस्तुत कर उसका निराकरण किया गया है –

पराशयमाशङ्क्य निराकुरुते–

मूलम्—उक्तं विहाय मानं चेच्छून्यतान्यस्य वस्तुनः ।
शून्यत्वे प्रतिपाद्यस्य ननु व्यर्थः परिश्रमः ॥६०॥

उक्तं शून्यतासाधकं मानं विहाय चेद्=यद्यन्यस्य वस्तुनः शून्यता, मानं पुनरशून्यमेवेति न दोष इति भावः, तदा प्रतिपाद्यस्य=यमुद्दिश्य शून्यतासाधकं मानं प्रयुज्यते तस्य, शून्यत्वे व्यर्थः परिश्रमः प्रकृतप्रयोगस्य, अन्यथा शशशृङ्गमुद्दिश्याप्येतत्प्रयोगं किं न कुरुषे ? । तथा च सुष्ठूक्तं भट्टेन–"सर्वदा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्तते ।

अधिकारोऽनुपायत्वाद् न वादे शून्यवादिनः ॥१॥" इति ॥ ६० ॥

यदि माध्यमिक की ओर से यह कहा जाय कि–"सर्वशून्यता का अर्थ है–शून्यतासाधक प्रमाण को छोड कर अन्य समस्त वस्तुओं की शून्यता । अतः शून्यतासाधक प्रमाण के अशून्य होने पर भी कोई दोष नहीं है"–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाण के समान ही प्रतिपाद्य पुरुष के विषय में भी माध्यमिक को यह मानना होगा कि जिस पुरुष के प्रति शून्यतासाधक प्रमाण का प्रयोग होता है वह भी अशून्य है, क्योंकि उसके शून्य होने पर शून्यतासाधक प्रमाण के प्रयोग का परिश्रम व्यर्थ होगा । यदि असत् प्रतिपाद्य के प्रति भी शून्यतासाधक अनुमानप्रयोग किया जाय तो–'शशशृङ्गादि के प्रति भी माध्यमिक बौद्ध शून्यता के साधक प्रमाण का प्रयोग क्यों नहीं करते ?' इस प्रश्न का उनकी ओर से कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता । इस सम्बन्ध में कुमारिलभट्ट ने यह ठीक ही कहा है कि–जिनके मत में अपने अभिमतपक्ष के साधक उपायों का अस्तित्व है उन्हीं के बीच वाद कथा हो सकती है । शून्यवादी के पास अपने पक्ष का साधक उपाय न होने से वह वाद के लिये अधिकारी ही नहीं हो सकता [श्लो०वा० सूत्र ५-निरालम्बनवादे श्लो० १२८] ॥६०॥

६१ वीं कारिका में प्रतिपाद्य पुरुष को अशून्य मानने पर माध्यमिकमत में दोष बताया है––

तदशून्यतायां दोषमाह–

मूलम्—तस्याप्यशून्यतायां च प्राश्निकानां बहुत्वतः ।
प्रभूताऽशून्यतापत्तिरनिष्टा संप्रसज्यते ॥ ६१ ॥

तस्यापि=प्रतिपाद्यस्यापि, अशून्यतायामभ्युपगम्यमानायाम्, **प्राश्निकानां**=पर्यनुयोक्तृणाम्, **बहुत्वतः**=बाहुल्यात्, **प्रभूताऽशून्यतापत्तिः**=बहूनां तात्त्विकतापत्तिः, अनिष्टा तव **संप्रसज्यते**=बलादापतति ॥६१॥

यदि माध्यमिकवादी प्रमाण के समान प्रतिपाद्य पुरुष की भी अशून्यता स्वीकार करेगा तो प्रश्नकर्ताओं के बाहुल्य से बहुतों के अशून्यता की आपत्ति होगी, अर्थात् बहुतों को तात्त्विक मानना पड़ेगा, जो माध्यमिक को अनिष्ट है ॥६१॥

६२ वीं कारिका में पूर्वकारिका में उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है–

इदमेव स्पष्टयति––

मूलम्—यावतामस्ति तन्मानं प्रतिपाद्यास्तथा च ये ।
सन्ति ते सर्व एवेति प्रभूतानामशून्यता ॥ ६२ ॥

यावतां प्रमातृणामस्ति **तन्मानं**=शून्यतासाधकं प्रमाणम्, तथा ये प्रतिपाद्यास्ते सर्वे एव सन्ति परमार्थतो, न तु शून्याः, इति हेतोः, प्रभूतानामशून्यतेति । ननु य एव

परिशीलितसुगतश्रुतोपनिषद्दलितनिखिलाविद्याकलंकः, स एवाऽशून्यः, तस्यैव च निर्धर्मकसंविन्मात्रं मानमशून्यं, परमार्थसत्त्वात्, इतरेषां तु वादि-प्रतिवादिप्राश्निकानां व्यवहारत एव सत्त्वम्। तत एव च साध्य-साधन-दृष्टान्तादिभेदेनोक्तप्रपञ्चाऽसत्यतानुमानसंभवः, तदुक्तमाचार्येण–"सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारः सांवृतः" इत्यादीति चेत्? न, तव तत्त्वज्ञानिनः शून्यतानुभवस्य त्वयैव [१ तवैव] श्रद्धाविषयत्वात्। अनुमानेन च प्रागुक्तेन न नीलादिज्ञाने द्विचन्द्रादिज्ञानतुल्यमसत्यत्वं साधयितुं शक्यम्, बाध्यत्वाऽबाध्यत्वाभ्यामुभयवैलक्षण्यात्। न च बाध्यबाधकभावो निराकृत एवेति वाच्यम्, व्यवहारसिद्धस्य तस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, बाधकेन ज्ञानस्य, स्वरूपस्य, विषयस्य, फलस्य आऽबाधेऽपि बाध्यज्ञानेऽप्रामाण्यज्ञापनात्, तदुक्तं सूरिणा–"किन्तु ज्ञानस्यासद्विषयत्वम्, अर्थस्य चासत्प्रतिभासनं तेन ज्ञाप्यते" इति। अत्र ज्ञानस्यासद्विषयत्वं तदभाववति तत्प्रकारकत्वम्, अर्थस्यासत्प्रतिभासनं च स्वाभाववद्विशेष्यकज्ञानप्रकारत्वम्, तथाभानं च तदभावस्फूर्त्या मानसाध्यवोहादिना दीर्घाध्यवसायिनेति तत्त्वम्।

जितने प्रमाताओं को शून्यतासाधक प्रमाण का अस्तित्व मान्य होगा और जितने पुरुषों के प्रति उस प्रमाण का प्रयोग होगा वे सब परमार्थ सत् होंगे, शून्य नहीं हो सकते। इस कारण बहुतों को अशून्यता प्रसक्त होगी।

[एक ही तत्त्वज्ञानी को अशून्य बताना युक्तिशून्य है]

यदि माध्यमिक की ओर से यह कहा जाय कि–"अनेक प्रमाता-प्रतिपादक पुरुषों को अशून्य मानना अनावश्यक है। अशून्य एकमात्र वही व्यक्ति है जिसका संपूर्ण अविद्या कलंक सुगत-बुद्ध से प्राप्त तत्त्वविद्या के परिशीलन से निर्मूल हो चुका है और उसी का सर्वधर्मों से रहित एकमात्र संविद् रूप प्रमाण ही अशून्य है क्योंकि वही परमार्थ सत् है। उससे अन्य वादी-प्रतिवादी प्राश्निकादि की केवल व्यावहारिक सत्ता है। और साध्य-साधन और दृष्टान्तादि में भेद भी व्यावहारिक ही सत् है। अतः प्रपञ्च में असत्यता के साधक उक्त अनुमान का प्रयोग निर्बाध रूप से सम्भव है। जैसा कि आचार्य ने कहा है–अनुमान-अनुमेय का समस्त व्यवहार ही संवृतिमूलक है।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे तत्त्वज्ञानी और उसके शून्यता तत्त्व के अनुभव की सत्ता माध्यमिक की केवल श्रद्धा का ही विषय है, उसमें कोई प्रमाण नहीं है। जिसमें कोई प्रमाण न हो उसे किसी की श्रद्धा के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः पूर्वोक्त अनुमान से नीलादि पदार्थों के ज्ञान में चन्द्रद्वयादि के ज्ञान के समान असत्यता का साधन नहीं हो सकता क्योंकि चन्द्रद्वयादि का ज्ञान बाध्य है और नीलादि का ज्ञान अबाध्य है-अतः दोनों में वैलक्षण्य है। इसके विरुद्ध यह कहना सम्भव नहीं है कि–'बाध्य-बाधक भाव का युक्तिपूर्वक निराकरण किया जा चुका है अतः बाध्यत्व-अबाध्यत्व के आधार पर उन ज्ञानों को विलक्षण बताना सम्भव नहीं है-' क्योंकि बाध्य-बाधकभाव व्यवहार सिद्ध है, अतः उसका निराकरण अशक्य है। बाधक ज्ञान से ज्ञान का, उसके स्वरूप का, विषय का और फल का बाधन होने पर भी बाध्यज्ञान में अप्रामाण्य का ज्ञापन हो सकता है। जैसा कि सूरि ने कहा है कि ज्ञान में असद्विषयकत्व यानी बाधक ज्ञान से बाध्यज्ञान में असद्विषयत्व और अर्थ में, असत् होते हुये

भी प्रतिभासमानता का ज्ञापन होता है।' ज्ञान में असद्विषयकत्व का अर्थ है 'तदभाववद्विशेष्यक तत्प्रकारकत्व'- अर्थात् जिस अर्थ में जिस धर्म का अभाव है उस अर्थ में उस धर्म का प्रकार रूप से (विशेषणरूप से) अवगाहन करना। तथा अर्थ के असद् प्रतिभासन का तात्पर्य यह है स्वाभाववद् विशेष्यक ज्ञानप्रकारत्व अर्थात् जिस (भूतलादि) वस्तु में जिस अर्थ का अभाव है, उस भूतलादि को विशेष्यरूप से ग्रहण करने वाले ज्ञान में उस अर्थ का प्रकार रूप में भासित होना। उसका भान अर्थात् प्रकारविधया भासित होने वाले अर्थ के अभाव की स्फूर्ति यह इस प्रकार संपन्न होता है कि प्रतियोगीज्ञान और अभावज्ञान में हेतु-हेतुमद्भाव होने से प्रतियोगीज्ञान होने पर उसके अभाव की बुद्धि होने पर मानसाध्यक्ष तथा विशेष्यविधया भासित होने वाले पदार्थ के सम्बन्ध में ऊहादि से धर्मीभूत अर्थ के दीर्घकालस्थायी अध्यवसाय से सम्पन्न होता है।

कहने का आशय यह है कि यद्यपि 'बाध्यज्ञान जिस धर्मी में जिस धर्म को प्रकारविधया ग्रहण करता है उस धर्मी में उसके अभाव का ज्ञान उस समय सम्भव नहीं है क्योंकि जिस ज्ञान में जिस वस्तु में जो अर्थ जिस समय प्रकाररूप में भासित होता है वह ज्ञान ही उस वस्तु में उस अर्थ के अभाव ज्ञान का विरोधी होता है। अतः उस समय धर्मीभूत वस्तु में प्रकारीभूत अर्थ के अभाव का ज्ञान न होने से, ज्ञान में तदभाववद्विशेष्यकत्वविशिष्ट तत्प्रकारकत्व और अर्थ में स्वाभाववद्विशेष्यक-ज्ञानप्रकारत्व का ज्ञान दुर्घट है,' तथापि यदि धर्मीभूतवस्तु का दीर्घकाल तक अध्यवसाय होता है तो जिस धर्मीभूत वस्तु में जिस अर्थ का ज्ञान हुआ है उस अर्थ के प्रतियोगीज्ञानरूप कारण से उस अर्थ के अभाव की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। और वस्तुतः धर्मीभूत वस्तु में प्रकारविधया भासित होनेवाले अर्थ का अभाव होने से मानस अध्यक्ष द्वारा उस वस्तु में उस अर्थ के अभाव का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि यह मानसाध्यक्ष सद्विषयक होने से असद्विषयक बाध्यज्ञान से प्रतिरुद्ध नहीं होता। अथवा धर्मीभूत वस्तु के विषय में ऊह यानी अन्यान्य उपायों से उस वस्तु को देखने पर, प्रकारविधया भासमान अर्थ के अभाव का जो कि उस वस्तु में विद्यमान है-ज्ञान हो जाता है। अतः जिस धर्मीभूतवस्तु में जिस अर्थ का प्रकारविधया जो ज्ञान होता है उसके रहते भी धर्मीभूत वस्तु में उस अर्थ के अभाव का ज्ञान हो जाने से उस ज्ञान में तदभाववद्विशेष्यकत्वविशिष्ट तत्प्रकारकत्व का और उस अर्थ में स्वाभाववद्विशेष्यकज्ञानप्रकारत्व का ज्ञान सुघट हो जाता है।

कथं च बाध्यबाधकभावानभ्युपगमे स्कन्ध-संतानादिविकल्पानां निर्विषयत्वोपवर्णनं युक्तिमत् स्यात् ? कथं वा बाध्यबाधकभावप्रतिषेधविधायियुक्त्युपन्यासो न व्यर्थः स्यात् ?, समारोपव्यवच्छेदार्थं तदुपन्यासे तद्व्यवच्छेदस्य स्वरूपापहाररूपत्वे बाध्यबाधकभावोपगमप्रसङ्गात्, उदयकाल एव तदपहारे तदर्थं शास्त्रप्रणयनानुपपत्तेश्च।

[बाध्यबाधकभाव के अस्वीकार में युक्तिशून्यता]

यह भी विचारणीय है कि बाध्यबाधकभाव न मानने पर स्कन्धसन्तानादि ज्ञानों में निर्विषयकत्व का प्रतिपादन भी कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ? और बाध्यबाधकभाव के प्रतिषेधक युक्ति का प्रयोग भी क्यों व्यर्थ नहीं होगा ? यदि इस के उपन्यास का प्रयोजन समारोप का व्यवच्छेद माना जाय तो व्यवच्छेद स्वरूपापहार रूप होने से बाध्य-बाधकभाव अनिवार्यरूप से स्वीकार्य हो जाता है। भावमात्र के क्षणिकत्वपक्ष में समारोप के उदयकाल में ही समारोप का स्वरूपापहार हो जाने से समारोप के व्यवच्छेद के लिये शास्त्ररचना भी अनुपपन्न होगी।

अथ शास्त्रादेः प्राक्तनसमारोपक्षणादुत्तरसमारोपक्षणजननाऽसमर्थः क्षणः समुपजायत इति तन्निवृत्तिः, तर्हि बाधकाद् बाध्यनिवृत्तिरपि तथैव संपत्स्यत इति न तन्निराकरणं युक्तम्। 'ईदृशं बाध्यत्वमेव फलतो नीलादिज्ञाने साध्यते' इति चेत् ? न, प्रत्यक्षबाधात्। न हि द्विचन्द्रादिज्ञान इव सत्यनीलादिज्ञानेऽवतरति कस्यापि बाध इति। अथ द्विचन्द्रादौ बाधोऽपि लोकाभिमत एव, तत्र लोकसंवृतिसिद्धं सत्त्वम् इति लोकानां सत्त्वाभिमानः, इति परमार्थतोऽसत्त्वं तत्र शास्त्रेण ज्ञाप्यते। एवं च नीलादौ परमार्थाऽसत्त्वसाधने लोकबाध्यत्वाभावेऽपि न दोषः, 'प्रकाशस्य प्रकाशता' इत्यत्र लोकसिद्धस्यापि भेदस्य 'नीलादीनां स्वभावः' इत्यत्र चाभेदस्य विचाराऽसहत्वेन परमार्थतोऽसत्त्वादिति चेत् ? न, लोकसिद्धस्य साध्यस्य साधने लोकसिद्धस्य बाधस्य दोषत्वात्, अलौकिकस्य च साध्यस्याऽप्रसिद्धेः।–'परमार्थसत्त्वज्ञानं नास्त्येव नीलादौ लोकानाम्, सत्त्वमात्रमेव हि तैस्तत्रानुभूयते, तच्च न प्रकृतबाधकम्, घटज्ञानेऽपि नीलघटाभावज्ञानवत् सत्त्वज्ञानेऽपि परमार्थसत्त्वाभावज्ञानोपपत्तेरिति'--चेत् ? तर्हि द्विचन्द्रादावप्यसत्त्वमात्रमनुभूयते, न तु परमार्थतोऽसत्त्वम्, इति क्व साध्यसिद्धिः ?।

किञ्च, सकलशून्यतापक्षस्य यथा स्वप्नेऽप्यप्रत्ययेन निरासः, तथा स्वच्छसंविदतिरिक्तशून्यतापक्षस्य द्रष्टव्यः, मध्यमक्षणस्थायिनः संविन्मात्रस्य कदाप्यनुपलम्भात्, स्वपरव्यवसायिन एव ज्ञानस्य स्फुटमुपलम्भात्। न चानुपलब्धप्रत्ययेनोपलब्धप्रत्ययबाधा सुघटा, अतिप्रसङ्गात्। न चासतां नीलाद्याकाराणां परिस्फुरणं न तु तुरङ्गशृङ्गादीनामित्यत्र बीजमस्ति। न च निर्धर्मके संविन्मात्रे क्षणिकत्वादिधर्मोऽपि घटते। इति वासनामात्रमेतत् परेषाम्। तस्माद् यथानुभवमेकानेकस्वरूपमेव वस्तु श्रद्धेयम्, तत्र विरोधस्य निरस्तत्वात्, निरसिष्यमाणत्वाच्चेत्यवसेयम् ॥ ६२ ॥

सौगत ! प्रणयिनीव नितान्तं शून्यता तव न मुञ्चति चित्तम्।
प्राज्ञपर्षदि न कश्चन हर्षस्तेन शून्यहृदयस्य तवास्ति ॥ १ ॥
मुग्धमाध्यमिक ! मध्यमसंवित् किं सता बत समाश्रयणीया।
उत्तमां सुविदितामिह चित्रां तामनाप्य न हताश ! हतः किम् ? ॥ २ ॥

[शास्त्रसार्थकता उपपत्ति का माध्यमिक प्रयास व्यर्थ है]

यदि यह कहा जाय कि–"शास्त्ररचना की निरर्थकता नहीं हो सकती क्योंकि शास्त्र से, पूर्ववर्त्ती समारोपक्षण से उत्तरकालिकसमारोपक्षण के उत्पादन में असमर्थ क्षण की उत्पत्ति होती है। इस तत्त्वज्ञानात्मक क्षणकाल में पूर्ववर्ती समारोपक्षण का सजातीय समारोपक्षण परस्परविरुद्ध होने के कारण नहीं उत्पन्न हो पाता और इस क्षण से व्यवहित हो जाने से इस से इस क्षण के उत्तरकाल में भी समारोपक्षण की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार शास्त्र से समारोप की निवृत्ति सिद्ध होती है।"–तो यह कहना भी वादी के अभिमत का साधक नहीं हो सकता क्योंकि उसी रीति

से बाधकज्ञान से बाध्यज्ञान की निवृत्ति भी सम्भव हो सकने से बाध्य-बाधकभाव का निराकरण अयुक्त है। यदि यह कहा जाय कि–'नीलादिज्ञान में भी सर्वशून्यताज्ञान से फलतः 'तदभाववद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकत्व' रूप असद्विषयकत्व का ही साधन होता है'–तो यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि लोकदृष्टि से नीलादिज्ञान में सद्विषयकत्व होने के कारण असद्विषयकत्व का प्रत्यक्षबाध है। क्योंकि जैसे चन्द्रद्वय के ज्ञान का लोकाभिमत बाध होता है उस प्रकार लोकदृष्टि से सत्य माने जाने-वाले नीलादिविषयक ज्ञान का कोई लोकसिद्ध बाध नहीं होता।

इस के विरुद्ध यदि यह कहा जाय कि–'यद्यपि यह सत्य है कि द्विचन्द्रादि का बाध लोकाभिमत ही है और उस बाध में लोकसंवृति-तत्त्वसंवृतिसिद्ध सत्ता है इसलिये उस में लोक को सत्त्व का अभिमान होता है तथापि शास्त्र से उसमें पारमार्थिक सत्त्व के अभाव का ज्ञापन होता है-उसी प्रकार नीलादि तथा नीलादिज्ञान में लोकबाध्यत्व न होने पर भी परमार्थ सत्त्व के अभाव का साधन करने में कोई दोष नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे 'प्रकाशस्य प्रकाशता यानी प्रकाश की प्रकाशरूपता' और 'नीलादीनां स्वभावः=नीलादि का स्वभाव' इन व्यवहारों में लोकसिद्ध भी भेद युक्तिसह न होने से परमार्थ से उसका अभाव होता है उसी प्रकार नीलादि भी युक्तिसह न होने से उनके परमार्थसत्त्व का अभाव हो सकता है''–किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि लोकसिद्ध साध्य का साधन करने में लोकसिद्ध बाध का दोष होना अनिवार्य है। नीलादि में जो असत्त्व साधनीय है वह अन्यत्र शशविषाणादि में लोकसिद्ध है अतः उसका अनुमान करने पर नीलादि का लोकसिद्ध सत्त्व एवं नीलाविज्ञान का लोकसिद्ध सद्विषयकत्व बाधक हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि–' नीलादि और उस के ज्ञान में जो असत्त्व तथा असद्विषयकत्व साधनीय है वह लौकिक न होकर अलौकिक है अतः उस में लोकसिद्ध बाध दोष नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अलौकिक साध्य अप्रसिद्ध है।

यदि यह कहा जाय कि–"नीलादि में लोक को परमार्थ सत्त्व का ज्ञान नहीं होता है किन्तु उसमें लोक को सत्त्व मात्र का ही अनुभव होता है और सत्त्व का अनुभव परमार्थसत्त्व के अभाव साधन में बाधक नहीं हो सकता क्योंकि जैसे भूतलादि में घटप्रकारक ज्ञान होने पर भी नीलघटाभावप्रकारक ज्ञान होता है उसी प्रकार नीलादि में सामान्यरूप से सत्त्व का ज्ञान होने पर भी परमार्थसत्त्व के अभाव का ज्ञान हो सकता है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि द्विचन्द्रादि में भी लोक को असत्त्वमात्र का ही अनुभव होता है। परमार्थसत्त्वाभाव का अनुभव नहीं होता। अतः परमार्थसत्त्वाभाव कहीं सिद्ध नहीं है, अत एव साध्याऽप्रसिद्धि दोष होने से नीलादि में परमार्थसत्त्वाभाव का साधन नहीं हो सकता।

इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि–जैसे सर्वशून्यतापक्ष की स्वप्न में भी प्रतीति न होने से उसका निरास होता है उसी प्रकार स्वच्छसंविद् से भिन्न सर्वशून्यतापक्ष का भी निराकरण समझना चाहिये क्योंकि मध्यमक्षणस्थायी अर्थात् ग्राह्य तथा ग्राहक न होने से ग्राह्यक्षण और ग्राहकक्षण के मध्यमक्षण में स्थायी अर्थात् ग्राह्यग्राहकाकारविनिर्मुक्त ऐसे स्वच्छसंविद् मात्र का कभी उपलम्भ नहीं होता। क्योंकि स्वपरव्यवसायी ज्ञान का ही स्पष्ट उपलम्भ होता है, अर्थात् जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह स्वस्वरूप और स्वभिन्न का बोधक होने से ग्राह्यग्राहक उभयाकार ही होता है। जो प्रत्यय अनुपलब्ध-असिद्ध है उससे उपलब्ध यानी सिद्ध प्रत्यय का बाध सुघट नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसङ्ग होगा। अर्थात् शुक्ति में रजतभेदज्ञान अनुपजात रहने पर भी शुक्ति में रजतज्ञान का बाधक होगा, क्योंकि अनुपजातदशा में वह अनुपलब्ध प्रत्ययरूप है।

यह भी विचारणीय है कि जब नीलादि अर्थ और अश्वशृंगादि समानरूप से असत् है तो उन में नीलादि का स्फुरण हो और अश्वशृंगादि का न हो इसका कोई उचित कारण नहीं है। दूसरी बात यह है-यदि विश्व केवल संविद्‌रूप यानी ज्ञानमात्रात्मक है तो निश्चितरूप से वह निर्धर्मक है, अतः उस में क्षणिकत्व धर्म बताना भी अयुक्त होगा। इसलिये स्वच्छ संवित्‌मात्र की ही परमार्थ सत्ता है और वह भी क्षणिक है यह बौद्धों का केवल वासनामात्र है, उसमें कोई युक्ति अथवा प्रमाण नहीं है। अतः उचित यह है कि लोकानुभव के अनुसार वस्तु एकानेकात्मक है-इस सिद्धान्त पर ही श्रद्धा करनी चाहिये। क्योंकि एक वस्तु में एकत्व अनेकत्वादि के विरोध का निराकरण किया जा चुका है और आगे भी किया जाने वाला है।

व्याख्याकार ने माध्यमिक के साथ अब तक की चर्चा का यह कहते हुये उपसंहार किया है कि 'शून्यता ने प्रेमिका के समान माध्यमिक के चित्त को पूर्णरूप से अपने स्वाधीन कर लिया है-वह इसकी पकड से निकल नहीं पाता। अतः माध्यमिक शून्य हृदय हो जाने से विद्वानों के साथ विचारगोष्ठी में [उसके मुँह पर] कोई प्रसन्नता नहीं दीखती। खेद है कि माध्यमिक ने सत् [=सज्जन] होते हुये भी मुग्धतावश मध्यमासंवित् का समाश्रयण क्यों किया है और सुप्रसिद्ध चित्रस्वरूप उत्तमा संविद् को उपलब्ध न कर सकने के कारण हताश और पीडित क्यों नहीं होता ?॥६२॥

अस्य विषयविभागमभिधित्सयाह—

एवं च शून्यवादोऽपि तद्विनेयानुगुण्यतः। अभिप्रायत इत्युक्तो लक्ष्यते तत्त्ववेदिना॥६३

एवं च=उक्तरीत्याऽघटमानत्वे चेत्यर्थः, शून्यवादोऽपि, **तद्विनेयानुगुण्यतः**=शून्यताविषयविभागावधारणप्रवणशिष्यहितानुरोधात्, **तत्त्ववेदिना**=बुद्धेन, **अभिप्रायतः**=तत्प्रयोजनाभिप्रायात् उक्तः, न तु तत्त्वाभिधित्सया, इति **लक्ष्यते**=संभाव्यते। विना तूपकारकं कारणं द्रव्यमृषाभाषित्वे बुद्धस्यानाप्तत्वप्रसङ्गादिति ॥६३॥ पूर्णा सुगतसुतमतवार्ता।

शून्यवाद जब उक्त रीति से उपपन्न नहीं होता तो यही मानना उचित होगा कि तत्त्वदर्शी बुद्ध ने शून्यता के विषयविभाग अर्थात्-शून्यवाद के विषयविभाग-वास्तवाभिप्राय को समझने में कुशल शिष्यों के हित के विचार से शून्यवाद का इस तात्पर्य से उपदेश दिया है कि जिस से वे सांसारिक विषयों में आसक्त न हो। शून्यता की देशना में निश्चय ही उनका यही तात्पर्य सम्भव प्रतीत होता है, न कि 'शून्यता ही वस्तुतत्त्व है' इस प्रतिपादन के अभिप्राय से, क्योंकि लोककल्याण की भावना के बिना द्रव्याऽसत्य का वक्तृत्व मानने पर उन में अनाप्तत्व की आपत्ति हो सकती है ॥६३॥

'यस्यासन्०' यह श्लोक और उसका अर्थ पूर्वस्तबकवत् यहाँ समझ लेना। तदुपरांत एक श्लोक इस स्तबक की समाप्ति में अधिक उपलब्ध होता है जो बहुत सुन्दर है—

असौ ममोच्चैरियता कृतार्थः सन्तोऽत्र संतोषभृतो यदस्मात्।
खलैः किमस्मिन्, भ्रमरस्य भोग्यं सौभाग्यमब्जस्य न वायसस्य॥

भावार्थ—हमारे इस ग्रन्थ को देखकर सज्जनवृंद प्रसन्न हुए हैं, इतने से ही मेरा परिश्रम सफल है। हां, दुष्टपुरुषों का मुझे क्या प्रयोजन ! अरविंद के भोग का सौभाग्य मधुकर का ही होता है, कौआ का कभी नहीं होता।

स्तबक ६—समाप्त